श्रीवाल्लभग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक
डॉ० केदारनाथ मिश्र
मालवीय प्रोफेसर् तुलनात्मक धर्म
भूतपूर्व अध्यक्ष : दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रकाशक
आनन्द प्रकाशन संस्थान
वाराणसी–२२१००५

VIDVANMAṆḌANA-SAMĪKṢĀ (HINDI)
(A Critical Study of the VIDVANMAṆḌANAM
of GOSVĀMĪ VIṬṬHALANĀTHA)

by :

Dr. KEDAR NATH MISHRA
Mālavīya Professor of Comparative Religion
Formerly Head of the Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University
Varanasi–221005 (India)

@ **Author**

First Edition : 1996

ANAND PRAKASHAN SANSTHAN
Sneh-Sadan, B. 31/41 A-4
South of Sankatmochan Temple
Varanasi–221005 (India)
Telephone No. 0542–312228

विद्वन्मण्डन-समीक्षा

लेखक
डॉ० केदारनाथ मिश्र
मालवीय प्रोफेसर् तुलनात्मक धर्म
भूतपूर्व अध्यक्ष : दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रकाशक
आनन्द प्रकाशन संस्थान
वाराणसी-२२१००५ (भारत)

प्रकाशक :

आनन्द प्रकाशन संस्थान
स्नेह-सदन, बी. ३१/४१ ए-४
सङ्कटमोचन मन्दिर के दक्षिण
वाराणसी–२२१००५ (भारत)
टेलीफोन नं० : ०५४२–३१२२२८

© लेखक

प्रथम संस्करण : १९९६ ई०

मुद्रक :

महेन्द्र कुमार, सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस
S. 1/208 K–1, नईबस्ती पाण्डेयपुर, सारनाथ रोड
वाराणसी–२२१००२
टेलीफोन नं० : ०५४२–३८५४३२

पुरोवाक्

वेदान्त-विचारकी परम्परामें जिन विभिन्न सम्प्रदायोंका विकास हुआ उनमें श्रीवल्लभाचार्य एवं उनके सुयोग्य पुत्र गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ द्वारा प्रतिष्ठापित शुद्धाद्वैत-वेदान्त एवं पुष्टिमार्गके नामसे प्रसिद्ध सम्प्रदाय अन्यतम है। विगत पाँच सौ वर्षोंसे इसके प्रतिपादक पण्डित प्रौढ संस्कृत ग्रन्थोंकी रचना द्वारा इसके साहित्यको निरन्तर समृद्ध करते आ रहे हैं। यद्यपि इस सिद्धान्तको अपना जीवन-दर्शन मानकर व्यवहारमें अनूदित करनेवालोंकी संख्या आज भी करोड़ोंमें है तथापि विभिन्न कारणोंसे इसके उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन विरल हो गया है। अधिकांश विद्वान् इसके शताधिक संस्कृत ग्रन्थों एवं गुजराती भाषाकी अनेक कृतियों के समृद्ध साहित्यसे सुपरिचित नहीं हैं। इस सम्प्रदायके मूलस्वरूपका प्रामाणिक ज्ञान कुछ इने-गिने लोगों तक ही सीमित है, किन्तु एतद्विषयक अज्ञान एवं अन्यथाज्ञान व्यापक है। यह कहना सम्भवतः अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और गुजराती भाषाओंमें लिखे गये इस सम्प्रदायके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों तथा इसकी ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक परम्परा का आधुनिक दृष्टिसे गम्भीर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन अभी प्रारम्भिक स्थितिमें ही है। इस वेदान्त-सम्प्रदायके साहित्यके दीर्घकालिक अध्ययन-अध्यापनसे मेरी यह धारणा बनी है कि इसका गम्भीर दार्शनिक विवेचन एवं मूल्याङ्कन करनेके लिए, गो० श्रीविट्ठलनाथ द्वारा शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद एवं पुष्टि-मार्ग के प्रतिपादनार्थ लिखे गये,'खण्डनखण्डखाद्य' एवं 'शतदूषणी'की परम्पराको आगे बढ़ानेवाले महत्त्वपूर्ण वादग्रन्थ 'विद्वन्मण्डनम्'का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन—जो अभी तक उपेक्षित ही रहा है—सर्वोत्तम मार्ग है और यही प्रकृत कृतिके प्रणयनमें मेरी प्रवृत्ति-का प्रमुख हेतु है। इसे मूलतः 'गोस्वामी विट्ठलनाथकृत विद्वन्मण्डनका एक समीक्षात्मक अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्धके रूपमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके कला-संकायके दर्शन एवं धर्म विभागके प्रोफेसर् एवं अध्यक्ष डॉ० एन्० एस्० एस्० रामन्के निर्देशनमें लिखा गया था और इसपर लेखकको काशी हिन्दू विश्वविद्यालयने पी-एच्० डी० की उपाधि प्रदान की थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय लेखककी मातृ-संस्था है जिसने उसे शिक्षा-दीक्षा, उपाधि, आजीविका एवं प्रतिष्ठा सभी कुछ प्रदान किया है। इस कृतिके प्रकाशनके अवसर पर हम कृतज्ञतापूर्वक उपकार-स्मरण करते हुए उसके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

शोध-प्रबन्धके रूपमें पुरस्कृत इस कृतिके मौलिक होनेकी अपेक्षाके सन्दर्भमें हमारा विनम्र निवेदन यही है कि हम मौलिक शब्दका अर्थ—विशेषत: वेदान्त-विचारके प्रसङ्गमें—मूलसे सम्बद्ध और उस पर आधारित समझते हैं, मूलसे विच्छिन्न होकर उसके अज्ञानके कारण निर्मूल एवं नितान्त नवीन की कल्पना करना नहीं। नवीन दार्शनिक-सम्प्रदायोंकी स्थापना (System building) का युग भारत-भूमिमें बहुत पहले समाप्त हो गया था। इसीलिए महामनीषी विचारक जयन्तभट्टने अपनी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृति न्यायमञ्जरीके प्रारम्भ में कहा था,

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचोविन्यास-वैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्॥

जयन्तभट्टकी उपर्युक्त उक्तिको दुहराते हुए हम यह कहना चाहेंगे कि मूलको युगानुरूप स्वरूप देकर उसके विचारोंको अभिनव दृष्टिसे विशदतया प्रतिपादित करनेके लिए हमने 'विद्वन्मण्डनम्' का एक आधुनिक संस्करण तैयार किया है और उसे (महामहोपाध्याय कोलाचल मल्लिनाथसूरिकी "नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते" इस उक्तिको ध्यानमें रखकर लिखे गये) प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद एवं विस्तृत व्याख्या से संयुक्त किया है जो सम्प्रति मुद्रणाधीन है। यद्यपि प्रकृत कृतिमें हम उसका पूरा उपयोग नहीं कर पा रहे हैं तथापि हमें विश्वास है कि मौलिकताके आग्रहीको भी इस शोध-प्रबन्धके पृष्ठोंमें ही यत्र-तत्र सर्वत्र पण्डित-मण्डलीमें चली आयी किसी भ्रान्तिका निराकरण, कोई नयी सूचना, किसी अस्पष्ट धारणाकी विशद व्याख्या, किसी दुरूह शास्त्रीय समस्याका समाधान, कोई महत्त्वपूर्ण विचार, किसी सदृश विचारकी ओर संकेत, किसी सिद्धान्तकी नयी व्याख्या या समीक्षा, कोई नवीन दृष्टि अथवा इसी प्रकारका कुछ और अवश्य मिलेगा जिसे निस्संकोच रूपसे इसके लिखे जानेके औचित्यका निर्वाहक कहा जा सकता है।

वेदान्त-विचारकी परम्परामें विद्वन्मण्डनके समान प्रौढ वादग्रन्थोंकी संख्या निश्चय ही बहुत कम है, किन्तु उनका महत्त्व बहुत अधिक है। ऐसे ग्रन्थोंका गम्भीर अध्ययन निस्सन्देह दार्शनिक दृष्टिसे बहुत लाभकर सिद्ध होता है। किन्तु इस विषयमें यह अवधेय है कि किसी ग्रन्थका महत्त्व या सर्वोत्तमत्व प्रतिपादित करनेके लिए उसकी प्रशस्तिमात्र लिखना चारण-धर्म कहा जा सकता है समीक्षा या शोधकार्य नहीं। अत: किसी शोधकर्तासे विवेच्य ग्रन्थकी सर्वातिशायिता सिद्ध करनेकी अपेक्षा करना अविचारितरमणीय ही कहा जायेगा। इसी प्रकार शोधकर्ताकी अपनी मान्यताएँ क्या हैं, या किन विचारोंको उसकी स्वीकृति प्राप्त है यह प्रश्न भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि इसका सम्बन्ध व्यक्तिसे है और दार्शनिक जगत्में महत्त्व विचारोंको दिया जाना चाहिए व्यक्तिको नहीं। इसीलिए प्राचीन विचारक विवेचन करते समय सभी

सम्भव विकल्पोंकी उद्भावना कर उनका विश्लेषण करते थे भले ही उस समय उनमेंसे कुछ विकल्पोंको पुरस्कृत करनेवाले चिन्तकोंकी कोई परम्परा उपलब्ध न हो। अतएव अपेक्षित यह है कि शोधग्रन्थमें, समीक्ष्य कृतिमें प्रतिपादित विचारोंको निष्ठापूर्वक अविकल एवं यथार्थ किन्तु स्पष्ट तथा व्यवस्थित रूपमें उपस्थापित कर, ऊहापोहपूर्वक विवेचित किया जाये और विभिन्न विचार-विकल्पोंकी मान्यता-मुक्त एवं आग्रहग्रहिलता-रहित होकर परीक्षा की जाये। प्रकृत कृति इसी दृष्टिको स्वीकार कर लिखी गयी है। अतएव यह अस्वाभाविक नहीं होगा कि पाठकोंको इसमें यत्र-तत्र ऐसे विचार भी मिलें जिनसे सम्भवतः सभी लोग सहसा सहमत न हो सकें, किन्तु 'साधार, सप्रमाण एवं विचारपूर्वक प्रतिपादित किये गये निर्णयोंसे भी असहमतिकी सहमति' ही तो विचार-स्वातंत्र्यके पुरस्कर्ता दर्शन-शास्त्र-वेत्ताओंका वैशिष्ट्य है जो उन्हें उन साधारण लोगोंसे पृथक् करता है जिनके शब्दकोषमें विचारोंके विषयमें 'पुरस्कार' या 'तिरस्कार' के केवल दो विकल्प ही उपलब्ध हैं।

इस कृतिमें विद्वन्मण्डनकी बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग उभयविध विशद एवं व्यापक समीक्षा की गयी है। इस सन्दर्भमें हमने जहाँ जिस प्रकारका विषय है वहाँ उसी प्रकारकी पूर्णता लानेकी चेष्टा करनेकी रीति अपनायी है और तदनुरूप ग्रन्थकारके जीवनकी चर्चा करते समय उस दृष्टिसे उपयोगी सूचनाएँ दी हैं तथा उनके ग्रन्थोंकी जानकारी देते समय तद्विषयक प्रामाणिक विवरण देते हुए उनसे सम्बद्ध अनेक प्रचलित मान्यताओं एवं विद्वानोंमें भी बद्धमूल भ्रान्त धारणाओं का निर्णयात्मक रूपसे निराकरण किया है। इसी प्रकार ग्रन्थकारके वाद-ग्रन्थोंका संक्षेपण एवं उनपर विचार करते समय 'सरल भाषाकी आवश्यकता'के आकर्षक नारेके आतङ्कसे प्रभावित होकर शास्त्रीय-विवेचनके लिए अपेक्षित भाषाके स्वरूपको विकृत कर विचार-बन्धको शिथिल कर देनेका दुष्प्रयत्न करनेके हम पक्षधर नहीं रहे हैं। अतएव प्रकृत ग्रन्थके पाठकोंको इसके विभिन्न अंशोंकी भाषामें विवेच्य विषय एवं प्रसङ्ग के अनुरूप विविधता दृष्टिगत होगी, जिसे वे अपनी रुचिके अनुरूप सरल या कठिन कह सकते हैं। हमारी दृष्टिमें अनुसन्धानका उद्देश्य 'जो बात एक संस्कृत-ग्रन्थमें कही गयी है उसे भाषान्तरण द्वारा संस्कृत न जाननेवाले हिन्दी-भाषा-भाषियोंको सुलभ करा देना मात्र' नहीं, अपितु जो संस्कृत-भाषा एवं दर्शन-शास्त्र दोनोंसे सुपरिचित हैं उनके विचारके लिए एक अप्रसिद्ध एवं अप्रकट विचार-सम्पत्तिका व्यवस्थित रूपसे उपस्थापन करना तथा उसके मूल्याङ्कनमें सहायता करना भी है, अतएव हम ऐसी कृतियोंके लेखनमें पाठकको संस्कृत-भाषासे नितान्त अनभिज्ञ मानकर प्रत्येक संस्कृत-वाक्यांशको हिन्दीअनुवाद-सहित ही लिखनेकी, पाठकोंका अवमूल्यन करनेवाली परम्पराका उल्लङ्घन करनेको अपराध नहीं मानते हैं, और प्रकृत कृतिमें हमने यही

दृष्टि अपनायी है। इसमें संस्कृत उद्धरणोंके आकर-स्थलोंका प्रयत्नपूर्वक यावच्छक्य निर्देश किया गया है। इस प्रक्रियामें कभी-कभी कुछ ग्रन्थोंके बड़े उद्धरणोंका संशोधन-सम्पादन भी करना पड़ा है जिससे उनका अर्थ समझनेमें सौकर्य हो सके। यहाँ श्रीमद्भागवतके उद्धरणोंके सम्बन्धमें एक स्पष्टीकरण देना वाञ्छनीय है। श्रीमद्भागवतके जिस अंश पर श्रीवल्लभाचार्यकी सुबोधिनी-व्याख्या उपलब्ध है उस अंशके श्लोकोंको उद्धृत करते समय हमने उनके पाठ एवं अर्थ के निर्धारणमें तो सुबोधिनीका अनुसरण किया है, किन्तु सम्पूर्ण कृतिमें एकरूपता बनाये रखनेकी दृष्टिसे उनकी भी श्लोक-संख्या गीता प्रेससे प्रकाशित श्रीमद्भागवतके संस्करणका अनुसरण करते हुए दी है।

शब्दोंकी वर्तनी एवं विभक्तिको शब्दके साथ जोड़ने आदिके सम्बन्धमें हिन्दी-भाषाके कर्णधारोंके औदासीन्यके फलस्वरूप घोर अराजकता है। प्रान्तभेद तथा संस्कृतज्ञ एवं असंस्कृतज्ञ आदिके भेद के कारण हिन्दी-भाषाके लिखित रूपमें एकरूपता एवं नियमबद्धता दुर्दृश्य हो गयी है। प्रकृत ग्रन्थमें संस्कृत-भाषाके शब्दोंको उनके पाणिनि-परम्परानुमोदित रूपमें लिखा गया है और हिन्दी-भाषाके शब्दोंमें भी एक-रूपताका निर्वाह किया गया है। विभक्तियोंको शब्दसे पृथक् केवल वहीं रखा गया है जहाँ उनका सम्बन्ध एकसे अधिक शब्दोंसे है। विकृतिके अन्तिम स्वर तक ही सीमित होनेके नियमका अनुसरण करते हुए विभिन्न लिङ्ग-वचनोंके अनुरूप क्रियाके 'गया, गये, गयी, लिया, लिये' आदि रूप स्वीकार किये गये हैं और 'लिए, चाहिए' आदि अव्ययोंकी एकरूपता बनायी रखी गयी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ शुद्धाद्वैत-वेदान्तके दीर्घकालीन अध्ययन-अध्यापनकी पृष्ठभूमिमें लिखा गया है और यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि यह विगत तीस वर्षोंके लम्बे अन्तरालमें अनेक गुरुजनों, सुहृदों, सहकर्मियों तथा परिवारके सदस्यों से प्राप्त आशीर्वाद, प्रेरणा, प्रोत्साहन, स्नेह एवं सहयोग की परिणति है। आज इसके सम्पूर्ण होनेके अवसर पर उन सभीके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए हमें एक अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव हो रहा है। अपने विद्यागुरुओं एवं गुरुकल्प आचार्यों का उपकार-स्मरण इसका सर्वाधिक सुखद पक्ष है। अतः उनका विद्वन्मण्डनकी ही भाषामें अभिवादन करते हुए, सुधी पाठकोंसे विनम्र निवेदनके साथ, हम इस प्रस्तावनाको अधोलिखित श्लोकों द्वारा पूरा करते हैं।

श्रीगोपीनाथ-पादान् भवगद-कविराजाऽऽख्यान् गुरून् कीर्ति-शेषान्
सश्रद्धं नौमि भक्त्या गिरिधर-चरणांस्तांश्चतुर्वेदिनश्च।
ये शास्त्रेषु प्रवेशं परम-करुणयाऽकारयन्मे सयत्नं
येषामेव प्रसादं सुविदित-विदुषां देवताऽन्वेति वाचाम् ॥१॥

बालश्चापि कला-कलाप-रहितं दोषाकरं यो जडं
मूर्ध्न्याधाय दयोदयार्द्रहृदयः प्रोत्साहयामास तम् ।
काश्यां ज्ञान-परायणैः सुकृतिभिः सश्रद्धमभ्यर्चितं
श्रीमच्चन्द्रधरं नमामि शिरसा वेदान्त-विद्या-गुरुम् ॥२॥

श्रीमद्वल्लभ-वंश-लब्ध-जनुषं सद्धर्म-संरक्षकं
शुद्धाद्वैत-मतं गृहीत-वपुषं गोस्वामिनं दीक्षितम् ।
शिष्यानुग्रह-विग्रहं मतिमतां श्रद्धास्पदं सादरं
विद्वन्मण्डन-हार्द-बोधन-गुरुं कीर्त्येकशेषं नुमः ॥३॥

प्राच्य-प्रतीच्य-जनतादृत-धर्म-विज्ञं तं मापदण्डमिह सात्त्विकजीवनस्य ।
श्रीरामशङ्करमहं गुरुवर्यमिश्रं संप्रेरकं विबुधकर्मणि नौमि भक्त्या ॥४॥

श्रीदेवराजमधुनातन-बोध-सिन्धुं कल्याणमित्रमुपकारकृतं स्मरामि ।
यो ग्रन्थशुक्तिमवधूय सलीलमेव शिष्यान् ददौ-परम-दुर्लभ-तत्त्व-मुक्ताम् ॥५॥

जाग्रत्प्रज्ञासमज्ञः विमलमतिमतां माननीयो मनीषी
सौजन्यान्मां दिदृक्षुः समुपचितगुणं मानयन्मेऽनुरोधम् ।
स्वीचक्रे द्रागनल्प-क्लमकरमपि मच्छोध-निर्देशकत्वं
श्रीरामं तं कृतज्ञः सहृदय-हृदयं सादरं संनतोऽस्मि ॥६॥

वेदान्ताम्भोधि-मन्थाचल-निपुण-धियः शास्त्र-रक्षा-परीक्षा-
दक्षाः प्राची-प्रतीची-प्रचुर-परिचिताः ज्ञाननिष्ठाः गरिष्ठाः ।
संवीक्ष्यैनं प्रसीदन्त्विति पुरत उपन्यस्य नूत्नं निबन्धं
मिश्रः केदारनाथः विमलमतिमतो याचते पुष्टिदृष्टिम् ॥७॥

श्रुति-स्मृति-व्यास-वचो-महाटवी-भ्रमद्-भ्रमोत्सेदन-कर्म-दीक्षिता ।
गुणेक्षिकां कामयते दृशं विदां तपस्विनी वाल्लभ-शास्त्र-योग्यता ॥८॥

दोषान्वेषणमात्र-सज्ज-धिषणान् सम्प्रार्थये सादरं
शुद्धाद्वैत-विवेचनापरमितोऽत्युत्कृष्टमेकं नवं ।
निर्दोषं जनभाषया जडधियामस्मादृशां श्रेयसे
ग्रन्थं संरचयन्तु तेन भविता नूनं यशः श्रीमताम् ॥९॥

धर्म एवं दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१००५

विद्वदाश्रव
केदारनाथ मिश्र

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ
संकेत-सूची	
प्रथम अध्याय : पूर्वपीठिका	१-४७
द्वितीय अध्याय : विद्वन्मण्डनके प्रतिपाद्य विषयोंका संक्षिप्त विवरण	४८-८०
तृतीय अध्याय : विद्वन्मण्डनके दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तोंकी पृष्ठभूमि	८१-१२८
चतुर्थ अध्याय : ब्रह्म-विचार	१२९-१७३
पञ्चम अध्याय : जीव-विचार	१७४-२२९
षष्ठ अध्याय : सृष्टि-विचार	२३०-२५०
सप्तम अध्याय : नित्यलीला-विचार	२५१-२७४
अष्टम अध्याय : उपसंहार	२७५-२८३
प्रस्तुत कृतिमें प्रयुक्त मुद्रित ग्रन्थोंकी संक्षिप्त सूची	२८५-२९७
(क) विद्वन्मण्डनकार गो० श्रीविट्ठलनाथसे पहलेके ग्रन्थ	२८५-२९१
(ख) विद्वन्मण्डनकार गो० श्रीविट्ठलनाथके ग्रन्थ	२९२-२९३
(ग) विद्वन्मण्डनकार गो० श्रीविट्ठलनाथके बादके ग्रन्थ	२९३-२९५
(घ) प्रस्तुत कृतिके लेखकके कुछ एतद्विषयक ग्रन्थ	२९५-२९६
(ङ) एतद्विषयक कुछ प्राचीन मासिक पत्र	२९६
(च) Some English Books	२९६-२९७

संकेत-सूचा

अ०	= अणुभाष्यम् ।
अथ०	= अथर्ववेद-संहिता ।
अन्नपू०	= अन्नपूर्णोपनिषद् ।
अ० प्र०	= अणु-भाष्य-प्रकाशः (गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमकृतः) ।
ई०	= ईशोपनिषद् ।
उपो०	= उपोद्घातः ।
ऋ०	= ऋग्वेद-संहिता ।
ऋ० सा०	= ऋग्वेद-संहिता-सायणभाष्यम् ।
क०	= कठोपनिषद् ।
क० शा० भा०	= कठोपनिषच्छाङ्कर-भाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस संस्करण) ।
के०	= केनोपनिषद् ।
के० शा०	= केनोपनिषच्छाङ्कर-भाष्यम् ।
कै०	= कैवल्योपनिषद् ।
कौ०	= कौषीतक्युपनिषद् ।
खण्डन०	= खण्डन-खण्ड-खाद्यम् ।
ग० भ०	= गङ्गाधर-भट्टी (विद्वन्मण्डन-व्याख्या)
गरुडपु०	= गरुडपुराणम् ।
गीतगो०	= गीतगोविन्दकाव्यम् (पण्डित केदारनाथशर्माकृत हिन्दी अनुवाद सहित) ।
गीता	= श्रीमद्भगवद्गीता ।
गीतात०	= गीतातत्त्वदीपिका (गोस्वामिश्रीवल्लभकृता) ।
गीतारा०	= गीता-रामानुज-भाष्यम् ।
गीतार्थ०	= गीतार्थ-विवरणम् (गो० श्रीविट्ठलनाथकृतम्) ।
गोपालपूर्वता०	= गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् ।
गोपालोत्तरता०	= गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद् ।
गो० श्रीवि०	= गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी (श्रीहरिशंकरशास्त्रीलिखित)।
गौ०	= गौडपादकारिकाः ।

चतुःश्लो०	=चतुःश्लोकी (श्रीवल्लभाचार्यकृता)।
चौ० वार्ता	=चौरासी वैष्णवनकी वार्ता।
छा०	=छान्दोग्योपनिषद्।
छा० शा०	=छान्दोग्योपनिषच्छाङ्कर-भाष्यम्।
टि०	=टिप्पणी।
टिप्प०	=गो० श्रीविट्ठलनाथकृता श्रीमद्भागवत-टिप्पणी।
तत्त्वा०	=तत्त्वार्थदीपनिबन्धः।
तत्त्वा० प्र०	=तत्त्वार्थदीपनिबन्ध-प्रकाशः (श्रीवल्लभाचार्यकृतः)।
तत्त्वा० प्र० आ०	=तत्त्वार्थदीपनिबन्ध-प्रकाशयोः आवरणभङ्गव्याख्या।
तत्त्वा० यो०	=तत्त्वार्थदीपनिबन्ध-प्रकाशयोः योजना (श्रीबालकृष्णभट्टकृता)।
तत्त्वा० शा०	=तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (शास्त्रार्थ-प्रकरण) स्नेहप्रपूरणी-सहित।
तु०	=तुलनीय।
तै०	=तैत्तिरीयोपनिषद्।
तै० आ०	=तैत्तिरीयारण्यकम्।
तै० ब्रा०	=तैत्तिरीय-ब्राह्मणम्।
तै० सं०	=तैत्तिरीय-संहिता।
दो० वार्ता	=दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता
द्र०	=द्रष्टव्य।
नामरत्न०	=नामरत्नाख्य-स्तोत्रम्।
नृ० उ० ता०	=नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्।
नृ० पू०	=नृसिंहपूर्वतानीयोपनिषद्।
पत्रा०	=पत्रावलम्बनम्।
पद्मपु०	=पद्मपुराणम्।
परिम०	=कल्पतरु-परिमलः (श्रीमदप्पयदीक्षितकृतः)।
पु० भ० सु०	=पुष्टि-भक्ति-सुधा (पत्रिका)।
पुष्टिप्र०	=पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेदः।
पृ०	=पृष्ठ।
प्र० र०	=प्रमेय-रत्नार्णवः।
प्रस्ता०	=प्रस्तावना।
प्रा०	=प्राभञ्जनः।
प्रे० वि०	=प्रेमामृत-विवरणम्।
बृ०	=बृहदारण्यकोपनिषद्।
बृ० भा०	=बृहदारण्यक-भाष्यम् (श्रीमध्वाचार्यकृतम्)।

बृ० वा० = बृहदारण्यक-वार्तिकम् ।
बृ० शा० = बृहदारण्यकोपनिषच्छाङ्करभाष्यम् ।
बृ० स० = बृहत्स्तोत्र-सरित्सागरः ।
ब्र० = ब्रह्मसूत्राणि ।
ब्र० भास्क० = ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्यम् ।
ब्र० मा० = ब्रह्मसूत्र-माध्वभाष्यम् ।
ब्र० मा० अनु० = ब्रह्मसूत्रमाध्वभाष्यानुव्याख्यानम् ।
ब्र० रा० = ब्रह्मसूत्र-रामानुजभाष्यम् ।
ब्र० शा० = ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यम् ।
ब्र० शा० उपो० = ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर-भाष्योपोद्घातः ।
ब्र० शा० भामती = ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर-भाष्यस्य भामतीटीका ।
ब्रह्मबि० = ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ।
ब्रह्मवि० = ब्रह्मविद्योपनिषद् ।
ब्रह्माण्डपु० = ब्रह्माण्डपुराणम् ।
भक्तिहे० = भक्तिहेतुनिर्णयः ।
भक्तिहं० = भक्तिहंसः ।
भक्तिहं० विवे० = भक्तिहंसकी विवेकव्याख्या ।
भाग० = श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ।
मण्डलब्रा० = मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद् ।
म० ता० नि० = महाभारत-तात्पर्य-निर्णयः ।
मत्स्यपु० = मत्स्यपुराणम् ।
महा० = महाभारतम् ।
महाना० = महानारायणोपनिषद् ।
मा० = मारुतशक्तिः (प्राभञ्जन-टीका) ।
मा० प्रा० = मारुत-शक्ति-सहितः प्राभञ्जनः ।
मी० = मीमांसासूत्राणि ।
मी० शा० = मीमांसा-सूत्र-शाबर-भाष्यम् ।
मु० = मुण्डकोपनिषद् ।
मुद्गलोप० = मुद्गलोपनिषद् ।
मैत्र्यु० = मैत्र्युपनिषद् । (= मैत्रायण्युपनिषद्) ।
रामो० = श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषद् ।
व० पु० = वराहपुराणम् ।
वादा० = वादावलिः ।

वि०	= विद्वन्मण्डनम् सहस्राक्षसहकृतम् (वाराणसी)।
विद्व०	= विद्वन्मण्डनम् (चतुर्विवृतिसमेतम्)।
विद्वन्म०	= विद्वन्मण्डनम् (सुवर्णसूत्रोपेतम्) काशी।
विद्वन्मण्ड०	= विद्वन्मण्डनम् (प्रस्तावनाभागः)।
वि० म०	= विद्वन्मण्डनम् (मर्मस्पर्शिनी-व्याख्या-सहितम्)।
विवेकचू०	= विवेक-चूडामणिः।
विष्णुपु०	= विष्णुपुराणम्।
वि० सं०	= विक्रम-संवत्।
वे० ता० च०	= श्रीरामानुजाचार्यकृत-भगवद्गीता-भाष्यकी वेदान्तदेशिक-कृत तात्पर्यचन्द्रिका टीका।
वेदा०	= वेदान्तसारः (पं० बदरीनाथशुक्ल-सम्पादित, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित)।
वेदा० विद्वन्मनो०	= वेदान्तसारकी विद्वन्मनोरञ्जनी टीका।
वैदि०	= वैदिक साहित्यका इतिहास(डॉ०कुँवरलालजैन लिखित)।
वैदिक साहित्य०	= वैदिक साहित्य और संस्कृति(पं बलदेवउपाध्याय लिखित)।
शतदू०	= शतदूषणी।
शतप०	= शतपथ-ब्राह्मणम्।
शाण्डि० भ०	= शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रम्।
शुद्धा०	= शुद्धाद्वैत-मार्तण्डः।
शुद्धा० प्र०	= शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड-प्रकाशः।
शु० पु० सं० वा०	= शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय।
शु० य० सं०	= शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता।
श्रीमद्ब्र० प्र०	= श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्, प्रस्तावना (गो० श्यामकृता)।
श्रीशङ्करदि०	= श्रीशङ्करदिग्विजयः।
श्वे०	= श्वेताश्वतरोपनिषद्।
षट्स०	= षट्सन्दर्भः।
सत्सङ्गि०	= सत्सङ्गिजीवनम्।
सत्सि०	= सत्सिद्धान्त-मार्तण्डः।
सम्पु०	= सम्पुटम्।
सर्वमू०	= सर्वमूलम् (श्रीमध्वाचार्यकृतम्)।
सर्वो०	= सर्वोत्तमस्तोत्रम्।
सा०	= सामवेद-संहिता।
स० बि०	= सिद्धान्तबिन्दुः।

सि० मु०	= सिद्धान्तमुक्तावली (श्रीवल्लभाचार्यकृता) ।
सि० मु० टि०	= सिद्धान्त-मुक्तावली-टिप्पणी ।
सिद्धा० पाण्डु०	= सिद्धान्तशोभाटीकायाः पाण्डुलिपिः ।
सुबो०	= सुबोधिनी (श्रीमद्भागवतटीका) ।
सुबो० प्र०	= सुबोधिनी-प्रकाशः ।
सुव०	= सुवर्णसूत्रम् (विद्वन्मण्डन-व्याख्यानम्) ।
संक्षे०	= संक्षेपशारीरकम् ।
हरि०	= हरितोषिणी (विद्वन्मण्डन-व्याख्या) ।
B. G.	= 'The Bhagavadgītā (S. B. E. Series, Vol. VIII).'
H. D.	= 'History of the Dvaita School of Vedānta and Its Literature.'
H. I. P.	= 'A History of Indian Philosophy.'
Int.	= 'Introduction.'
I. P. A.	= 'Introduction to the Pāñcarātra and the Ahirbudhnyasamhitā ;
I. Ph.	= 'Indian Philosophy.'
R. I.	= 'The Religions of India.'
Vol.	= Volume.
V. S. R. S.	= 'Vaiṣṇavism, Shaivism and Minor Religious Systems.'

पूर्वपीठिका

* १.१.० * वैदिक संहिताओंमें अनुभवों एवं विचारों की विविधताकी समृद्धि उपलब्ध होती है। निस्सन्देह इनमें उपनिबद्ध अनेक विचारोंमें एक प्रमुख विचार यह भी है कि विभिन्न ऋषियोंने एक ही तत्त्वका निरूपण नाम, रूप तथा कल्पना एवं वर्णन-प्रकार के भेदसे अनेक प्रकारसे किया है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' (ऋ० १.१६४.४६, अथ० ९.१०.२८), 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।' (ऋ० १०.११४.५) एवं 'यो देवानां नामधा एक एव।' (ऋ० १०.८२.३; अथ० २.१.३) आदि मन्त्र इसी प्रकारके विचारके अभिव्यञ्जक हैं। किन्तु इसके साथ ही वैदिक संहिताओंमें उपलभ्यमान विचारोंमें विविधता, विभिन्नता एवं परस्पर-विरोध के दर्शन भी होते हैं। प्राचीनतम उपनिषदोंके ऋषियोंने 'संहिताओंके ऋषियोंके विचारोंमें परस्पर-विरोध है' यह स्वीकार करते हुए उनमेंसे एक मतका निषेध तथा दूसरे मतका पुरस्कार और उनके परवर्ती शास्त्रकारोंने इस विचार-विभिन्नताके अनिर्णायक होनेका उल्लेख स्पष्ट शब्दोंमें किया है। उदाहरणार्थ ऋक्संहितामें एक सूक्तमें यह कहा गया है कि सृष्टिके पहले न असत् था और न सत्[1]। किन्तु वहीं एक अन्य सूक्तमें यह भी कहा गया है कि सत्की उत्पत्ति असत्से हुई[2]। इस परवर्ती वैदिक मतका उल्लेख करते हुए छान्दोग्योपनिषद्में[3] इससे असहमति प्रकट करते हुए सत्से उत्पत्तिके सिद्धान्तका पुरस्कार किया गया है[4] और महाभारतकारने तो यक्षके प्रश्नके उत्तरमें युधिष्ठिरके मुखसे स्पष्टतया कहलाया है कि, 'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।' (महा० २.३१४.११७)। तथापि विचारकोंकी एक प्रमुख परम्पराने वैदिक-वाङ्मयके एक अंशमें उपपादित एक विशेष-प्रकारकी विचार-धारासे अपना तादात्म्य स्थापित कर सम्प्रदाय-रीत्या उस विचारधाराको ही वैदिक-सिद्धान्त मान लिया। वे केवल परम-तत्त्वको ही नहीं, अथवा अपनी विशिष्ट विचारधाराके प्रतिपाद्य तत्त्वको ही नहीं, अपितु उस तत्त्वके प्रतिपादक अपने सारे सिद्धान्तों, अपनी सारी विचार-सरणि को ही समग्र वेदका प्रतिपाद्य मानने लगे। यद्यपि अपनी इस मान्यताकी पुष्टिके लिए वे केवल कुछ

---

१. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्। (ऋ० १०.१२९.१)।

२. देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत। (ऋ० १०.७२.२)।

३. तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सज्जायत। (छा० ६.२.१)।

४. सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (छा० ६.२.२)।

उपनिषदोंके कुछ वाक्य ही उद्धृत करते रहे तथापि इसे और केवल इसे ही समग्र वैदिक-वाङ्मयका प्रतिपाद्य बताते रहे।

इस प्रकार ब्रह्मवादियों[१] और ब्रह्मवादिनियों[२]ने ब्रह्मविद्या[३], सर्वोपनिषद्विद्या[४] एवं वेदान्त-विज्ञान[५], (तथा परवर्ती कालमें वेदान्तवाद[६], वेदान्तविहित ब्रह्मदर्शन[७] एवं ब्रह्मवाद[८]) आदि नामोंसे प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा की जिसका आधार 'वेदान्त' या 'श्रुति-शिरः' पदाभिधेय उपनिषद् थे। 'वेदान्त' पदका अर्थ 'वेदका तात्त्विक सिद्धान्त', 'वैदिक ज्ञानका चरम परिपाक', 'वेदका अन्तिम भाग'[९] समझा जाता था। वेदान्त और उपनिषद् शब्दोंकी समानार्थकता स्वीकार कर संहिताओं, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों के अंश 'उपनिषद्' संज्ञासे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार ईशावास्य--जो शुक्ल-यजुर्वेद-संहिताका अन्तिम अर्थात् चालीसवाँ अध्याय है--आदि संहितोपनिषद्,

---

१. ब्रह्मवादिनो वदन्ति। (छा० २.२४.१; श्वे० १.१)।
ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्। (श्वे० ३.२१)।
द्र०, मैत्र्यु० ६.७; बृ० पू० २.२; ३.१; ब्रह्मवि० २, ४; रामो० ३; गीता १७.२४ आदि।

२. मैत्रेयी ब्रह्मवादिनो बभूव। (बृ० ४.५.१)।

३. ब्रह्मविद्यां ·· भगवोऽध्येमि। (छा० ७.१.२)। द्र०, छा० ७.२.१; ७.७.१; ७.१.४ तथा बृ० १.४.९ एवं मैत्र्यु० २.३; ६.२९.
ब्रह्मा···ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या-प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ-पुत्राय प्राह।
अथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्। (मु० १.१.१–२)।
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्। (मु० १.२.१३)।
तदेतद् ऋचाऽभ्युक्तम्,
क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥ (मु० ३.२.१०)।

४. इयं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्। अस्माकं भगवता मैत्रिणाऽऽख्याता। (मैत्र्यु० २.३)।

५. वेदान्त-विज्ञान-सुनिश्चितार्था। (मु० ३.२.६; महाना० १०.६; कै० १.४)।

६. स च ·· प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य। (ब्र० शा० १.४.२८)।
विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः। (संक्षे० २.६१)।
वेदान्तवादिसमयेऽपि समानमेतत्। (संक्षे० ३.२१६)।

७. स्मृति-न्याय-विरोधो वेदान्त-विहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः। (ब्र०शा० ३.१.१)।

८. अयमेव ब्रह्मवादः। (तत्त्वा० २.१८४) इत्यादि।

९. वेदानामन्तोऽवसानभागो वेदान्त इति-व्युत्पत्ति-योगात्। (वेदा० विद्वन्मनो० पृ० २१)।

छान्दोग्य—जो छान्दोग्य-ब्राह्मणके अन्तिम आठ ब्राह्मणोंका ही नामान्तर है—आदि ब्राह्मणोपनिषद् एवं ऐतरेय —जो ऐतरेय आरण्यकके द्वितीय आरण्यकके चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ अध्यायोंकी ही संज्ञा है —आदि आरण्यकोपनिषद् अन्वर्थसंज्ञक वेदान्त थे। किन्तु वेदान्तकी यह वेदान्तता संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थोंके अंशों तक सीमित नहीं रह सकी और 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्रा० ३.१०.११.३–४) माननेवाली परम्परामें अनेक स्वतन्त्र उपनिषद्—जो साक्षादरूपसे किसी संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक के अंश नहीं थे—भी वेदान्त-पदवाच्य हो गये। 'वेदान्त' के रूपमें प्रसिद्ध इन उपनिषदोंके उपनिषत्त्वका निर्धारक एवं व्यावर्तक लक्षण क्या था यह कह सकना कठिन है क्योंकि उपनिषद्के स्वरूपका निरूपण करनेके लिए प्रायः 'उपनिषद्' पदकी व्युत्पत्तिका आश्रय लेनेकी प्रक्रिया ही अपनायी जाती रही है। श्रीशङ्कराचार्यने भी इस प्रक्रियाका आश्रय लेकर 'उपनिषद्' पदका अर्थ मुख्य-वृत्तिसे 'ब्रह्मविद्या' और गौण-वृत्तिसे 'ग्रन्थ' किया है[1]। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे विचार करनेपर विशरण (नाश), गति एवं अवसादन (शैथिल्यापादन) इन तीन अर्थोंवाली भ्वादि-गणीय परस्मैपदी अनिट् 'षदॢ'[2] धातुसे, 'उप' एवं 'नि' उपसर्ग-पूर्वक क्विप्-प्रत्ययान्त 'उपनिषत्' शब्द निष्पन्न होता है। धातु एवं प्रत्यय के अर्थके विचारसे इस शब्दका मुख्य अर्थ अविद्यादिरूप संसार-बीजका नाश कर, ब्रह्मके पास पहुँचा देने वाली और इस प्रकार पुनः-पुनः जन्म-मरणादिके उपद्रवका अवसादन अर्थात् शैथिल्यापादन करने वाली विद्या है एवं गौण अर्थ तत्प्रतिपादक ग्रन्थ। यह लक्षण किसी ऐसे विद्या-निरूपक ग्रन्थमें भी मिल सकते हैं जो साक्षाद्रूपसे वैदिक-संहितासे सम्बद्ध न हो; और ऐसी स्थितिमें उस ग्रन्थको भी 'उपनिषद्' पदसे अभिहित किया जा सकता है। इसीलिए परवर्ती कालमें ऐसी अनेक कृतियोंके लिए भी 'उपनिषद्' शब्दका प्रयोग होने लगा और शनैः शनैः उपनिषदोंकी संख्या बढ़ती गयी।

---

१. सदेर्धातोः विशरण-गत्यवसादनार्थस्य उप-नि-पूर्वस्य क्विप्-प्रत्ययान्तस्य रूपम् उपनिषद् इति। उपनिषच्छब्देन च ··· विद्या उच्यते। ये ·· उपनिषच्छब्दवाच्यां ··· विद्याम् उपसद्य=उपगम्य ··· शीलयन्ति, तेषाम् अविद्यादेः संसार-बीजस्य विशरणाद्=हिंसनाद् विनाशनाद् इत्यनेन अर्थ-योगेन विद्या उपनिषद् इत्युच्यते। ··· परं ब्रह्म गमयति इति ब्रह्म-गमयितृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्या उपनिषत्। ··· स्वर्गलोक-फल-प्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवास-जन्म-जराद्युपद्रव-वृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्य अवसादयितृत्वेन शैथिल्यापादने धात्वर्थ-योगाद् अग्निविद्याऽपि उपनिषत्। ··· विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषच्छब्दो विद्यते ग्रन्थे तु भक्त्येति। (क० शा० पृ० १२–१४)। तु०, तै० शा० १.१.१ पृ० २०; वेदा० विद्वन्मनो० पृ० १९–२१.

२. षदॢ-विशरण-गत्यवसादनेषु। (धातुपाठ ८७९)।

सच तो यह है कि 'उपनिषद्' के नामसे प्रसिद्ध अनेक कृतियाँ ऐसी हैं जिनमें उक्त ब्रह्मविद्या-निरूपकत्वादिरूप लक्षण भी नहीं मिलते हैं। अतः यह स्वीकार कर सकना कठिन है कि उपनिषत्त्वका निर्धारक या नियामक कोई निकष अधिक दिनों तक चल पाया होगा क्योंकि संहिताओं, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में भी ऐसे अनेक अंश हैं, जिनमें उच्चकोटिका दार्शनिक चिन्तन उपलब्ध होता है किन्तु उन अंशोंको 'उपनिषद्' संज्ञा नहीं मिल सकी, जब कि दूसरी ओर अनेक अर्वाचीन कृतियोंको भी 'उपनिषद्' के रूपमें प्रसिद्धि हो गयी जिनमें ब्रह्मविद्या ही नहीं अपि तु किसी भी प्रकारका दार्शनिक चिन्तन खोज पाना दुःशक है।

उपनिषत्त्वके किसी निश्चित नियामकके अभावमें एक ऐसी अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि अनेक स्वगोष्ठी-मात्र-प्रसिद्ध उपनिषदोंकी रचनाके साथ ही उनकी संख्या बहुत बढ़ गयी। आजसे लगभग ५० वर्ष पूर्व श्रीगजानन शम्भु साठलेने एक 'उपनिषद्-वाक्य-महाकोश' प्रकाशित किया था जिसमें २२३ उपनिषदोंके वाक्योंकी अकारादि-क्रमसे सूची दी गयी है। सम्प्रति 'उपनिषत्सङ्ग्रहः' शीर्षकसे १८८ उपनिषदोंका एक सङ्ग्रह मुद्रित रूपमें उपलब्ध है। इनमेंसे अनेक निस्सन्देह अर्वाचीन एवं अनतिमहत्त्वके हैं। इन्हींमेंसे एक 'मुक्तिकोपनिषद्' में १०८ उपनिषदोंका नामोल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि उनमेंसे कौन किस वेदसे सम्बद्ध माने जाते हैं। आजसे पर्याप्त समय पूर्व श्रीशङ्कराचार्यके स्थितिकालमें ही इनकी संख्या काफ़ी बढ़ चुकी थी और इसीलिए प्राचीन एवं अर्वाचीन उपनिषदोंमें भेद भी किया जाने लगा था। श्रीशङ्कराचार्य इनमेंसे कुछ महत्त्वपूर्ण उपनिषदों पर ही भाष्य लिखनेका समय निकाल सके थे। यही कारण है कि कई बार अज्ञान-विजृम्भित स्वगोष्ठी-प्रसिद्ध निकष स्वीकार कर कुछ श्रद्धालु, जिन उपनिषदों पर श्रीशङ्कराचार्यका भाष्य उपलब्ध है उन्हें प्राचीन एवं अन्य सभी उपनिषदोंको एकहेलया अर्वाचीन या नवीन घोषित कर देते हैं; किन्तु श्रीशङ्कराचार्यके ग्रन्थोंमें निष्णात सुधीजन जानते हैं कि स्वयं श्रीशङ्कराचार्यने अपनी कृतियोंमें अनेकशः प्रमाणरूपमें श्रुतिवाक्य उपन्यस्त करनेके प्रसङ्गमें कौषीतक्युपनिषद्[1], ब्रह्मबिन्दूपनिषद्[2] एवं जाबालोपनिषद्[3] आदि ऐसे उपनिषदोंके वाक्य भी उद्धृत किये ही हैं जिन पर उनके द्वारा भाष्य लिखे गये होनेका कोई प्रमाण नहीं मिलता। अवधेय है कि स्वयं ब्रह्मसूत्रकारने इन उपनिषदोंके कुछ सन्दिग्धार्थ वाक्योंका विचार करनेके लिए सूत्र-रचना की है[4]।

---

१. द्र०, ब्र०शा० १.१.२८–३०, १.४.१८, २.१.३४, २.३.४१, ३.२.४१ तथा ३.३.४९ आदि।

२. द्र०, ब्र०शा० ३.२.१८. ३. द्र०, ब्र०शा० ३.४.१७, २०, ४०.

४. द्र०, ब्रह्मसूत्र १.१.२८–३१ एवं उनपर श्रीशङ्कराचार्य तथा श्रीभास्कराचार्य के

इन प्राचीन उपनिषदोंमें प्रतिपादित दार्शनिक विचारधारामें परम-तत्त्वको ब्रह्म, पुरुष एवं आत्मा आदि संज्ञाओंसे अभिहित किया गया है। इस तत्त्वकी जिज्ञासा ही इन उपनिषदोंका प्रमुख प्रतिपाद्य है। तैत्तिरीयोपनिषद्में वरुणद्वारा भृगुको दिया गया 'तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।' (तै० ३.१.१) इत्यादि उपदेश, बृहदारण्यकोपनिषद्में याज्ञवल्क्यकी 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३.९.२६) इत्यादि पृच्छा एवं मुण्डकोपनिषद्में अङ्गिराका शौनकको 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' (मु० २.२.५) इत्यादि आदेश सभी इसी निष्कर्षको पुष्टि करते हैं। 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।' (क० १.३.११) इत्यादि-वाक्योंसे भी इस औपनिषद पुरुषके ही उपनिषदोंका प्रमुख प्रतिपाद्य होनेका निश्चय होता है।

इस उपनिषत्प्रतिपाद्य तत्त्वको स्वयं उपनिषदोंके ऋषि एवं ब्रह्मसूत्रकार आदि भी सर्व-वेद-प्रतिपाद्य कहते रहे हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क० १.२.१५), 'वेदैरनेकैरहमेव वेद्यः' (कै० १.२२) एवं 'शास्त्र-योनित्वात्' (ब्र० १.१.३) इत्यादि वाक्य इसी प्रवृत्तिके परिचायक हैं। यहाँ यह अवधेय है कि वेदान्त-सूत्रकार ब्रह्मको 'वेदान्त-योनि' नहीं प्रत्युत 'शास्त्र-योनि' कहते हैं और 'शास्त्र' पदका अर्थ श्रीशङ्कराचार्य 'ऋग्वेदादि-शास्त्र[1]' करते हैं, केवल 'वेदान्त' नहीं। इस प्रकार वे ब्रह्मके ऋग्वेदादि-सर्वशास्त्र-प्रतिपाद्य होनेकी बात कहना चाहते हैं। किन्तु मीमांसकोंकी आपत्तिके परिप्रेक्ष्यमें उन्हें अपने कथनका सङ्कोच कर ब्रह्मके 'ऋग्वेदादि-शास्त्र' के स्थान पर 'वेदान्त-शास्त्र' से ही गम्य होने की बात स्वीकार करनी पड़ती है और वे अपने पूर्वकथनको परिष्कृत रूपमें प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, 'तद् ब्रह्म – वेदान्त-शास्त्रादेवावगम्यते।...सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि।' (ब्र०शा० १.१.३)।

इस प्रकार 'वेदान्त' पदका अर्थ उपनिषत्साहित्य समझने और उस सारे औपनिषद साहित्यमें एक ही तत्त्वका प्रतिपादन होने का मत प्रचलित हो गया। इसीलिए उपनिषदोंके 'वेदान्त-विज्ञान-सुनिश्चितार्थाः' (मु० ३.२.६; महाना० १०.६; कै० १.४) 'वेदान्ते परमं गुह्यम्' (श्वे० ६.२२) एवं 'वेदान्ते च प्रतिष्ठितः' (महाना० १०.८) इत्यादि वाक्यों, ब्रह्मसूत्रके 'सर्व-वेदान्त-प्रत्ययम्...' (ब्र० ३.३.१) इत्यादि-सूत्र, श्रीमद्भगवद्गीताके 'वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्' (गीता १५.१५) इत्यादि वाक्य, श्रीगौडपादाचार्यके 'इति वेदान्त-निश्चयः' (गौ० २.१२) एवं 'तथा

भाष्य; ब्रह्मसूत्र १.१.२९–३२ तथा उनपर श्रीरामानुजाचार्य एवं श्रीनिम्बार्काचार्य के भाष्य और ब्रह्मसूत्र १.१.२७–३० एवं उनपर श्रीवल्लभाचार्यका भाष्य।

१. ऋग्वेदादि-शास्त्रं योनिः=कारणं, प्रमाणम्, अस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाऽधिगमे। (ब्र० शा० १.१.३)

विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः' (गो० २.३१) इत्यादि वचनों, श्रीशङ्कराचार्यके 'तत्त्वज्ञानं तु वेदान्त-वाक्येभ्य एव भवति' (ब्र०शा० २.१.३), 'गति-सामान्यं च वेदान्त-वाक्यानां ब्रह्म-कारण-वादं प्रति विद्यते' (ब्र० शा० १.४.१), 'स्मृति-बलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः ।' (ब्र० शा० २.१.१), 'वेदान्त-वाक्यकुसुम-ग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम् । वेदान्त-वाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते ।' (ब्र० शा० १.१.२), 'आत्मैकत्व-विद्या-प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते । यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरक-मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः ।' (ब्र० शा० उपो०) एवं 'वेदान्त-वाक्य-मीमांसा तदविरोधि-तर्कोपकरणा निःश्रेयस-प्रयोजना प्रस्तूयते ।' (ब्र० शा० १.१.१) इत्यादि कथनों और कालिदासादि प्राचीन महाकवियोंकी 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषम्' ('विक्रमोर्वशीय' का प्रारम्भिक श्लोक) इत्यादि उक्तियों में भी 'वेदान्त' पद उपर्युक्त उपनिषत्साहित्यके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है ।

* १.१.१ * कालान्तरमें जब 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १.४.१०), 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १.४.१०), 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३.८) या 'वेदाहमेतजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतम्' (श्वे० ३.२१) इत्यादिकी साधिकार घोषणा कर सकनेमें समर्थ तत्त्वद्रष्टा ऋषियोंकी औपनिषद-परम्परा विच्छिन्न-प्राय[1] हो गयी तो 'अब हमारा ऋषि कौन होगा ?' इस लोक-चिन्ताके समाधानके रूपमें 'तर्क' ही इस भारतीय-परम्पराका ऋषि हो गया[2] । यद्यपि तर्कका आश्रय लेने वाले दार्शनिक 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' (महा० २.३१४.११७)[3] और 'स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्' (पञ्चदशी ६.१०) की बात अवश्य कहते रहे किन्तु इस 'स्वानुभूति' के स्थानपर उन्हें 'इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः' (ऋ० १०.१४.१५, अथ० १८.२.२; तै० आ० ६.५.१)[4] कह कर उन पूर्ववर्ती ऋषियोंकी अनुभूतिको ही प्रतिष्ठित करना पड़ा ।

---

१. इस प्रसङ्गमें दीघनिकायके पोट्ठपादसुत्तमें उपलब्ध महात्मा बुद्धकी यह उक्ति अवधेय है कि जब वे आत्माके सच्चिदानन्दत्वका प्रतिपादन करनेवाले श्रमण-ब्राह्मणोंसे पूछते थे कि क्या उन्होंने इस एकान्त-सुखी आत्माका अनुभव किया है तो उनका उत्तर निषेधात्मक ही होता था । (अपि पन तुम्हे आयस्मन्तो एकं वा रत्तिं एकं वा दिवसं एकन्त-सुखि अत्तानं सञ्जानाथा ति ? इति पुट्ठा 'नो' ति वदन्ति ।)

२. मनुष्या वा ऋषिपूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति ? तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् । (निरुक्त–परिशिष्ट=१३.१.१२ पृ० ५२९) ।

३. तर्काप्रतिष्ठानात् । (ब्र० २.१.११)

४. तु०, 'इदंकविभ्यः पूर्वेभ्यो नमो वाकं प्रशास्महे ।' (उत्तररामचरितम् १.१).

इस प्रकार पुरुषार्थ-प्राप्तिके लिए 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।' (क० १.३.१४) में निरूपित मार्गका अनुसरण कर सकनेके सामर्थ्यके क्षीण हो जानेपर 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्' (मु० ३.२.४) की श्रौत घोषणासे अवगत इस परम्पराके अनुगामियोंने अपरोक्षानुभूति-पूर्वक स्वाराज्य-प्राप्तिके लिए प्रयत्नशील होनेके स्थानपर इस नये ऋषि 'तर्क' का आश्रय ग्रहण किया और अनुभूतिके स्थानपर तर्ककी प्रतिष्ठाके साथ ही वेदान्तका स्वरूप या अर्थ बदलने लगा।

अपने इस परिवर्तित रूपमें वेदान्त वेदान्त-वाक्य-मीमांसाका पर्याय बन कर रह गया। कुछ मनीषी चिन्तकोंने उपनिषदोंके परमतत्त्व एवं उस परमतत्त्वके विज्ञानात्मासे सम्बन्ध का निरूपण करनेवाले वाक्योंपर भार देते हुए[1], 'सम्पूर्ण औपनिषद साहित्यमें एक ही विचारधाराका प्रतिपादन हुआ है' इस पूर्वमान्यताके आग्रहके साथ, वेदान्त-वाक्य-मीमांसाका विकास किया। इस प्रकार उपनिषदोंके सन्दिग्धार्थ वाक्योंकी व्याख्या करते हुए उनमें सङ्गति एवं सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए सूत्र-ग्रन्थोंकी रचना प्रारम्भ हुई। उपनिषदर्थ-विचारणाके इस कार्यमें औडुलोमि, आश्मरथ्य एवं काशकृत्स्न—जिनके मतोंका उल्लेख हमें बादरायण व्यासके ब्रह्मसूत्रोंमें मिलता है—आदि अनेक आचार्योंकी सहभागिता रही है और बहुत सम्भव है उनमेंसे कई ने ग्रन्थ-रचना भी की हो, किन्तु दैव-दुर्विपाकसे हमें आज उनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं है। इसी क्रममें बादरायण व्यासने वेदान्त-वाक्योंका सन्देह-निराकरण-पूर्वक[2] अर्थ-निर्णय[3] करते हुए

---

१. इस सम्बन्धमें श्रीशङ्कराचार्यकी यह उक्ति अवधेय है, 'द्विरूपा ही वेदान्त-वाक्यानां प्रवृत्तिः। क्वचित् परमात्म-स्वरूप-निरूपण-परा, क्वचिद् विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा।' (ब्र० शा० १.३.२५)।

२. सन्देह-वारकं शास्त्रम्...। (अ० १.१.१ तथा १.१.२)।
न हि श्रुतिं व्याख्यातुं प्रवृत्तः सूत्रकारः किन्तु सन्देहं वारयितुम्। (अ० १.१.२)।

३. निर्णयायैव यत्प्रोक्तं ब्रह्मसूत्रं तु विष्णुना।
व्यासरूपेण तद् ग्राह्यं तत्रोक्ताः सर्वनिर्णयाः॥ (म० ता० नि० १.४२)।
सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मज्ञानं परम-पुरुषार्थसाधनम् इति तन्निर्णयार्थं भगवान् व्यासः सूत्राणि चकार (अ० २.३.२९)।
व्यासः स्वयं हि सर्वज्ञ उत्तरे निर्णयं जगौ। (तत्त्वा० २.३०)
असर्वज्ञेन तन्निर्णयः कर्तुमशक्यः इति सर्वज्ञो व्यासः उत्तरत्र कर्ता।
(तत्त्वा० प्र० २.३०)।
विनिर्णयो नास्त्यमुना विना यद् विप्रस्थितानामिव सर्ववाचाम्।
तद्ब्रह्मसूत्राणि चकार कृष्णो व्याख्याय तेषामयथाकृताऽन्यैः॥
(म० ता० नि० ३२.१५९–१६०)।

उनमें सङ्गति एवं सामञ्जस्य स्पष्ट करने तथा उनका ब्रह्मवादमें समन्वय दिखाने के लिए अपने 'ब्रह्मसूत्र' का प्रणयन किया[1]। विभिन्न कारणोंसे, जिनमें इस ग्रन्थकी सर्वातिशायिता भी एक प्रमुख कारण हो सकती है, सम्प्रति वेदान्त-वाक्य-मीमांसा-परक एकमात्र यही सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध है। इसीलिए यह 'वेदान्तसूत्र' एवं 'व्याससूत्र' के नामसे भी प्रसिद्ध है।

इस प्रकार कालक्रमसे 'वेदान्त' पदके मुख्यार्थकी सीमाओंकी उपेक्षा कर वेदान्त-वाक्य-मीमांसाको भी 'वेदान्त' कहा जाने लगा। यद्यपि इस परम्पराके विचारक यह अस्वीकार नहीं कर सके कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषियोंकी स्वानुभूतिरूप वेदान्तके उच्च सिंहासनपर तर्क-मूलक विचार-शास्त्रको प्रतिष्ठित करना औचित्यावह नहीं है और इसीलिए उन्होंने वेदान्त-वाक्योंकी सापेक्षताके अनिष्ट-प्रसङ्गकी आशङ्काके कारण इस विचार-शास्त्रको वेदान्तका अङ्ग न कहकर उपकारक[2] (अर्थात् वेदान्तके प्रमेयमें होनेवाली असम्भावना, विपरीत-भावना एवं संशय के निरास द्वारा सहायक) कहा तथापि कालक्रमसे 'वेदान्त' के विचार-शास्त्ररूप इस नये प्रकारने, अथवा 'वेदान्त' पदके इस गौण अर्थने, इसके मुख्य अर्थका इस प्रकार अभिभव कर दिया कि वेदान्तके नामपर उपनिषदोंकी अपेक्षा तदितर ग्रन्थोंका अध्ययन ही प्रमुख हो गया। इस तथ्यको वेदान्तके आधुनिक विद्वानोंने भी स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ प्रोफेसर् टी. आर्. वी. मूर्तिने इस विषयमें अपना अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है कि "'वेदान्त' पदका मुख्य अर्थ उपनिषद् हैं और श्रीशङ्कराचार्यने इस पदका प्रयोग इसी अर्थमें किया है। वे इस पदका प्रयोग अपने दर्शनको अभिहित करनेके लिए नहीं करते हैं। 'वेदान्त' पर आधृत अद्वैत-सम्प्रदायने भी 'वेदान्त' नाम ग्रहण कर लिया है। 'वेदान्त'

---

१. वेदान्त-वाक्य-कुसुम-ग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। वेदान्त-वाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थ-विचारणाऽध्यवसान-निवृत्ता हि ब्रह्मावगतिः।
(ब्र० शा० १.१.२)।
भगवान् व्यासः···ब्रह्मसूत्रे····सर्वान् वेदान्तान् अव्याकुलतया योजितवान्।
(अ० २.३.२९)।

२. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरक-सूत्रादीनि च। (वेदा० पृ० १९)।
तदुपकारीणि = वेदान्तार्थ-विचारानुकूलानि इति यावत्। तदनुकूलत्वं वेदान्त-वाक्यप्रमेयासम्भावनापोह-द्वारा, न तु प्रमित्युत्पत्तौ तत्फले वा साक्षाद्विचार-शास्त्रस्य अङ्ग-भावः, तथा सति वेदान्त-वाक्यानां सापेक्षता-प्रसङ्गात्। तदुक्तम् अभियुक्तैः,
'स्वाध्यायवन्न करणं घटते विचारो नाप्यङ्गमस्य परमात्म-धियः प्रसूतौ।
सापेक्षतापतति वेदगिरस्तथात्वे ब्रह्मात्मनः प्रमिति-जन्मनि तन्न युक्तम्॥' इति
(वेदा० विद्वन्मनो० पृ० २०–२१)।

पदके गौण अर्थने एक प्रकारसे इसके मुख्य अर्थका अभिभव कर दिया है और उससे अधिक प्रतिष्ठित हो गया है[१] ।"

* १.१.२ * वेदान्तकी अवधारणाकी इस यात्राको प्रभावित करने वाले एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वकी चर्चा यहाँ प्रासङ्गिक और उपयोगी होगी। वेदान्त-सिद्धान्त एवं विचार-शास्त्र के स्वरूपमें परवर्ती कालमें जो परिवर्तन हुए उनमें वैष्णव-धर्म एवं श्रीमद्भगवद्गीता की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। वेदान्तके श्रुति-प्रस्थान एवं तर्क-प्रस्थान के अतिरिक्त एक तृतीय प्रस्थान 'स्मृति-प्रस्थान' के रूपमें भगवद्गीताने न केवल 'वेदान्त' की अवधारणाको प्रभावित किया है प्रत्युत वैष्णव-वेदान्तके रूपमें प्रसिद्ध विभिन्न वेदान्त-सम्प्रदायोंके विकासका बीजारोपण भी किया है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' पदमें 'गीतम्', 'गीतिः' या 'गानम्'[२] इन विशेष्य-वाचक पदोंका सन्निवेश नहीं किया गया है और यह एक स्त्रीलिङ्ग पदका विशेषणमात्र है जिसका अर्थ ('गायी गयी'), विशेष्य-पद-सापेक्ष है। यह विशेष्य-पद क्या है इसका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। इसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें आनेवाली 'इतिश्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाम्' इत्यादि पुष्पिकाके प्रकाशमें देखें तो 'उपनिषद्' और 'ब्रह्मविद्या' पदोंको गीताका विशेष्य माना जा सकता है। अवधेय है कि 'उपनिषद्' पद संस्कृत-भाषामें स्त्रीलिङ्ग माना गया है। 'वेदान्त' की अवधारणाकी यात्राकी दृष्टिसे अथवा गीताको वेदान्तका एक प्रस्थान माननेकी दृष्टिसे विचार करें तो 'गीता' स्त्रीलिङ्ग 'स्मृतिः' पदका विशेषण है। यह भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट 'उपनिषद्', 'ब्रह्मविद्या' एवं 'स्मृति' है। वस्तुतः गीताके कलेवरमें इन तीनोंका समाहार उपलब्ध होता है। इसमें उपनिषत्प्रतिपाद्य 'आत्मा', 'ब्रह्म' एवं 'पुरुष' पदोंके वाच्य तत्त्वका निरूपण किया गया है अतः इस अर्थमें इसे

---

१. **The term वेदान्त primarily means the उपनिषद्s and it is in this sense that शङ्कर uses this term. He does not use it to designate his philosophy. The Advaita system based on the वेदान्त has also acquired the name 'वेदान्त'. The secondary signification of the term 'वेदान्त' has in a sense suppressed and superseded the primary sense. It should be taken as 'मीमांसा' (वाक्यार्थविचार) or a systematic consideration of all the texts of the उपनिषद्s. We need not be very squeamish about taking it as 'मीमांसा.' (Studies in Indian Thought, p. 57)**

२. गीतिश्छन्दसि गाने स्त्री गीतं शब्दित-गानयोः। (मेदिनीकोश, १.१६.१६)।

'उपनिषद्' कहना उपपन्न है। इसमें व्यासदेवने श्रीकृष्णकी उक्तियोंको सञ्जयके द्वारा कहलाया है इससे इसके स्मृतित्वकी उपपत्ति भी हो जाती है[1]। इसके पाठकोंसे इसकी ब्रह्मविद्यात्मकता एवं योगशास्त्रता भी छिपी नहीं है। किन्तु इस प्रसङ्गमें कभी-कभी इस तथ्यपर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया जाता कि यह वैष्णव-धर्मके उपलब्ध प्राचीनतम आधारग्रन्थोंमें अन्यतम है और इस रूपमें इसने वेदान्त-परम्पराको एक नवीन दिशा दी है। इसमें केवल औपनिषद आत्मवादका पिष्टपेषण ही नहीं किया गया है प्रत्युत वैष्णव-धर्मके मूलभूत सिद्धान्तोंकी—जो बहुशः औपनिषद-परम्परासे प्राप्त नहीं हैं और उनसे भिन्न हैं—स्थापना की गयी है। गीताके इसी पक्षने परवर्ती वेदान्त-परम्पराको सर्वाधिक प्रभावित किया है।

श्रीमद्भगवद्गीताको पुष्पिकाके 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' इत्यादि वचनके आधारपर 'उपनिषद्' तथा

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥'

इत्यादि कथनके आधारपर उपनिषदोंका सार माननेकी बात एक सीमा तक ही उचित मानी जा सकती है अन्यथा इसे उपनिषदाद्यात्मक श्रुति-प्रस्थानसे भिन्न एक स्वतन्त्र प्रस्थान माननेका कोई औचित्य न होगा। वस्तुतः वेदान्त-प्रस्थानके रूपमें गीताका महत्त्व औपनिषद आत्मवादका संक्षेपमें पुनः कथन कर देनेके कारण नहीं प्रत्युत जिनका विवेचन श्रुति-प्रस्थानमें नहीं किया गया है ऐसे, वैष्णव परमात्मवादसे सम्बद्ध भक्ति, शरणागति, अनुग्रह एवं अवतारवाद आदि विषयोंकी वेदान्तके महत्त्वपूर्ण विवेच्य-विषयोंके रूपमें प्रतिष्ठा करा देनेके कारण है। गीताका यह स्वरूप जो उसके स्मृति-प्रस्थान माने जानेका कारण है वैष्णव-धर्मका वेदान्त-परम्पराको अप्रतिम अवदान है। परवर्ती वेदान्ताचार्योंने इसीके प्रकाशमें वेदान्त-परम्परा एवं वैष्णवपरम्परा का समन्वय कर वैष्णव-वेदान्तके विभिन्न सम्प्रदाय विकसित किये।

*** १.१.३ *** प्रायः यह कहा जाता है कि वेदान्त-सिद्धान्त प्रस्थान-त्रयी पर प्रतिष्ठित है और यह प्रस्थान-त्रयी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता रूप है। श्रीशङ्कराचार्यने इस प्रस्थान-त्रयी पर भाष्य लिखा है, इस तथ्यको दृष्टिगत कर, कभी-कभी आचार्यत्वका निकष 'इन तीनों प्रस्थानोंमें अपने सिद्धान्तको प्रतिपादित हुआ सिद्ध करना' मान लिया जाता है। इसी क्रममें यह भी कहा जाता है कि श्रीवल्लभाचार्यने श्रीमद्भागवत-महापुराणकी व्याख्या कर उसमें अपने मतका प्रतिपादन हुआ सिद्ध कर प्रस्थान-त्रयीके स्थानपर प्रस्थान-चतुष्टयीकी प्रतिष्ठा की है। यह चौथा प्रस्थान श्रीमद्भागवत-प्रस्थान है। इस प्रकार वेदान्त-प्रस्थानका अर्थ प्रायः

---

१. स्मृतित्वेन कृष्णवाक्यानि वेदवेऽपि पृथगुक्तानि। (तत्त्वा० प्र० १.७)।

वेदान्त-सिद्धान्तके आधारभूत ग्रन्थ (जैसे ब्रह्मसूत्र, गीता एवं भागवत) या एक ही विधाके ग्रन्थोंका समूह (जैसे उपनिषद्) माना जाता रहा है। ग्रन्थ-विशेष या ग्रन्थोंके प्रकार-विशेष को प्रस्थान माननेपर प्रस्थानोंकी संख्यामें वृद्धि होती जाना स्वाभाविक था। इसीलिए श्रीमध्वाचार्यकी व्याख्यात्मक कृतियाँ छः प्रस्थानोंमें वर्गीकृत की गयी हैं। भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, महाभारत एवं श्रीमद्भागवत इन चारों ग्रन्थोंके अर्थनिर्णयके लिए लिखी गयी उनकी विभिन्न कृतियोंको चार प्रस्थानोंके रूपमें उपन्यस्त किया गया है। यहाँ तक कि श्रीमद्भगवद्गीताके महाभारतका अंशमात्र होनेके बावजूद महाभारत-पर उनकी कृतिको इतिहास-प्रस्थान एवं भगवद्गीताके उनके भाष्य एवं तात्पर्य-निर्णय को श्रीमद्भगवद्गीता-प्रस्थान के नामसे अलग-अलग प्रस्थानोंमें रखा गया है। इसी प्रकार श्रुति-प्रस्थान एवं उपनिषत्प्रस्थान भी परस्पर भिन्न हैं। श्रीमन्मध्वाचार्यके साक्षाच्छिष्य श्रीहृषीकेश तीर्थके हाथकी लिखी पाण्डुलिपियोंके आधारपर श्रीमन्मध्वाचार्यकी सारी कृतियोंको पण्डितप्रवर श्रीबन्नञ्जे गोविन्दाचार्यने 'सर्व-मूल-ग्रन्थाः' के नामसे पाँच सम्पुटोंमें सम्पादित किया है जिसे अखिल भारत माध्व महामण्डल, उडुपी ने (सन् १९६९-१९७४ में) प्रकाशित किया है। इनमेंसे प्रथम सम्पुटमें प्रस्थान-त्रयीका समावेश है जिसे यहाँ क्रमशः श्रीमद्भगवद्गीता-प्रस्थान, उपनिषत्प्रस्थान एवं सूत्र-प्रस्थान कहा गया है। द्वितीय सम्पुटमें इतिहास-प्रस्थान, तृतीय सम्पुटमें पुराण-प्रस्थान और चतुर्थ सम्पुटमें श्रुतिप्रस्थानका सन्निवेश है। पञ्चम सम्पुटमें श्रीमध्वके सङ्कीर्ण ग्रन्थ सङ्कलित हैं।

उपर्युक्त प्रकारसे, व्याख्येय ग्रन्थोंकी वृद्धिके साथ ही प्रस्थानोंकी संख्यामें भी वृद्धि होते जानेसे अव्यवस्था हो सकती है यह सोचकर कई बार ग्रन्थके नामके आधारपर नहीं प्रत्युत उसकी विधाके आधारपर प्रस्थानका नामकरण व्याख्यात किया जाता है। इस दृष्टिसे श्रुति-प्रस्थानके अन्तर्गत उपनिषदोंका, तर्क-प्रस्थानके अन्तर्गत ब्रह्मसूत्रका एवं स्मृति-प्रस्थानके अन्तर्गत भगवद्गीताका समावेश किया जाता है। इस प्रकार श्रुति, तर्क एवं स्मृति के स्वरूपमें जो भेद है उसपर बल देते हुए प्रस्थानत्रयीकी परिकल्पना की गयी है। इन तीन प्रस्थानोंको ही मानना हो तो अन्यत्र इतिहास-प्रस्थानके रूपमें स्वीकृत महाभारत एवं पुराण-प्रस्थानके रूपमें निरूपित श्रीमद्भागवत, एवं विष्णु, मत्स्य आदि पुराणों का भी स्मृति-प्रस्थानमें ही सन्निवेश करना होगा, यद्यपि इसका औचित्य एक विचारणीय विषय होगा।

वस्तुतः वेदान्तके प्रस्थान वेदान्तसिद्धान्तकी यात्राके महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं। श्रुतिप्रस्थान वह स्थिति है जहाँ वेदान्त अपरोक्षानुभव-मूलक है, तर्कप्रस्थान वह पड़ाव है जहाँ वेदान्त उन अनुभवोंको हृदयङ्गम करनेके लिए वाक्यार्थ-विचारका रूप ग्रहण कर लेता है और स्मृति-प्रस्थान वह पड़ाव है जहाँ वह औपनिषद-परम्परासे भिन्न परम्पराओंसे, तथा इसी क्रममें वैष्णव-धर्म-दर्शनसे समञ्जस स्वरूप ग्रहण करता है।

इस दृष्टिसे इन भागवतादि परम्पराओंके संवाहक इतिहास-पुराणादिरूप ग्रन्थोंका स्मृति-प्रस्थानमें ही निर्बाध समाहार हो जाता है। इस दृष्टिको न स्वीकार कर वेदान्त-प्रासादको उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता के स्तम्भोंपर टिका हुआ माननेका आग्रह उपनिषदोंकी निरपेक्षतापर प्रश्नचिह्न लगा देता है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता—जिसके 'ब्रह्मसूत्र-पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' (गीता १३.४) इत्यादिवाक्यमें ब्रह्मसूत्रका स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है—में पौर्वापर्य-निर्धारण दुःशक नहीं है। और इसका सीधा सा अर्थ यह है कि एक स्थितिमें केवल श्रुतिप्रस्थान था, शेष दोनों नहीं थे। क्या यह स्तम्भ कमज़ोर था कि अन्य स्तम्भोंको कालक्रमसे वेदान्त-प्रासादका भार सँभालनेके लिए खड़ा करना पड़ा? 'परवर्ती लोगोंका आध्यात्मिक स्तर वह नहीं रह गया था, अतः उनके अधिकारके अनुरूप नये प्रस्थानोंका सृजन हुआ,' यह कहकर वेदान्त-सिद्धान्तकी यात्राकी इतिहासात्मकता स्वीकार करना प्रकारान्तरसे इन प्रस्थानोंको वेदान्तमें युगानुरूप स्वरूप-परिवर्तनकी अपेक्षाका पूरक मानना ही कहा जायेगा।

इस प्रकार स्मृति-प्रस्थान वेदान्त-सिद्धान्तकी यात्रामें उस पड़ावका प्रतीक है जिसमें वह समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके वैष्णव-धर्मके साथ अपना समन्वय एवं सामञ्जस्य स्थापित करता है और वैष्णव-वेदान्तके विकासका पथ प्रशस्त करता है। इस सन्दर्भमें श्रीमध्वाचार्यके वे वाक्य ध्यान देने योग्य हैं जिनमें उन्होंने वेदान्त-सिद्धान्तको हृदयङ्गम करनेके लिए प्रमाणरूपमें ग्राह्य ग्रन्थोंका परिगणन करते हुए उन्हें वेदान्तार्थ-प्रतिपादनमें प्रमाण माननेका यह कारण बताया है कि उनमें विष्णुकी सर्वातिशायिताका निरूपण किया गया है, 'एतेषु विष्णोराधिक्यमुच्यते[1]।' अपने श्रीबृहदारण्यक-भाष्यमें प्राचीन ग्रन्थोंके वाक्य उद्धृत करते हुए श्रीमध्वाचार्य स्पष्ट करते हैं कि वस्तुतः सारे शास्त्रोंका प्रयोजन विष्णुकी सर्वोत्तमताका ज्ञान प्रदान करना है। अतएव शास्त्रका लक्षण ही यही है कि 'जो विष्णुकी सर्वातिशायिताका साधक हो उसे शास्त्र कहते हैं,' और जो इसका विरोधी हो वह दुःशास्त्र है। सारे

---

१. ऋगादयश्च चत्वारः पञ्चरात्रं च भारतम्।
मूलरामायणं ब्रह्मसूत्रं मानं स्वतः स्मृतम्॥
अविरुद्धं तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा।
एतद्विरुद्धं यत्तु स्यान्न तन्मानं कथञ्चन॥
वैष्णवानि पुराणानि पञ्चरात्रात्मकत्वतः।
प्रमाणान्येव मन्वाद्याः स्मृतयोऽप्यनुकूलतः॥
एतेषु विष्णोराधिक्यमुच्यतेऽन्यत्र न क्वचित्।
अतस्तदेव मन्तव्यं नान्यथा तु कथञ्चन॥ (म० ता० नि० १.३०–३३)।

शास्त्रोंका निर्णीत अर्थ केवल इतना ही है कि विष्णु सर्वातिशायी हैं और उनकी भक्तिसे मोक्ष मिलता है[1]। इसीलिए उन्होंने प्रमाणोंका स्वरूप व्यास-स्मृतिके वाक्यके प्रामाण्यसे तदनुरूप ही निर्धारित किया है[2]।

इसीलिए जहाँ एक ओर श्रीमद्भगवद्गीताको 'उपनिषद्' या 'उपनिषदोंका सार' कहा जाता है वहीं दूसरी ओर एक अन्य परम्परा उसे 'पाञ्चरात्र शास्त्रका संक्षेप'[3] घोषित करती है। इस दृष्टिसे विचार करनेवाले कुछ विद्वानोंने तो थोड़ा और आगे बढ़कर ब्रह्मसूत्रोंकी रचनाके भागवत-प्रभावमें किये गये होनेकी बात भी कही है[4]। इस सम्बन्धमें डॉ० राधाकृष्णन्के भगवद्गीताके उपदेशको भागवत-धर्मके सिद्धान्तोंसे अभिन्न माननेके मतका उल्लेख करते हुए डॉ० वी० एन्० के० शर्माने लिखा है[5] कि ब्रह्मवैवर्त-[6]पुराणके प्रामाण्यके आधारपर श्रीमध्वाचार्यने गीताके पाञ्चरात्र-सिद्धान्तोंका संक्षेप होनेका मत प्रतिपादित किया है। माध्व-परम्पराके अनुगामी डॉ० शर्मा भगवद्गीताको पाञ्चरात्र-शास्त्रका संक्षेप बताते हुए पाञ्चरात्रोंकी दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराके उत्सके रूपमें एकायन श्रुतियोंका उल्लेख करते हैं[7]। छान्दोग्योपनिषद्में नारद सनत्कुमारके पूछनेपर उन्हें अपने द्वारा अधीत जिन शास्त्रोंका

---

१. 'विष्णोः सर्वोत्तमत्वस्य ज्ञानार्थं शास्त्रमिष्यते।
अतस्तत्साधकं शास्त्रं दुःशास्त्रं तद्विरोधि यत् ॥' इति ब्रह्माण्डे।
'विष्णोः सर्वोत्तमत्वं च तद्भक्त्या मोक्ष एव च।
शास्त्रार्थ इति निर्दिष्टः सर्व-शास्त्रार्थ-निर्णयात् ॥' इति पाद्मे।
(सर्वमू०, सम्पु० १, पृ० २६८)।

२. 'वेदाश्चैवेतिहासाश्च गीता (पुराणं ?) भागवतं तथा।
मूल-प्रमाणमुद्दिष्टं मीमांसा च तथोत्तरा ॥
एतेषामविरोधे तु मानमन्यदुदीरितम्।
एतेषां तु विरुद्धं यदप्रमाणं विदो विदुः ॥' इति व्यासस्मृतौ ॥ (वहीं)।

३. '''गीता च तच्छास्त्र-संक्षेप इति हीरितम् ॥'
(अनुव्याख्यान, २.२ श्लोक २८७, सर्वमू० सम्पु० १, पृ० ८८)।

४. द्र०, H. D. पृ० ६०. ५. द्र०, वही, पृ० ४६.

६. 'ब्रह्मेन्द्र-रुद्र-सूर्याणां यद्दत्तं विष्णुना पुरा।
पञ्चरात्रात्मकं ज्ञानं व्यासोऽदात् पाण्डवेषु तत् ॥
तेषामेवावतारेषु सेनामध्येऽर्जुनाय च।
प्रादाद् गीतेति निर्दिष्टं सक्षेपेणायुयुत्सवे ॥' (द्र०, H.D. पृ० ४६ में उद्धृत जयतीर्थकृत अनुव्याख्यानटीका न्यायसुधा ii पृ० ४२५.)

७. द्र०, H. D. पृ० ४६ एवं ३५.

विवरण देते हैं उनमें 'एकायन' भी आया है। यद्यपि श्रीशङ्कराचार्यने इस पदका अर्थ 'नीतिशास्त्र'[1] किया है तथापि सामसंहिताके 'वेदसारोपसंहृतिः एकायनमिति प्रोक्तम्[2]' इत्यादि वाक्यके प्रामाण्यसे माध्व-परम्परामें इसे एकायन श्रुतियोंका सूचक माना जाता है[3]। इसी प्रकार बृहदारण्यकमें उल्लिखित इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान एवं व्याख्यान को यद्यपि श्रीशङ्कराचार्य 'एवमष्टविधं ब्राह्मणम्' (बृ० शा० २.४.१०) कहकर ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे अभिन्न मान लेते हैं तथापि माध्व विद्वान् यहां उल्लिखित 'सूत्रों' को पाञ्चरात्र-साहित्यका सूचक मानते हैं[4]। श्रीमध्वाचार्यने हयग्रीव-संहिताके प्रामाण्यसे बृहदारण्यकके इस वाक्यमें 'पञ्चरात्र'-संहिताओंके उल्लेखका सङ्केत किया है[5]। एफ्. ओटो श्रेडरने दो सौ से भी अधिक पाञ्चरात्र-संहिताओंका नामोल्लेख करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि पाञ्चरात्र-संहिताओंका साहित्य १५ लाख श्लोकोंसे भी अधिक था। वे लिखते हैं कि श्रीप्रश्न (२.४१), विष्णुतिलक (१.१४० एवं १४१) तथा अन्य ग्रन्थोंके अनुसार मूल पाञ्चरात्र-साहित्य डेढ़ करोड़ श्लोकोंसे भी अधिक था[6]। डॉ० बी० एन्० के० शर्माकी धारणा है[7] कि बृहदारण्यकके उक्त प्रसङ्गमें प्रयुक्त 'श्लोक' शब्द इन पाञ्चरात्र श्लोकोंका ही सूचक है।

इस प्रकार एक विचार-परम्परा यह मानती है कि वैदिक देवता उरुक्रम विष्णुकी उपासनाने पाञ्चरात्र एवं भागवत परम्पराओंसे गुज़रते हुए जो स्वरूप ग्रहण किया वही वैष्णव धर्म कहलाया और इसी सर्वशः वेदानुसारी धर्मका वेदान्त-प्रस्थानरूप भगवद्गीतामें प्रतिपादन है। वैष्णव-वेदान्तके सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्योंने भगवद्गीताकी व्याख्या इसके एवं वैष्णव-धर्मके इस पूर्वोक्त स्वरूपको पूर्वगृहीत करके ही लिखी है।

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथने विद्वन्मण्डनमें वैष्णव-धर्मकी जिस परिकल्पनाको पूर्वगृहीत कर अपने नित्य-लीला-वाद आदि सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है वह भी वैष्णव-धर्मको पूर्णतः वेदाश्रित एवं वैदिक-परम्परा-प्राप्त माननेका पक्ष ही है।

---

१. द्र०, छा० शा० ७.१.२.
२. द्र०, सर्वमू० सम्पु० १, पृ० ४४५.
३. द्र०, H. D. पृ० ३५.
४. वहीं।
५. 'तस्माद् वेदाः समुत्पन्ना विद्याऽऽख्या मूलिका श्रुतिः।
सर्वोपनिषदश्चैव पञ्चरात्राख्य-संहिताः।
ब्रह्मसूत्राणि वेदानां व्याख्यास्तासां च विस्तरः।
सर्वमेतज्जगच्चैव निस्सृतं तुरगाननात्॥—' इति हयग्रीव-संहितायाम्।
(सर्वमू० सम्पु० १, पृ० २९४)।
६. द्र०, I.P.A. पृ० १४.
७. द्र०, H.D. पृ० ३५.

इसीलिए वे गोकुल, वृन्दावन एवं गायों को ऋगादि संहिताओंके मन्त्रोंमें दिखाने की चेष्टा करते हैं।

* १.१.४ * भारतीय-धर्मोंके इतिहासके आधुनिक विद्वान् वैष्णव-धर्मके स्वरूपकी इस पारम्परिक अवधारणासे सहमत नहीं हैं। इन तत्त्वान्वेषी गवेषकोंके सुचिन्तित मतके अनुसार वैष्णव-धर्मको वैदिक-कालमें यज्ञके अङ्गके रूपमें की जानेवाली वैदिक देवमण्डलके एक अनतिमहत्त्वपूर्ण देवता विष्णुकी उपासनासे अभिन्न या तन्मूलक समझना इतिहास-सम्मत, तर्क-सङ्गत या युक्ति-युक्त नहीं है[1]। वस्तुतः वैदिक देव-मण्डलके प्रमुख देवता इन्द्र हैं और विष्णु 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' (ऋ० १.२२.१९) या उपेन्द्र ही हैं तथा उनकी स्तुति कहीं इन्द्रके साथ (ऋ० १.१५५; ६.६९) और कहीं मरुद्गणोंके साथ (ऋ० ५.८७) की गयी है। सम्पूर्ण ऋक्संहितामें उनकी स्तुतिमें स्वतन्त्रतया पठित प्रायः छः सूक्त ही मिलते हैं। भारतीय धर्मोंके इतिहासमें वैष्णव-धर्म वैदिक देवता उरुक्रम विष्णुकी उपासना-मात्र नहीं, प्रत्युत एक स्वतन्त्र धर्म है जिसकी प्रतिष्ठा यमुना-नदीके तटवर्ती प्रदेशमें निवासशील देवकीपुत्र वासुदेव कृष्णने की थी[2]। कृष्णका उल्लेख ऋग्वेद-संहिता[3] एवं सामवेद-संहिता[4] में इन्द्रके विरोधीके रूपमें मिलता है जिनकी दस हजार सेनाका नाश इन्द्रने अंशुमती नदी—जिसे इतिहासवेत्ता यमुनाका एक नामान्तर मानते हैं—के तटपर कर दिया था[5]। परवर्ती साहित्यके अनुसार 'किमस्माकं महेन्द्रेण गावः शैलाश्च देवताः'

---

१. द्र०, M.H.V. पृ० ३; C.H.I. Vol. IV. पृ० १११ आदि। २. वहीं।

३. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदीयानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त॥
द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ॥
अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थेऽधारयत् तन्वं तित्विषाणः।
विशो अदेवीरभ्याचरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे॥ (ऋ० ८.९६.१३–११५)।

४. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदीयानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नीहितिं नृमणा अधद्राः॥ (सा० ३२३)।

५. इन मन्त्रोंमें इन्द्रद्वारा मरुतों एवं बृहस्पति की सहायतासे कृष्णकी सेनाके संहारका ही उल्लेख है यह स्वीकार करते हुए परवर्ती वेदानुयायी व्याख्याकार 'कृष्ण' को असुर मानकर अपने 'इत्यर्थः' में इन्द्रद्वारा उनका भी वध सन्निविष्ट कर लेते हैं। सायण लिखते हैं 'असुरसेनाः··· जघान। तमवधीद् इत्यर्थः प्रसङ्गादवगम्यते।' (ऋ० सा० ८.९६.११५) यद्यपि अपने इस अर्थका स्वगोष्ठी-प्रसिद्ध होना स्वीकार करते हुए वे कहते हैं, 'केचिदन्यथा वदन्ति' (ऋ० सा० ८.९६.११३)।

(विष्णुपु० ५.१०.३६) कहनेवाले इन्हीं श्रीकृष्णने—जैसा कि विष्णु-पुराण एवं श्रीमद्भागवतपुराण में विस्तारसे निरूपित किया गया है—वैदिक देवमण्डलके प्रमुख देवराज इन्द्रका न केवल यज्ञ रुकवा दिया था अपितु उनके क्रुद्ध होकर व्रजको अतिवृष्टिसे जल-प्लावित कर देनेपर गोवर्द्धनोद्धारक रूपसे उनका मानमर्दन भी किया था। इतना ही नहीं उन्होंने इन्द्र और इन्द्राणी दोनोंको अपमानित कर पारिजात-हरण भी किया था। तृतीय वेदान्त-प्रस्थानरूप भगवद्गीता इन्हीं श्रीकृष्णके उपदेशके रूपमें उपन्यस्त की गयी है।

वासुदेव कृष्ण द्वारा प्रवर्तित धर्मके अनुगामियोंमें उनके लिए 'भगवान्' शब्दका प्रयोग रूढ हो जानेसे यह धर्म भागवत-धर्मके रूपमें प्रसिद्ध हुआ। इसीलिए विष्णु-पुराणमें कहा गया है कि 'भगवान्' शब्द श्रीवासुदेवका ही वाचक है, किसी अन्यका नहीं। जहां कहीं अन्यत्र इसका प्रयोग हुआ है वह उपचारतः गौण प्रयोग ही है, इसका मुख्य प्रयोग तो श्रीवासुदेवके लिए ही है[1]। पद्मतन्त्रमें 'भागवत' धर्म या सम्प्रदाय के पर्यायवाची कुछ शब्द,

'सूरिः सुहृद् भागवतः सात्वतः पञ्चकालवित्।
एकान्तिकस्तन्मयश्च पञ्चरात्रिक इत्यपि[2]॥'

इस श्लोकमें उल्लिखित मिलते हैं। महाभारतमें इस 'भागवत', 'सात्वत', 'एकान्तिक' एवं 'पञ्चरात्र' शब्दों द्वारा निरूपित धर्मका अनेकशः उल्लेख किया गया है। वहां उपरिचर वसुको सात्वत विधिका आश्रय लेकर भगवान्की पूजा करनेवाला एवं पञ्चरात्रवेत्ता महात्माओंकी शुश्रूषामें निरत महाभागवत कहा गया है[3]। जनमेजय—जो इस एकान्त-धर्मको नारायण-प्रिय एवं श्रेष्ठ कहते हैं[4]—वैशम्पायनसे इसकी उत्पत्त्यादिके सम्बन्धमें इस प्रकार पूछते हैं,

केनैष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणापि वा?
एकान्तिनां च का चर्या? कदा चोत्पादिता विभो?? (महा० १२.३४८.६-७)।

---

१. एवमेष महाञ्छब्दो मैत्रेय! भगवानिति।
परम-ब्रह्म-भूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः॥
तत्र पूज्य-पदार्थोक्ति-परिभाषा-समन्वितः।
शब्दोऽयं नोपचारेण त्वन्यत्र ह्युपचारतः॥ (विष्णुपु० ६.५.७६-७७)।

२. द्र०, **C.H.I. Vol. IV.** पृ० ११५.

३. यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद्राजा महान् वसुः। (महा० १२.३३७.१)।
सात्वतं विधिमास्थाय··· पूजयामास देवेशम्। (वही, १२.३३५.१९)।
पञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः। (वही, १२.३३५.२५)।

४. नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः। (महा० १२.३४८.४)।

श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनको इस धर्मका उपदेश दिये जानेके प्रसङ्गका उल्लेख करते हुए वैशम्पायन जनमेजयसे कहते हैं कि मैं तुम्हें समास-विधिसे अर्थात् संक्षेपमें इसे पहले ही (भीष्मपर्वान्तर्गत भगवद्गीता-पर्वमें) बता चुका हूँ[१]। इस धर्मका उपदेश कौरवों एवं पाण्डवों के युद्धके समय दोनोंकी सेनाओंके सन्नद्ध हो जानेपर अर्जुनको विमनायमान देखकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने दिया था[२]। वस्तुतः स्वयं वे ही इस धर्मके वेत्ता हैं[३]। इस प्रकार इस धर्मके वास्तविक संस्थापक भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं और भगवद्गीतामें इस धर्मके सिद्धान्तोंकी जो व्याख्या मिलती है वही सम्भवतः इस धर्मका उपलब्ध सर्वप्राचीन रूप है[४]।

विभिन्न भारतीय धर्मोंकी उत्पत्ति एवं उनके विकास के यथार्थ इतिहासका अपलाप करनेकी प्रवृत्ति भारतीय समाजमें घटित कोई आधुनिक युगकी नवीन घटना नहीं है। जैन, बौद्ध एवं वैष्णव आदि विभिन्न धर्म किसी न किसी रूपमें इसके शिकार हुए हैं। इसे स्पष्ट करनेके लिए हम यहाँ एक उदाहरण देने भरका स्थान निकाल लेना चाहते हैं। विष्णु-पुराणको वर्तमान स्वरूप मिलनेके समय तक जैन एवं बौद्ध धर्म भारतमें इस प्रकार सुप्रतिष्ठित हो चुके थे कि पुराण-प्रणेता पण्डित वैदिक-धर्मानुयायियोंको उनसे बचानेकी चिन्तासे उद्विग्न हो उठे थे। उस समय तक ये धर्म इतने प्राचीन नहीं हो गये थे कि इनकी उत्पत्ति एवं इनके विकास का इतिहास कालके गर्भमें विलीन हो गया रहा हो। भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध के ऐतिहासिक व्यक्तित्वोंका चित्र लोगोंके स्मृति-पटलसे लुप्त नहीं हुआ था और उनके उपदेशोंका आचरणमें अनुवाद करनेवाले सहस्रों उपदेशकों एवं लक्ष-लक्ष उपासकों की एक अविच्छिन्न परम्परा सजीव रूपमें वर्तमान थी। तथापि विष्णुपुराणकार[५], 'आर्हत एवं बौद्ध सम्प्रदायोंके अनुयायी इन नामोंसे क्यों प्रसिद्ध हुए' यह बताते हुए जो कपोल-कल्पित कारण लिखते हैं वह निश्चय ही यथार्थ इतिहासके अपलापकी पूर्वोल्लिखित प्रवृत्तिका ही एक उदाहरण है। उनके अनुसार देवताओंकी प्रार्थनापर विष्णुने अपने शरीरसे मायामोहको उत्पन्न किया जिसने दिगम्बर, बर्हिपिच्छ-धारी एवं मुण्डित-केश रूपमें जिन तपस्वियोंको उपदेश देते हुए 'अर्हत' शब्दका प्रयोग

---

१. एवंष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम !
कथितो हरिगीतासु समास-विधि-कल्पतः ॥ (महा० १२.३४८.११)।

२. समुपोढेष्वनीकेषु कुरु-पाण्डवयोर्मृधे ।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥ (महा० १२.३४८.८)।

३. तु०, 'पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम् ।' (महा० १२.३४९.६८)।

४. द्र०, **Barth : The Religions of India, p. 191.**

५. द्र०, विष्णुपु० ३.१८.

किया वे उस धर्मका पालन कर 'आर्हत'[१] एवं रक्ताम्बरधारी होकर जिन तपस्वियों-को उपदेश देते हुत 'बुद्धयत' पदका प्रयोग किया वे 'बौद्ध[२]' हो गये। आंजके विवेकी विचारक इन विवरणोंकी अविचारित-रमणीय कह कर उपेक्षा कर दे सकते हैं किन्तु विचारणीय यह है कि क्या वे भी इन्हें उपेक्षणीय समझकर इनके अनर्थकारी प्रभावसे अस्पृष्ट रहते रहे होंगे जिनके लिए ये लिखे गये थे और जिनके धर्मोपदेशक इसी भरत-भूमिके उन भागोंको जहां विपरीत विचार-धाराके लोगोंका बाहुल्य होता था पवित्रात्मा लोगोंके जाने या रहने योग्य भी नहीं समझते थे, जिनके स्मृतिकार ब्रह्मावर्त, मध्यदेश एवं आर्यावर्त की सीमाएं बताकर यह कह देते थे कि द्विजोंको प्रयत्नपूर्वक केवल इन्हीं प्रदेशोंमें रहना चाहिए, केवल शूद्र जीविकोपार्जनार्थ जिस किसी भी प्रदेशमें निवास कर सकता है[३], जिनके धर्मसूत्रकारोंने इसी देशके प्रदेश-विशेषमें जानेवालोंको पेरोंसे पाप करनेवाला घोषित कर उनके लिए प्रायश्चित्तका विधान कर रखा था,[४] और जिन्हें पुरोहितोंने,

'अङ्ग-बङ्ग-कलिङ्गांश्च सौराष्ट्र-मगधांस्तथा।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति॥'

इत्यादि कह कर आतङ्कित कर रखा था ?

धार्मिक इतिहासके प्रतिष्ठित विद्वान् श्रीहेमचन्द्र रायचौधुरीकी धारणा है[५] कि प्रारम्भमें वासुदेव कृष्ण द्वारा प्रतिष्ठापित इस धर्मके प्रति ब्राह्मणोंका दृष्टिकोण अच्छा नहीं था किन्तु कालान्तरमें वासुदेवोपासकों एवं ब्राह्मण-धर्मानुयायियों में सामञ्जस्य स्थापित हो गया फलतः विष्णु, नारायण, एवं वासुदेव का तादात्म्य—जिसका सङ्केत 'नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' (तै० आ० १०.१.६) इस गायत्रीमें भी मिलता है—हो जानेपर भारतीय वाङ्मयमें

---

१. दिग्वाससामयं धर्मो धर्मोऽयं बहुवाससाम्।
इत्यनेकान्तवादं च मायामोहेन नैकधा। तेन दर्शयता ···।
अर्हंतैतं महाधर्मं मायामोहेन ते यतः।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्॥ (विष्णुपु० ३.१८.१०-१२)।

२. विज्ञानमयमेवैतदशेषमवगच्छत। बुध्यध्वं मे वचः सम्यग्बुधैरेवमिहोदितम्॥
जगदेतदनाधारं भ्रान्तिज्ञानार्थ-तत्परम्। रागादिदुष्टमत्यर्थं भ्राम्यते भव-सङ्कटे॥
एवं बुध्यत बुध्यध्वं बुध्यतैवमितीरयन्। (विष्णुपु० ३.१८.१७–१९)।

३. द्र०, मनुस्मृति, २.१७–२४.

४. पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिङ्गान् प्रपद्यते।
ऋषयो निष्कृतिं तस्य प्राहुर्वैश्वानरं हविः॥ (बौधायन-धर्मसूत्र, १.२.१६)।

५. द्र०, M.H.V. पृ० ४–५.

भगवान्, हरि, नारायण, विष्णु एवं वासुदेव कृष्ण आदि शब्दोंका प्रयोग पर्यायवाचीके रूपमें होने लगा और इन वासुदेव या विष्णु को सर्वस्व माननेवाले वैष्णव कहे जाने लगे।

इस प्रकार वैष्णव-धर्मसे तात्पर्य उस धार्मिक-सम्प्रदायसे है जिसके अनुसार नारायण, हरि एवं वासुदेव कृष्ण आदि नामों द्वारा अभिहित किये जानेवाले विष्णु ही एकमात्र ईश्वर हैं। 'भगवान्' शब्द मुख्य-वृत्तिसे उन्हींका वाचक है। वे पुरुषोत्तम हैं[1], सारे संसारके पिता, माता, गुरु, भर्ता, सुहृद् एवं शरणद हैं[2], सभीके सब कुछ हैं[3]। वे अपेक्षा होनेपर आवश्यकतानुरूप शरीर धारण कर भक्तोंको अनुगृहीत करते हुए धर्म-रक्षा एवं दुष्टोंका संहार करते हैं[4]। उनके ऐसे अवतारोंमें दाशरथि राम एवं वासुदेव कृष्ण प्रमुख हैं।

इतिहासकारोंके अनुसार[5] उत्तर भारतके शक एवं कुषाण शासक प्रायः वासुदेवोपासना-विरोधी थे। सम्भवतः इस भागवत-धर्मविरोधी दृष्टिकोणके कारण ही इन शासकोंके वैष्णव राजाओंसे--जिनमें चन्द्र एवं गुप्त सम्राट् प्रमुख हैं—युद्ध भी हुए। गुप्त-सम्राटोंकी वैष्णव-धर्मके अभ्युत्थानमें बहुत कुछ वैसी ही भूमिका रही है जैसी बौद्ध-धर्मके उत्थानमें सम्राट् अशोककी। उनके शासन-कालमें वैष्णव-धर्मका सर्वतोमुखी विकास हुआ तथा पाञ्चरात्र संहिताओं एवं पुराणों के साहित्यकी बहुत समृद्धि हुई। हूणोंके आगमन एवं गुप्तसाम्राज्यके पतन के साथ ही उत्तर-भारतमें भागवत-धर्मका प्रभाव क्षीण हो गया किन्तु दक्षिण भारतमें यह लोक-धर्मके रूपमें फलता-फूलता रहा।

इस वैष्णव धर्मकी विकास-यात्रामें एक अन्य महत्त्वपूर्ण मीलका पत्थर दक्षिण भारतके आल्वार सन्तोंका युग है। इन सन्तोंके चार सहस्र भक्तिगीतोंका सङ्ग्रहरूप 'नालायिर-दिव्य-प्रबन्धम्' दक्षिण-भारतपर वैष्णव-धर्मके प्रभावका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। आल्वार द्रविड-देशीय वैष्णव-धर्मके भावनात्मक-पक्षके मूर्त स्वरूप हैं। इन सन्तोंकी वाणीके अध्ययनसे हमारी यही धारणा बनी है कि श्रीमद्भागवतमहापुराणकी रचना इन आल्वार-सन्तोंके भक्तिगीतोंसे आप्लावित प्रदेश--जिसे आज हम तमिल्नाडु नामसे अभिहित करते हैं—में हुई होगी। इस धारणाकी पुष्टि श्रीमद्भागवतकारके उन वाक्योंसे भी होती है जिनमें वे नारायण-परायण भगवद्भक्तोंके अन्यत्र विरल होने

---

१. अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। (गीता १५.१८)।
२. पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः। (गीता ९.१७)।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। (गीता ९.१८)।
द्र०, गीता ११.३८,४३ आदि। तु०, भाग० २.२.३६ आदि।
३. वासुदेवः सर्वम्। (गीता ७.१९)।
४. द्र०, गीता ४.७–८ आदि।
५. द्र०, M.H.V. पृ० ४–५.

एवं द्रविड-देशमें अधिक संख्यामें उपलब्ध होनेका उल्लेख करते हुए द्रविड-देशकी ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, कावेरी, प्रतीची एवं महानदी आदि पाण्ड्य, चोल, पल्लव एवं केरलीय प्रदेशोंमें प्रवहमान नदियोंके सम्बन्धमें कहते हैं कि इन पुण्यसलिला नदियोंका जल पीनेवाले प्रायः सभी लोग भगवान् वासुदेवके निर्मल-चित्त भक्त हैं[1]। श्रीशङ्कराचार्यने जब सनन्दनसे—जो बादमें श्रीशङ्कराचार्यसे संन्यास-दीक्षा ग्रहण कर श्रीपद्मपादाचार्यके नामसे प्रसिद्ध उनके प्रथम महत्त्वपूर्ण शिष्य बने—उनका परिचय पूछा था तो उत्तर देते हुए उन्होंने यही कहा था कि जिसका जल भगवान् श्रीहरिके चरणकमलोंकी भक्तिका मूल है उस पुण्यतोया कावेरी नदीका पावन प्रदेश चोल-देश ही मेरी मातृभूमि है[2]। श्रीमद्भागवत इन प्रदेशोंको भक्ति-रससे आप्यायित करनेवाले सरल-हृदय भावप्रवण आल्वार सन्तोंके लोकसेवित धर्मको वैदिक विष्णूपासकोंकी परम्परासे सम्बद्ध करनेका किसी भावुक भक्त एवं सिद्ध-सरस्वतीक संस्कृत-सेवी वैष्णव द्वारा किया गया एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है जिसमें विष्णु-सम्बन्धी वैदिक सूक्तोंके सम्यक् अवबोध-पूर्वक आल्वार सन्तोंके गीतोंको हृदयङ्गम कर वैष्णव-धर्मको उसकी समग्रतामें अद्भुत और अप्रतिम रूपसे उपस्थापित किया गया है।

* १.१.५ * अपने विकासके अगले चरणमें वैष्णव-धर्म आचार्योंके युगमें प्रवेश करता है। आल्वार सन्तोंने वैष्णव-धर्मके भाव-पक्षका पोषण किया था और आचार्योंने उसके शास्त्रीय-पक्षको सुदृढ आधार प्रदान कर पुष्ट किया। ये सभी आचार्य वैदिक-परम्पराके अनुयायी थे और इन्होंने विष्णुकी सर्वातिशायिताका वैदिक-परम्परासे समन्वय कर वैष्णव-धर्मको प्रचलित लोक-धर्मसे ऊपर उठाकर शास्त्रीय धर्मके रूपमें प्रतिष्ठित किया। एक ओर औपनिषद ब्रह्मवादके आग्रह और दूसरी ओर वैष्णव-धर्मके प्रति आसक्ति ने इन आचार्योंके दार्शनिक एवं धार्मिक चिन्तनको वैष्णव-वेदान्तका रूप दिया जिसमें औपनिषद सिद्धान्तके साथ वैष्णव-धर्मके समन्वयका प्रयास स्पष्ट परिलक्षित

---

१. कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण-परायणाः॥
क्वचित् क्वचित् महाराज! द्रविडेषु च भूरिशः।
ताम्रपर्णी नदी यत्र, कृतमाला, पयस्विनी॥
कावेरी च महापुण्या, प्रतीची च, महानदी।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर!
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः॥ (भाग० ११.५.३८–४०)।

२. पृष्टो बभाण गुरुमुत्तरमुत्तरज्ञो विप्रो गुरो! मम गृहं बुध-चोल-देशे।
यत्रापगा वहति पुण्य-कवेर-कन्या यस्याः पयो हरि-पदाम्बुज-भक्ति-मूलम्॥
(श्रीशङ्कर-दिग्विजयः ६.४)।

होता है। कभी-कभी तो इन दोनोंको विविक्ततया बुद्धिस्थ कर, समन्वित करनेकी उनकी प्रवृत्तिको सीधे-सादे वाक्योंमें स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है। उदाहरणार्थ विद्वन्मण्डनकारके पिता श्रीवल्लभाचार्य अपने तत्त्वार्थदीप-निबन्धकी प्रकाश-नाम्नी स्वोपज्ञ-टीकामें ब्रह्मकारणतावादके औपनिषद मतको वैष्णव-धर्मके सिद्धान्तोंसे समन्वित कर पुरस्कृत करते हुए लिखते हैं, 'वैदिकस्तु एतावानेव सिद्धान्तः। वैष्णवानुसारेण किञ्चित्साधनमधिकमाह।' (तत्त्वा० प्र० १.२३)।

औपनिषद ब्रह्मवाद और वैष्णव ईश्वरवाद को साथ-साथ स्वीकार करनेकी प्रवृत्तिके दर्शन हमें भगवद्गीतामें ही हो जाते हैं। इन दोनों प्रवृत्तियोंको विविक्त रूपमें न देख सकनेवालेके लिए गीताके अनेक अन्तर्विरोधोंका समाधान दुःशक हो जाता है। इस कथनके स्पष्टीकरणके लिए हम यहां गीताकी इन दोनों प्रवृत्तियोंकी संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं।

औपनिषद-परम्पराका मुख्य प्रतिपाद्य क्या है यह विचार करते हुए प्रोफेसर् मैक्समूलर्ने अपने **'Hibbert Lectures'** में (पृ० ३४० पर) कहा है कि उपनिषदोंका प्रतिपाद्य सारी याज्ञिक क्रियाओंकी नितान्त निस्सारताका ही नहीं अपितु धूर्तताका भी दिग्दर्शन कराना, जिसका उद्देश्य लाभ या फल प्राप्त करनेकी इच्छा या आशा करना हो ऐसे प्रत्येक यज्ञ-कर्मकी निन्दा करना, देवताओंकी सत्ताका नहीं तो कमसे कम उनके असाधारण एव अतिरञ्जित महिमामय स्वरूपका निषेध करना तथा यह शिक्षा देना है कि मोक्षका एक ही मार्ग है और वह जीवके परमात्मत्वको पहचानकर उसे ही शरण्य मानकर उसीमें स्थित रहनेमें, उसीमें शान्ति खोजनेमें है[1]। उपनिषदोंके सम्बन्धमें प्रकट किये गये प्रोफेसर् मैक्समूलर्के उपर्युक्त विचार श्रीमद्भगवद्गीताके उन अंशोंपर भी अविकल रूपसे लागू होते हैं जिन अंशोंमें भगवद्गीतामें औपनिषद परम्पराका समाहार किया गया है। इस दृष्टिसे वेदों और उनमें प्रतिपादित यज्ञ-प्रधान धर्म के प्रति भगवद्गीताके दृष्टिकोणपर विचार करें तो हम पायेंगे कि भगवद्गीता-कार वेद-वाद-रत नासमझ लोगों द्वारा आकर्षक शब्दावलीमें प्रतिपादित त्रैगुण्य-विषय वेदोंकी जन्म-कर्म-फल-प्रद एवं स्वर्गपर क्रियाओंसे निर्वेद प्राप्तकर निर्द्वन्द्व एवं निर्योग-क्षेम होकर[2] ब्राह्मी-स्थितिमें स्थित रहनेका आह्वान करते

---

१. द्र०, **B.G., Int.** पृ० १६.

२. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ (गीता २.४२-४५)।

हैं। उनके अनुसार त्रयी-धर्मका आश्रय ग्रहण कर कामनाओंकी उपासना करने वाला पुनर्जन्मरूप बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता[1]। वे अर्जुनको 'निस्त्रैगुण्य' होनेके लिए प्रेरित करते हुए[2] समत्वबुद्धिरूप-योगको प्राप्त करनेके लिए उत्साहित करते हैं[3]। उनके अनुसार भगवद्गीतामें प्रतिपादित इस योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मको अतिक्रान्त कर जाता है[4]।

इस प्रकार उपनिषदोंमें प्रतिपादित ब्राह्मी-स्थिति—जिसमें व्यक्ति जय-पराजय, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय एवं सुख-दुःख आदिके द्वन्द्वोंसे ऊपर उठकर समत्वबुद्धि-सम्पन्न होकर ब्रह्मात्मैक्यानुभव करता है—का निरूपण भगवद्गीतामें औपनिषद-परम्परासे गृहीत और इसके उपनिषत्त्वका आपादक माना जा सकता है। गीताके 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' (गीता ९.२९) एवं 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः' (गीता ५.१५) आदि वाक्योंकी व्याख्या इसी दृष्टिको स्वीकार कर की जा सकेगी।

उपर्युक्त औपनिषद ब्रह्मवादके साथ ही भगवद्गीता वैष्णव ईश्वरवादकी प्रतिष्ठा करती है जहाँ श्रीकृष्ण अपनेको क्षर और अक्षर दोनोंसे अतीत साक्षात् पुरुषोत्तम बताते हैं[5] और इस पुरुषोत्तमत्वकी पुष्टि केवल शब्दोंसे ही नहीं अपितु विश्वरूप-प्रदर्शन द्वारा भी करते हैं। इस दृष्टिसे वे द्वन्द्वातीत निर्विशेष ब्रह्ममात्र नहीं प्रत्युत भक्तिगम्य, साधु-संरक्षक, दुष्ट-दलन-कर्ता और शरणागति के उपदेष्टा हैं जो भक्तोंके सर्वस्व हैं। वे 'नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः' (गीता ५.१५) वाले परमात्मा ही नहीं हैं जो भोग तो क्या ग्रहण भी नहीं कर सकता। वे तो सारे यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं जो स्वयं कहते हैं,
'अहं हि सर्व-यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।' (गीता ९.२४)। गीताके अनुसार शान्तिकी प्राप्ति इस भोक्ताके ज्ञानसे होती है[6]। वह कृपा करके अपने भक्तको दिव्य

---

१. एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते। (गीता ९.२१)।

२. त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। (गीता २.४५)।

३. द्र०, 'तस्माद्योगाय युज्यस्व' (गीता २.५०) एवं 'तस्माद्योगी भवार्जुन' (गीता ६.४६) आदि।

४. जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द-ब्रह्मातिवर्तते। (गीता ६.४४)।

५. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (गीता १५.१८)।

६. भोक्तारं यज्ञ-तपसां सर्व-लोक-महेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ (गीता ५.२९)।

दृष्टि देकर अपने विश्वरूपका दर्शन करा देता है[1], किन्तु उसके ऐसे प्रिय भक्तोंके अतिरिक्त कोई अन्य उसके इस स्वरूपका कथमपि दर्शन नहीं कर सकता[2]।

यह वैष्णव ईश्वरकी अवधारणा,

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' (गीता ९.२९) कहनेवाले ब्रह्ममें ही परिसमाप्त नहीं हो जाती प्रत्युत,

'मय्यर्पित-मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।' (गीता १२.१४),

'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' (गीता १२.१६), 'भक्तिमान्य. स मे प्रियः' (गीता १२.१७), 'भक्तिमान्मे प्रियो नरः' (गीता १२.१९), 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' (गीता १२.२०) एवं 'स च मम प्रियः' (गीता ७.१७) आदि कह कर प्रियके स्वरूपका निरूपण भी करती है। श्रीकृष्ण अर्जुनको अपना 'प्रिय'[3] तथा भगवद्गीताके सन्देशको भगवद्भक्तों तक पहुँचाने वालेको अपना सर्वाधिक प्रिय कार्य करनेवाला सबसे अधिक प्रिय व्यक्ति[4] कहते हैं। अन्यत्र वे कुछ लोगोंको निरन्तर आसुरी योनियोंमें डालते रहने और अपनी प्राप्ति न होने देने की बात भी कहते हैं[5]। औपनिषद ब्रह्मके साथ ही भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले, कृपालु एवं अधर्म-नाशके लिए सतत सचेष्ट ईश्वरकी अवधारणाका गीतामें युगपदुपलम्भ न माननेपर एक ओर 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः' (गीता ५.१५) और दूसरी ओर 'भोक्तारं यज्ञ-तपसां' (गीता ५.२९) एवं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (गीता ९.२४) आदि श्लोकोंमें उपलभ्यमान विरोधका तथा इसी प्रकार एक ओर 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' (गीता ९.२९) और दूसरी ओर 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' (गीता १२.१६) आदि एवं 'क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' (गीता १६.१९) आदि श्लोकोंमें विद्यमान विरोधका बुद्धिग्राह्य समाधान कर सकना दुःशक है।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मु० ३.२.३) के अवबोध-पूर्वक 'क्षुरस्य

---

१. न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ (गीता ११.८)।

२. न वेद-यज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरु-प्रवीर ॥ (गीता ११.४८)।

३. इष्टोऽसि मे दृढमिति···प्रतिजाने प्रियोऽसि मे। (गीता १८.६४–६५)।

४. य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ (गीता १८.६८–६९)।

५. गीता १६.१८–२०.

धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' (क० १.३.१४) इत्यादि वाक्योंमें निरूपित दुर्गम मार्गका अवलम्बन कर पुरुषकार-पुरस्सर ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिकी औपनिषद ब्रह्मवादकी प्रवृत्ति एवं अनुग्रह-विग्रह परमेश्वरको सर्व-समर्पण-पूर्वक उनकी अहैतुकी भक्तिके भावमें लीन हो जानेकी वैष्णव ईश्वरवादकी प्रवृत्ति के युगपदुपस्थापनकी भगवद्गीतामें मिलनेवाली दृष्टि विष्णु-पुराण, श्रीमद्भागवत-महापुराण, वैष्णव वेदान्ताचार्योंकी कृतियों एवं सन्त कबीरदासकी,

'बहु बन्धन सों बँधि रहा एक बिचारा जीव।
की बल छूटै आपने की रे छुड़ावै पीव॥'

इत्यादि उक्तियों में भी मिलती है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सूचित होता है कि वैदिक कर्मोंसे प्राप्य फलोंसे असन्तुष्ट मनीषियोंकी चिन्तनधारा द्विधा प्रवाहित हुई। एक विचारधारामें, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २.४.५; ४.५.६) तथा 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' (मु० २.२.५) इत्यादि कहकर आत्म-साक्षात्कारको परम-पुरुषार्थ माना गया और दूसरी विचारसरणिमें परमात्म-साक्षात्कार या भगवत्साक्षात्कार पर प्रकर्ष देते हुए, एक ऐसे सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया जिसकी परिणति,

'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः।' (भाग० १.७.१०)।
'तस्माद् भारत! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्॥' (भाग० २.१.५) की भावनामें हुई। यह दूसरी विचारधारा ही वैष्णव-धर्मके रूपमें विकसित हुई।

* १.१.६ * वैदिक धर्म कर्म-प्रधान धर्म था जिसमें देवताओंको भी कर्मका अङ्गभूत ही माना जाता था। उसमें वास्तविक फलदातृत्व भी कर्मनिष्ठ ही समझा जाता था, देवताधीन नहीं[1]। कर्मके स्वरूप, भेद, अधिकार एवं फल का निर्धारण श्रुतिबलसे किया जाता था[2]। इस कर्मका स्वरूप था देवताके प्रति द्रव्यका उत्सर्ग[3]। वैदिक

---

१. गुणत्वेन देवता-श्रुतिः। (मी० ८.१.३४)। कर्मैव फलं ददाति न देवता। यागे गुणभूता देवता। तस्याः दातृत्वं स्तुत्योच्यते। (मी० शाब० ८.१.३४)।

२. "कर्म श्रुतिमूलमित्युक्तं, 'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्म' (मी० १.१.२) इति।" (मी० शाब० २.३.१३)।
कर्मणः फल-साधनत्वं शास्त्रैकसमधिगम्यम्। (जैमिनीयन्यायमालावि० ६.३.२)।
कर्म-फल-विपाक-सूचनं वेदमूलम्। (तन्त्रवार्तिकटीका न्यायसुधा, पृ० १३०)।

३. कर्म देवतां प्रति द्रव्यस्य उत्सर्गः। (मी० शाब० ८.१.३२)।

कर्मोंके द्वारा प्राप्य फलोंके वेदोक्त होनेके कारण उन कर्मोंका नियमन वेदवाक्योंसे ही होता था।

जैसा कि मीमांसा-दर्शनके ग्रन्थोंमें उपलभ्यमान ईश्वर-निराकरणसे स्पष्ट है वैदिक-धर्ममें यागके अङ्गभूत अनेक देवता तो स्वीकार किये गये थे किन्तु एक ईश्वरकी अवधारणा स्वीकार नहीं की गयी थी। वैष्णव-धर्ममें एक ईश्वरकी अवधारणा पर बल दिया गया[1], उसे क्षर एवं अक्षर दोनोंसे अतीत पुरुषोत्तम कहा गया[2] और सभी देवताओं आदिको उसकी विभूतिके रूपमें स्वीकार किया गया[3]। इस प्रकार वैदिक-धर्ममें जो स्थान कर्मका था वैष्णव-धर्ममें उस पर ईश्वरकी प्रतिष्ठा हो गयी। कर्म, उपासना, ज्ञान एवं भक्ति सभी को ईश्वरकी प्राप्तिका साधन मानकर वैष्णव-धर्ममें भगवान् विष्णुको यज्ञेश[4], उपास्य, ज्ञेय एवं भजनीय बताया गया। यद्यपि भगवान् विष्णुको यज्ञेश कहा गया है तथापि भगवान्के पर-रूपकी दृष्टिसे विचार करते हुए यज्ञोंको भगवद्विभूतिपरक ही माना गया है, साक्षाद्भगवत्स्वरूप-परक नहीं[5]।

वैदिक-धर्ममें भक्तिके विषय देवता हैं और वैष्णव-धर्ममें स्वयं देवाधिदेव भगवान् श्रीहरि। वैदिक धर्ममें मनुष्यों एवं देवताओं के परस्पर-सम्बन्धकी जो अवधारणा है वैष्णव-धर्ममें वह नितान्त भिन्न रूपसे मिलती है। इस कारण भी दोनों धर्मोंकी अवधारणाओंमें अन्तर आया है।

कश्यपकी तेरह स्त्रियोंमेंसे मनुके पुत्र मानव, अदितिके देवगण, दितिके हिरण्यकशिपु आदि दैत्य एवं दनुके दानव थे (विष्णुपु० १.१५)। एक ही पिताकी सन्तान होनेके कारण ये परस्पर भाई थे और उत्तराधिकारके लिए आपसमें झगड़ते रहते थे। युद्धकी स्थिति आनेपर प्रायः मनु एवं अदिति के पुत्र (अर्थात् मानव

---

१. द्र०, 'सकलमिदमहं च वासुदेवः
परम-पुमान् परमेश्वरस्स एकः।' (विष्णुपु० ३.७.३२)।

२. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (गीता १५.१८)।

३. सर्वे च देवा मनवस्समस्तास्सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः॥ (विष्णुपु० ३ १.४६)।

४. अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः। (भाग० ४.१२.१०)।
यज्ञैस्त्वमिज्यसेऽचिन्त्य सर्वदेवमयाच्युत।
त्वमेव यज्ञो यष्टा च यज्वनां परमेश्वर!! (विष्णुपु० ५.२०.९७)।

५. क्रतुराजेन गोविन्द! राजसूयेन पावनीः।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो!! (भाग० १०.७२.३)।
द्र०, 'भक्तिहंस' की हमारी व्याख्याके पृ० ३०–३१.

एवं देवता) एक पक्षमें हो जाते थे तथा दिति एवं दनु के पुत्र (अर्थात् दैत्य एवं दानव) दूसरे पक्षमें। इनके बलाबलमें भी न्यूनाधिक्य हुआ करता था। कभी एक पक्ष विजय प्राप्त कर इन्द्र अर्थात् स्वर्गलोकका राजा बन जाता था तो कभी दूसरा पक्ष[1]। देवता एवं मानव एक-दूसरेकी सहायता करते रहते थे। मानवोंका देव-दानवादि सभीसे सम्पर्क बना हुआ था और वे न केवल स्वर्गलोक अपितु नागलोक आदिको भी जाया करते थे। रेवत-पुत्र रैवत अपनी कन्याके योग्य वर पूछनेके लिए उसे साथ लेकर ब्रह्मदेवके पास ब्रह्मलोक गये थे (विष्णुपु० ४.१.६५-६७) और मान्धाताके पुत्र पुरुकुत्सने नागोंकी प्रार्थनापर नागलोकमें जाकर मौनेय नामक गन्धर्वोंको मारकर नागोंको अभयदान दिया था (विष्णुपु० ४.३.१-१५)। मानव देव-दानवादिके युद्धोंमें भाग लेनेके लिए यदा-कदा स्वर्गलोक जाया करते थे। खट्वाङ्गने देवासुर-सङ्ग्राममें देवताओंकी ओरसे युद्ध कर असुरोंका संहार किया था (विष्णुपु० ४.४.७६)। देवताओंने जब असुरोंके विरुद्ध युद्धमें पुरञ्जयसे सहायता माँगी तो पुरञ्जयने इस शर्तपर मदद करना स्वीकार किया कि वह देवराज इन्द्रके कन्धोंपर सवार होकर युद्ध करेंगे। सारे देवताओं सहित देवेन्द्रने इसे सहर्ष स्वीकार किया और तब पुरञ्जय असुरोंको युद्धमें पराजित कर ककुत्स्थ नामसे प्रसिद्ध हुए (विष्णुपु० ४.२.२७-३२)। आयुके पुत्र रजिके पास तो असुर एवं देवगण दोनों ही युद्धमें सहायता माँगनेके लिए उसी प्रकार गये थे जैसे कौरव-पाण्डव दोनों ही श्रीकृष्णके पास पहुँचे थे। पहले दैत्य पहुँचे। रजिने उनकी प्रार्थनाके उत्तरमें शर्त रखी, 'यदि देवताओंको जीतनेपर मैं आप लोगोंका इन्द्र (अर्थात् राजा या स्वामी) हो सकूँ तो आपके पक्षसे लड़ सकता हूँ।' दैत्योंने दो टूक उत्तर दिया, 'हमारी कथनी-करनीमें भेद नहीं है; हम कुछ कह कर उससे भिन्न आचरण करनेवाले नहीं हैं। हमारे इन्द्र तो दैत्यराज प्रह्लाद हैं और युद्धका हमारा यह सारा उद्योग उन्हींके लिए है।' रजिने दैत्योंकी ओरसे लड़ना अस्वीकार कर दिया तो दैत्य चले गये। तदनन्तर देवगण पहुँचे और रजिसे अपनी ओरसे लड़नेकी प्रार्थना करने लगे। रजिने अपनी शर्त उनके सामने दुहरा दी और देवताओंने कह दिया, 'हाँ, हाँ, जीत जानेके बाद आप ही हमारे इन्द्र होंगे।' रजिने देवताओंकी ओरसे युद्ध कर दैत्योंको परास्त कर दिया। तब इन्द्रने चालाकीसे अनुनय-विनय कर रजिको चलता किया। किन्तु जब रजिकी मृत्युके बाद उसके पुत्रोंने कहा कि शर्तके अनुसार राज्य उनके पिताका हो गया था और उन्हें वह मिलना चाहिए तो इन्द्रने राज्य देनेसे साफ़ इन्कार कर दिया। तब महाबलवान् रजिपुत्रोंने युद्धमें इन्द्रको परास्त कर स्वयं इन्द्रपदका भोग किया (विष्णुपु० ४.९.१-१६)। इन सब उपाख्यानोंसे स्पष्ट है कि इन्द्रादि देवगण मानवोंकी

---

१. द्र०, 'जित्वा च सकलान् देवानिन्द्रोऽभून्महिषासुरः।' (दुर्गासप्तशती २.२)।

सहायता प्राप्त कर शक्तिसम्पन्न होकर अपने दैत्य-दानवादि शत्रुभूत दायादोंपर विजय प्राप्त करते थे और यदा-कदा महाबलवान् मानवों द्वारा विजित कर लिये जाते थे। ऐसी दशामें किसीको तीव्र तपस्या करते देखकर इन्द्रका इस आशङ्कासे कि वह कहीं उनका इन्द्रपद न छीन ले, चिन्तित हो उठना अस्वाभाविक नहीं था। देवेन्द्र ऐसी दशामें उसको तपोभ्रष्ट करनेके लिए अप्सराओंका उपयोग करनेमें भी नहीं हिचकते थे। इस प्रसङ्गमें विश्वामित्रके तपका उदाहरण—जिसकी परिणति शकुन्तलाके जन्ममें हुई—तो सुप्रसिद्ध है ही, कण्डु ऋषि—जिनका तपोभङ्ग करनेके लिए इन्द्रद्वारा प्रम्लोचा नामकी अप्सराके भेजे जानेका उल्लेख विष्णुपुराण (१.१५) में मिलता है—आदिके आख्यान भी सुविदित हैं।

उपर्युक्त विवरणोंसे स्पष्ट है कि मानवों एवं देवगण का सम्बन्ध आदान-प्रदानका है। मानव देवताओंसे कुछ प्राप्त करनेके लिए उनका पोषण करते हैं और देवता मानवोंसे प्राप्त पोषणके बदले उन्हें अपने ऐश्वर्यका कुछ अंश देकर प्रत्युपकार करते हैं। वैदिक यज्ञोंमें भी यही सम्बन्ध प्रतिबिम्बित हुआ है। यजमान देवतोद्देश-पूर्वक द्रव्यत्यागरूप यज्ञोंद्वारा देवताको पुष्ट एवं प्रसन्न करते हैं तथा देवता उन्हें उनका अभीप्सित धन-धान्य-पशु-पुत्रादिरूप फल देकर उपकृत करते हैं। इस प्रकार 'परस्परं भावयन्तः[1]' दोनों वर्ग अभीष्ट-लाभ करते हैं।

'भक्ति' शब्दको 'भज विश्राणने[2]' (धातुपाठ १७५७) धातुसे निष्पन्न मानने-पर इससे वैदिक धर्मके इस स्वरूपकी अवधारणाकी बहुत अच्छी व्याख्या हो जाती है। इस वैदिक भक्तिमें मानव अपने सीमित द्रव्य-संग्रहका कुछ भाग देवताओंको हवि आदिके रूपमें समर्पित करते हैं और देवता अपने सीमित ऐश्वर्यसे यजमानको सीमित फल प्रदान करते हैं। दोनों देते हैं किन्तु अपेक्षा रखते हुए। मनुष्य देवताको देते हैं किन्तु उनसे फलप्राप्तिकी अपेक्षा भी रखते हैं। फलप्राप्तिकी इच्छा या विश्वास के अभावमें मनुष्यकी देवताके प्रति द्रव्यत्यागरूप यज्ञमें प्रवृत्ति ही न होगी। इसीलिए मनुष्योंको जितनी बार देवतासे फल प्राप्त करना होता है वे उतनी ही बार, कृषिकी भाँति[3], कारीरी-आदि यज्ञरूप धर्मका आचरण करते हैं। इसी प्रकार देवता भी देते हैं, पर वे भी अपेक्षा रखते हैं, और यजमानद्वारा प्रदत्त आहुति प्राप्त किये विना कुछ नहीं देते। यहाँ सामर्थ्यमें न्यूनाधिक होनेके अलावा दोनोंका स्तर प्रायः समान है।

---

१. देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः···॥ (गीता ३.११)

२. 'श्रण दाने' धातुसे निष्पन्न 'विश्राणन' शब्दका अर्थ दान, त्याग, उत्सर्जन आदि है। द्रष्टव्य, अमरकोश २.७.२९–३०.

३. कर्मण्यारम्भभाव्यत्वात्कृषिवत्प्रत्यारम्भं फलानि स्युः। (मी० ११.१.२०)।

यज्ञ-प्रधान वैदिक-धर्मका नियमन श्रुतिसे होता है। वैदिकधर्ममें एकमात्र प्रमाण श्रुति है। यहां सारे पुरुषार्थोंकी सिद्धिके साधक वेदविहित यज्ञ हैं जो मानवके 'योगक्षेम' का वहन करते हैं। यहां प्राधान्य व्यक्तिके भावोंका नहीं मन्त्रोंका है और किस देवताको क्या समर्पित करना है इसमें भी व्यक्तिकी रुचि या भावना नहीं प्रत्युत वेदवाक्य ही नियामक हैं। देवतोद्देशसे द्रव्यत्याग-रूप यज्ञ सुष्ठु सम्पन्न किया जा सके तो फल मिलना अवश्यम्भावी है, उसे कोई रोक नहीं सकता। फल देने या न देने की स्वतन्त्रता वैदिक देवताकी अवधारणाका अङ्ग नहीं है। यज्ञ-विशेष (या देवता-विशेष) से सबकुछ नहीं प्रत्युत एक निश्चित या सीमित फल ही प्राप्त किया जा सकता है। यहां इस विशेष अर्थमें तो अनुग्रहकी कल्पनाकी उपलब्धि होती है कि यदि मानव यज्ञकर्मादिरूप साधन द्वारा देवताको पकड़े (ग्रहण करे) तो उसके बाद (अनु) देवता भी उससे प्रसन्न होकर उसे पकड़ते (ग्रहण करते) अर्थात् फलदानद्वारा अनुगृहीत करते हैं। किन्तु निःसाधनोंको भी फल दे देने तथा दुष्कर्म करने वालोंको भी उनका फल भोगनेसे बचा लेने का स्वातन्त्र्य और सामर्थ्य रूप अनुग्रह यहां उपलब्ध नहीं होता।

वैष्णव-धर्ममें भक्तिके विषय परमेश्वर श्रीहरि हैं। मानव उनका भक्त, सेवक या अनुचर मात्र है। अर्जुन श्रीकृष्णके प्रिय मित्र होते हुए भी स्वयंको उनका आज्ञाकारी आश्रव एवं प्रपन्न शिष्य मात्र समझते हैं[1]। भगवान् एवं भक्त के स्वरूप एवं सामर्थ्य में महान् अन्तर है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, आप्तकाम एवं पूर्ण परमेश्वरको भक्तसे किसी भी प्रकारकी अपेक्षा नहीं है[2] और भक्त परमेश्वरकी किसी भी प्रकारकी सहायता कर सकने या उसे कुछ भी दे सकने की स्थितिमें नहीं है[3]। वह केवल उनकी भक्ति कर सकता है, उन्हें प्रणाम कर सकता है[4], अपने सारे कर्म[5], उनके

---

१. द्रष्टव्य, गीता २.७; १८.७३; ११.४१–४२.

२. द्रष्टव्य, 'नानवाप्तमवाप्तव्यम्।' (गीता ३.२२)।
तु०, 'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥'
(भाग० ७.९.११)।

३. किमासनं ते गरुडासनाय ? किं भूषणं कौस्तुभ-भूषणाय ?
लक्ष्मी-कलत्राय किमस्ति देयं ? वागीश किं ते वचनीयमस्ति ??
(तत्त्वा० प्र० १.१ में उद्धृत वैष्णवतन्त्रका वाक्य)।

४. भगवति जीवैर्नमनमेव कर्तव्यं नाधिकं शक्यमिति सिद्धान्तः। (तत्त्वा० प्र० १.१)।

५. मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म-चेतसा। (गीता ३.३०)।
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः। (गीता १८.५७)।
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

फल[1], अपना सर्वस्व[2] तथा स्वयं अपनेको[3] केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌को समर्पित कर सकता है। भक्तद्वारा भक्तिपूर्वक जो भी पत्र-पुष्पादि भगवान्‌को समर्पित किया जाता है उसे वे स्वीकार कर लेते हैं[4], किन्तु फललाभकी दृष्टिसे उपहृत कामोपहत द्रव्यादि उन्हें ग्राह्य नहीं हैं[5]। भगवान् दयालु, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं[6] समर्थ एवं स्वतन्त्र हैं। वे भक्तकी सभी भूलोंको क्षमा कर उसके दुष्कर्मफलको निलम्बित या समाप्त कर सकते हैं और सत्कर्ममें अशक्त, निस्साधन शरणागतका भी उद्धार कर सकते हैं, किसी पर भी अनुग्रह या पुष्टिवर्षा कर सकते हैं। उनकी भक्तिमें वेद-मन्त्र, विहित साधन-सम्पत्ति या कर्म नहीं अपितु भाव या स्नेह ही महत्त्वपूर्ण एवं नियामक है[7]।

यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (गीता ९.२७)।
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि। (गीता ५.१०)।
मत्कर्मकृत्। (गीता ११.५५)। मत्कर्म-परमो भव। (गीता १२.१०)।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर। (भाग० ११.११.२२)।
मदर्थे धर्म-कामार्थानाचरन् मदपाश्रयः। (भाग० ११.११.२४)।

१. सर्व-कर्म-फल-त्यागं ततः कुरु यतात्मवान्। (गीता १२.११)।

२. 'ये दारागार-पुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं यातः···।' (भाग० ९.४.६५)।

३. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (गीता १८.६६)।

४. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (गीता ९.२६)।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि। (भाग० ११.२७.१७)।

५. भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ?? (भाग० ११.२७.१८)।
तु०, 'अपि प्रयत्न-सम्पन्नं कामेनोपहृतं तपः।
न तुष्टये महेशस्य श्वलीढमिव पायसम् ॥'

६. ते नाऽधीत-श्रुतिगणा नोपासित-महत्तमाः।
अव्रतातप्त-तपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥
यं न योगेन सांख्येन दान-व्रत-तपोऽध्वरैः।
व्याख्या-स्वाध्याय-संन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥ (भाग० ११.१२.७–९)।
तु०, 'व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का ?
का जातिर्विदुरस्य ? यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ?

अपने भक्तको वे कर्मोंके भरोसे नहीं छोड़ते, उसका योगक्षेम तो वे स्वयं वहन करते हैं[१]। भक्तसे किसी प्रकारकी अपेक्षा किये विना ही उसे चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करा देनेका सामर्थ्य एवं स्वातन्त्र्य ईश्वरकी वैष्णव अवधारणाका अविभाज्य अङ्ग है। वैदिक भक्तिका फल नश्वर, लौकिक एवं स्वर्गीय सुखमात्र है किन्तु वैष्णव-भक्तिका फल मोक्षान्तपुरुषार्थ[२] एवं स्वयं भगवान् की प्राप्ति तथा भगवत्सेवा[३] है यद्यपि उत्तम वैष्णव भक्त अपनी भक्तिके बदले भगवान्से कोई अपेक्षा नहीं रखते और भगवान्से कुछ मांगनेकी इच्छा रखनेवालोंको भगवत्सेवक नहीं प्रत्युत भक्ति-विनिमय करनेवाला व्यापारी समझते हैं[४]।

वैष्णव-धर्मकी भक्तिकी उपर्युक्त अवधारणाकी उपयुक्त व्याख्या भक्ति शब्दको 'भज सेवायाम्' (धातुपाठ १०२३) धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न माननेपर हो जाती है। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार 'भक्ति' शब्दमें भ्वादिगणीय 'भज'-धातुका अर्थ सेवा है और 'क्तिन्' प्रत्यय प्रेमार्थक है। इस प्रकार वैष्णव-धर्ममें भक्तिका अर्थ है भगवन्माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक उनमें सुदृढ एवं सर्वतोऽधिक स्नेह रखते हुए भगवत्सेवा[५]।

कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम् ?
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्ति-प्रियो माधवः ॥'

१. योगक्षेमं वहाम्यहम् । (गीता ९.२२)।

२. तस्मिन् प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थ-कामैरलमल्पकास्ते ।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्तान्निःसंशयं प्राप्स्यथ वै महत्फलम् ॥ (विष्णुपु० १.१७.९१)।

३. को न्वीश ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन् भवत्पदाम्भोज-निषेवणोत्सुकः ॥ (भाग० ३.४.१५) ।

४. यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । (भाग० ७.१०.४) ।
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः । (भाग० ७.१०.५) ।
नैकान्तिनो मे मयि जात्विहाशिष आशासतेऽमुत्र च ये भवद्विधाः ।
अथापि मन्वन्तरमेतदत्र दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान् ॥ (भाग० ७.१०.११) ।

५. 'माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चाऽन्यथा ॥' इति वैष्णव-तन्त्र-वचनात्
माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः सर्वतोऽधिक-स्नेहो भक्तिः । (भाग० सुबो० १.१.१) ।
भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः ।
तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधन-भूयसी ॥ (गरुडपु० २१९.३) ।
स्नेहो भक्तिः । (तत्त्वा० प्र० १.४२) ।
भक्ति-पदस्य शक्तिः स्नेह एव । (भक्तिहं० पृ० ५२) ।
आचार्यैस्तु 'भक्ति-पदस्य धात्वर्थः सेवा, प्रत्ययार्थः प्रेम' इति निबन्धे उक्तमुपपादितञ्च ।

यह वैष्णव भक्ति वर्णाश्रम-प्रतिपादक पारम्परिक शास्त्रोंसे प्रभावित रूपमें मर्यादाभक्ति बनी रही किन्तु अलौकिक-भाव-सम्पन्न भगवत्प्रेमोन्मत्त लोकोत्तर भक्तोंके हृदयमें मधुरभावकी रागात्मिका भक्तिके रूपमें प्रस्फुटित हुई। जिन भक्तोंकी मोक्षमें भी आसक्ति नहीं थी[1] उन आत्माराम निर्ग्रन्थ मुनियोंके उपयुक्त अहैतुकी (अर्थात् जो भक्ति किसी अन्य फलका हेतु या साधन नहीं है तथा जो भगवदनुग्रहैकलभ्य है, किसी अन्य हेतु या साधनसे प्राप्य नहीं है) शुद्ध एवं स्वतन्त्र अर्थात् फलरूपा[2] भक्तिकी प्रतिष्ठा वैष्णवभक्तिकी अवधारणाका चरम उत्कर्ष है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि यज्ञ-प्रधान एवं स्वर्ग-पुरुषार्थ-पर्यवसायी वैदिक-धर्मसे इस वैष्णवधर्मका एक प्रमुख भेदक या वैशिष्ट्य, वैदिक-परम्परा-प्राप्त धार्मिक मान्यताओंके निराकरणमें शक्तिका अपव्यय न करते हुए, परमतनिरासोन्मुखी प्रवृत्तिसे पराङ्मुख होकर, 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म-सङ्गिनाम्' (गीता० ३.२६) की नीतिमें आस्था रखते हुए एक सर्वग्राहिणी, सर्व-समाहारात्मिका विचार-सरणि एवं जीवन-प्रणाली का विकास करना है जिसके कारण यह लौकिक कामनाओंमें रुचि रखनेवाले एवं स्वर्गादिरूप अलौकिक फलोंकी प्राप्तिके लिए समुत्सुक बुभुत्सुओं तथा

अतः प्रेम्णा सेवायां भक्ति-पद-शक्तिः पर्यवस्यति। (भक्तिहं० विवे० पृ० ५८)।
भजधातोस्तु सेवार्थः प्रेम क्तिन्-प्रत्ययस्य च।
स्नेहेन भगवत्सेवा भक्तिरित्युच्यते बुधैः॥ (सत्सङ्ग-जीवनम् १.३६.१)।
माहात्म्य-ज्ञानयुग्भूरि-स्नेहो भक्तिश्च माधवे। (शिक्षापत्री, १०३)।

१. मधुद्विट्-सेवानुरक्त-मनसामभवोऽपि फल्गुः। (भाग० ५.१४.४४)।
सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ (भाग० ३.२९.१३)।
तु०, 'का त्वं ? मुक्तिरुपागतास्मि, भवती कस्मादकस्मादिह ?
श्रीकृष्ण-स्मरणेन देव ! भवतो दासीपदं प्रापिता।
दूरे तिष्ठ मनागनागसि कथं कुर्यादनार्यं मयि ?
त्वद्दानान्निजनाम-चन्दन-रसालेपस्य लोपो भवेत्॥'
तु०, श्रीशङ्कराचार्यकृत देव्यपराधक्षमापन-स्तोत्रका यह (आठवाँ) पद्य,
'न मोक्षस्याकाङ्क्षा भव-विभव-वाञ्छापि च न मे।
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि ! सुखेच्छापि न पुनः॥
अतस्त्वां संयाचे जननि ! जननं यातु मम वै।
मृडानी शर्वाणी शिव शिव भवानीति जपतः॥'

२. मत्सेवया प्रतीतञ्च सालोक्यादि-चतुष्टयम्। नेच्छन्ति"'। (भाग० ९.४.६७)।
नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पाद-सेवाभिरताः"'। (भाग० ३.२५.३५)।

इहामुत्रार्थ-फल-भोग-विराग-सम्पन्न मुमुक्षुओं के लिए समान रूपसे आकर्षणका केन्द्र[1] तो बन ही गया, ऐसे आप्तकाम, आत्माराम मनीषियोंको भी कृतार्थ एवं कृतकृत्य कर देनेका सामर्थ्य भी अर्जित कर सका जो वेद-वाद-रत लोगोंकी 'पुष्पिता वाक्' के सम्मोहनसे मुक्त होकर 'मुह्यन्त्याम्नाय-वादिनः' (भाग० ११.५.५) के अवबोधपूर्वक 'स्वर्गापवर्ग-नरकेष्वपि तुल्यार्थ-दर्शिनः' (भाग० ६.१७.२८) की स्थिति प्राप्त कर चुके[2] हों और जिनमें अब कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा शेष नहीं रही हो[3]।

* १.१.७ * पूर्वोक्त प्रकारसे, स्मृति, पुराण आदिके माध्यमसे आगत अन्य परम्पराओंसे सामञ्जस्य स्थापित करते हुए वेदान्तका इतिहास एक नये मोड़ पर पहुँचता है जिसे हम इन पूर्वोक्त ग्रन्थोंके भाष्योंकी रचनाके युगके रूपमें समझ सकते हैं। हम यह उल्लेख कर चुके है कि उपनिषदोके वाक्योंका सन्देह-निराकरण-पूर्वक अर्थ-निर्णय करनेकी प्रक्रियामें सूत्रग्रन्थोंकी रचना हुई। ऐसा लगता है कि जिस प्रकार पूर्वकालके तत्त्वद्रष्टा आचार्योंके साक्षाच्छिष्योंको आत्मज्ञानी गुरुसे ब्रह्मतत्त्वकी स्पष्ट व्याख्या सुननेका सौभाग्य प्राप्त होता था[4] उसी प्रकार वेदान्तवाक्यमीमांसामें निष्णात आचार्योंके साक्षाच्छिष्योंको भी सन्दिग्धार्थ उपनिषद्वाक्योंका संदेहवारक, अर्थनिर्णायक व्याख्यान सुननेका सुअवसर उपलब्ध था। आचार्य किसी वाक्यपर विस्तारसे विचार करते हुए उसे शिष्यको समझाते थे तदनन्तर उस विस्तृत व्याख्याको स्मरण रखनेमें सुविधाकी दृष्टिसे उसे संक्षेपमें सूचित करनेवाले सूत्रसे सम्बद्ध कर देते थे। आचार्य-मुखसे पूरी व्याख्या एवं विवेचन सुन चुका शिष्य उस बह्वर्थ-सूचक सूत्रकी सहायतासे[5] उस सारी व्याख्याको पुनः स्मरण कर हृदयङ्गम कर लेता था और इस प्रक्रियासे 'समास-व्यास-वचनैः बुद्धिर्भवति वै स्थिरा' के न्यायसे विवेच्य विषय उसकी बुद्धिमें स्थिर हो जाता था। इस प्रकार मौखिक-व्याख्या-सहकृत सूत्र शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा द्वारा सुकरतासे समझ लिये जाते थे। किन्तु ऐसा लगता है कि इस प्रणालीसे केवल व्यास-

---

१. अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ (भाग० २.३.१०)।

२. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ (भाग० १.७.१०)।

३. किमलभ्य भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।
तथापि तत्परा राजन् ! न हि वाञ्छन्ति किञ्चन ॥ (भाग० १०.३९.२)।

४. 'इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।' (के० १.३)। 'शुश्रुम=श्रुतवन्तो वयं, पूर्वेषाम् आचार्याणां वचनं, ये आचार्याः, न=अस्मभ्यं, ब्रह्म व्याचचक्षिरे= व्याख्यातवन्तः, विस्पष्टं कथितवन्तः, तेषाम् इत्यर्थः।' (के० शा० १.३)।

५. बह्वर्थसूचनात् सूत्रम्।

देवकृत सूत्रोंकी अध्ययन-परम्परा ही कुछ समय तक चल पायी, अन्य वेदान्तसूत्र-परम्पराएँ शीघ्र ही विच्छिन्न हो गयीं। वस्तुतः बह्वर्थ-सूचक इन सूत्रोंकी सार्थकता उन्हींके लिए थी जिनको सूत्रकार-प्रवर्तित परम्परा-प्राप्त विस्तृत अर्थ मौखिक रूपसे बताया जा चुका होता था। इस परम्पराके विच्छिन्न हो जानेपर इन सूत्रोंका सूत्रकाराभिप्रेत अर्थ समझना दुष्कर हो गया। 'अर्ध-मात्रा-लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते[1]' की प्रवृत्तिवाले सूत्रकारोंद्वारा प्रणीत सूत्र, उनके अभिप्रेत अर्थकी मौखिक-परम्पराके लुप्त हो जानेके एक लम्बे कालिक अन्तरालके पश्चात्, ऐसे वेदान्तोपदेशकोंके हाथमें पड़े जिनके पास सूत्रकारका अभिप्रेत अर्थ समझनेका अपनी उत्प्रेक्षा एवं कल्पना से सहकृत तर्कके अलावा और कोई अन्य साधन नहीं था। किन्तु सूत्रोंके स्वरूपके कारण यह कार्य सुतरां दुष्कर था। श्रीशङ्कर-दिग्विजयकार माधवाचार्यका यह कथन कि 'दीर्घ-सूत्र-सरणि व्यासदेवकी सूत्रात्मिका वाणीका अर्थ बहुत देरमें समझमें आ पाता है, अतः उससे जिज्ञासु सन्तुष्ट या कृतार्थ नहीं हो पाते[2]', इसी कठिनाईका सङ्केतक माना जा सकता है। सूत्रकारोंने ऐसे भी अनेक सूत्रोंकी रचनाकी थी जिनका प्रयोजन अन्य वाक्यों, युक्तियों या विसङ्गतियों— जिनका उल्लेख सूत्रमें नहीं है— का स्मरण कराना मात्र था। प्रामाणिक परम्पराके अभावमें इनकी स्वोत्प्रेक्षित कल्पना ही की जा सकती थी। उदाहरणार्थ ब्रह्मसूत्रोंमें 'दर्शनाच्च' यह सूत्र पाँच बार (ब्र० ३.१.२०; ३.२.२१; ३.३.४८; ३.३.६६; एवं ४.३.१३), 'अपि च स्मर्यते' चार बार (ब्र० १.३.२३; २.३.४५; ३.४.३० एवं ३.४.३७) तथा 'दर्शयति च' (ब्र० ३.३.४; ३.३.२२; एवं ३.३.१७) एवं 'स्मरन्ति च' (ब्र० २.३.४७; ३.१.१४; एवं४.१.१०) आदि तीन बार आये हैं। इसी प्रकार 'श्रुतत्वाच्च' (ब्र० १.१.११; ३.२.३९), 'स्मृतेश्च' (ब्र० १.२.६; ४.३.११), 'स्वपक्ष-दोषाच्च' (ब्र० २.१.१०; २.१.२९) एवं 'उभयथा च दोषात्' (ब्र० २.२.१६, २३) आदि सूत्र भी एकाधिक बार आये हैं। इनमें जिन श्रुति-स्मृति-वाक्यों एवं दोषों का सङ्कत किया गया है वे निश्चय ही सूत्रस्थल-भेदसे भिन्न होंगे और सूत्रमें निर्दिष्ट न होने तथा मौखिक-परम्परा-प्राप्त न होने से उनकी उद्भावना ही करनी होगी। कोई भी विचारक शून्यमें चिन्तन नहीं करता। परम्परा-प्राप्त संस्कार, शिक्षा, विचारधारा एवं अनतिपूर्वकालिक और समकालिक वैचारिक परिवेश उसके चिन्तनको दिशा देनेमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसीलिए पूर्वोक्त परिस्थितिमें सूत्रार्थ करनेवालोंके लिए ये सूत्र खूँटियोंकी तरह सिद्ध हुए जिन पर उन्होंने अपने बौद्धिक एवं भावनात्मक दार्शनिक-धार्मिक पूर्वाग्रहोंसे सम्पुटित विचारोंके उष्णीष, उत्तरीय, अधोवस्त्र, या कौपीन टाँगे हैं।

---

१. 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।' (परिभाषेन्दुशेखरः १३४)।

२. व्याचष्टे किल दीर्घ-सूत्र-सरणिर्वाचं चिरादर्थदां व्यासः। (श्रीशङ्करदि० ६.१८)।

ब्रह्मसूत्रोंके अध्ययन-अध्यापनकी परम्पराके विच्छिन्न हो जानेसे उसके अधिकरणों एवं सूत्रों की संख्या, उनके स्वरूप तथा शुद्ध पाठ का भी निस्सन्दिग्ध ज्ञान भाष्यकारोंको नहीं था। इसीलिए सूत्रोंकी संख्या, अधिकरणोंमें उनके निवेश, 'सूत्र या अधिकरण-विशेष पूर्वपक्षको उपन्यस्त करता है या सिद्धान्तको' इत्यादि विषयों तथा सूत्रके कलेवर[1] एवं पाठ[2] आदि ग्रन्थके स्वरूपसे सम्बद्ध विषयों में भी विभिन्न भाष्यकारोंमें ऐकमत्य नहीं है। इसी प्रकार ग्रन्थका प्रयोजन 'वेदान्त-वाक्य-कुसुम-ग्रथन[3]' मात्र है या केवल सन्दिग्धार्थ वेदान्त-वाक्योंमें होनेवाले सन्देहका निराकरण[4], इस विषयपर भी उनमें मतैक्य नहीं है। सूत्रार्थके (मूलग्रन्थके प्रति निष्ठापूर्वक किये जानेपर भी) परम्परा-प्राप्त न होकर स्वबुद्धि-परिकल्पित होनेके कारण, भाष्यकार स्वयं अनिश्चयकी भावनासे ग्रस्त रहते हैं और दृष्टिसम्पन्न इसे वहाँ देख सकते हैं जहाँ वे किसी सूत्रके सूत्रकाराभिमत निर्णीत अर्थको बतानेके स्थानपर उस सूत्रके वैकल्पिक अर्थ प्रस्तुत करते हैं[5]। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी भाष्यकार द्वारा किसी सूत्रके एकसे अधिक वर्णक या वैकल्पिक अर्थ प्रस्तुत करनेसे यही सूचित होता है कि स्वबुद्धिपरिकल्पित एकाधिक अर्थोंको किसी सूत्र-विशेषमें समन्वित कर सकने अथवा जिस अर्थको वे सूत्र-विशेषमें दिखाना चाहते हैं उसे उसमें एकसे अधिक प्रकारसे दिखा सकने अर्थात् अपने प्रतिपाद्य सिद्धान्तकी कीमत किसी सूत्रकी खूँटीपर उलट-पलट कर एकाधिक प्रकारसे टाँग सकने के सामर्थ्यसे सम्पन्न होनेका उनका दावा निरा-

---

१. उदाहरणार्थ श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्' यह एक सूत्र है किन्तु श्रीशङ्कराचार्यके अनुसार 'जन्माद्यस्य यतः' तथा 'शास्त्रयोनित्वात्' परस्पर स्वतन्त्र और पृथक् सूत्र हैं।

२. उदाहरणार्थ द्र०, "'भावे चोपलब्धेः।' (ब्र० २.१.१५)। ···'भावाच्चोपलब्धेः' इति वा सूत्रम्।" (ब्र० शा० २.१.१५)।
'इदं सूत्रं मिथ्यावादिना न ज्ञातमेव। अत एव पाठान्तर कल्पनम्।' (अ० २.१.१५)।

३. 'वेदान्त-वाक्य-कुसुम-ग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्।' (ब्र० शा० १.१.२)।

४. यत्र वेदवाक्यात्सन्देहो जायते तन्निराकरणे सूत्रकारप्रवृत्तिः। (ब्र०भास्क० १.३.१०)।
निर्णयायैव यत्प्रोक्तं ब्रह्मसूत्र तु विष्णुना।
व्यास-रूपेण तद्ग्राह्यं तत्रोक्ताः सर्व-निर्णयाः। (म० ता० नि० १.४२)।
'सन्देहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात्तदुद्भवः। अनेकशास्त्रसम्भेदादङ्गैश्चाशक्यनिर्णयः॥
तस्मात्सूत्रानुसारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः।' (अ० १.१.१ का० ३–४)।
'सन्देहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनाम्।' (अ० १.१.२ का० ६)।
न हि श्रुतिं व्याख्यातुं प्रवृत्तः सूत्रकारः किन्तु सन्देहं वारयितुम्। (अ० १.१.२)।

५. इति प्रथम-वर्णकम्। अथवा···। (ब्र० शा० १.१.३)। द्र०, न्यायभाष्य १.१.५.

धार नहीं है। एक ही सूत्र अनेक स्थलोंपर आये तो उसके स्थान-भेदसे अनेक अर्थ, किसी भाष्यकारको किसी सूत्रके एकसे अधिक वैकल्पिक अर्थ स्फुरित हो जायें तो उसके कल्प-भेदसे अनेक अर्थ एवं एक ही सूत्रके सम्प्रति उपलब्ध दशाधिक भाष्योंमें किये गये विविध अर्थ साधारण जिज्ञासुको यही सोचनेको विवश करते हैं इन परस्पर-भिन्न एवं परस्पर-विरुद्ध अर्थोंमेंसे सभीका सत्य हो सकना कथमपि सम्भव नहीं है यद्यपि सभीका ग़लत होना असम्भव नहीं है। इससे यह भी सूचित होता है कि भले ही प्रत्येक भाष्यकार अपने अर्थके सूत्राभिप्रेत होनेका दावा करे किन्तु इस दावेका अधिकसे अधिक अर्थ यही हो सकता है कि वह पूर्ण निष्ठासे, अप्रतिष्ठित तर्ककी सहायतासे, अपने पूर्वाग्रहोंके साथ, यथारुचि, यथाबुद्धि सूत्रकारके आशयका अनुमान कर रहा है, यह नहीं कि उसे सूत्रकाराभिप्रेत अर्थ ज्ञात है और वह हमें उससे अवगत करा रहा है। इसीलिए कोई भी भाष्यकार किसी भी अन्य भाष्यकारके कथनकी प्रामाणिकताके स्तरकी विशिष्ट प्रकारकी उच्चता स्वीकार करनेको प्रस्तुत नहीं है।

भाष्यकार जब अपने द्वारा किये गये सूत्रार्थमें सुधीजनों द्वारा विश्वास न किये जाने की आशङ्का अभिव्यक्त करते हैं[1] या अपने द्वारा किये जा रहे सूत्रार्थके लिए परतः प्रामाण्य खोजते हुए उसे अपने किसी पूर्ववर्ती प्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा उन्नीत अर्थसे सम्बद्ध करना चाहते हैं[2] अथवा सूत्रोंका अर्थ स्पष्ट करनेके स्थानपर अपने स्वोन्नीत अर्थको पुष्टिके लिए अप्रसिद्ध श्रुति-स्मृतियोंके अप्रचलित वाक्य इतनी अधिक मात्रामें उद्धृत करते हैं कि कुछ लोग उन्हें 'श्रुति-कल्पक' तक कह देते हैं, तो वे हमारी इसी धारणाकी पुष्टि करते हैं कि वे हमें सूत्रकाराभिप्रेत, अविच्छिन्न-परम्परा-प्राप्त अर्थसे अवगत नहीं करा रहे हैं प्रत्युत स्वबुद्धि-परिकल्पित सूत्रार्थ बता रहे हैं और उन्हें इसका एहसास भी है।

सूत्रका जो पारम्परिक लक्षण पण्डित-मण्डलीमें पुराण-प्रोक्तके रूपमें प्रसिद्ध है उसमें यह कहा गया है कि सूत्रको स्वरूपतः असन्दिग्ध होना चाहिए[3]। किन्तु जब

---

१. द्र०, 'अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युः।' (ब्र० शा० २.१.१)।

२. द्र०, 'पाराशर्य-वचस्सुधामुपनिषद्-दुग्धाब्धिमध्योद्धृताम्।
संसाराग्नि-विदीपन-व्यपगत-प्राणात्म-सञ्जीवनीम्॥
पूर्वाचार्य-सुरक्षितां बहु-मति-व्याघातदूरस्थिताम्।
आनीतां तु निजाक्षरैस्सुमनसो भोगाः पिबन्त्वन्वहम्॥
भगवद्बोधायन-कृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः सञ्चिक्षिपुः। तन्नातानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते।' (ब्र० रा० १.१.१)।

३. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ (ब्रह्माण्डपु० १.२.३४.५८)।

कोई भाष्यकार सूत्रके वैकल्पिक अर्थ करता है या जब विभिन्न भाष्यकार एक ही सूत्रके अन्योऽन्य-विरोधी या परस्पर-भिन्न अनेक अर्थ करते हैं, तो यह स्वीकार करना कठिन हो जाता है कि सूत्र स्वरूपतः असन्दिग्ध है और उसके अर्थमें सन्देह करनेका अवकाश ही नहीं है। इसी कारण सूत्रका एक अन्य ऐसा लक्षण प्रचलनमें आ गया जिसमें उसके असन्दिग्धार्थ होनेकी अपेक्षाका बहिष्कार कर दिया गया[1]।

* १.१.८ * पूर्वोक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि विचार-शास्त्ररूप ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करनेवालोंमें मतभेद स्वाभाविक था। इसी प्रकार उपनिषदों एवं भगवद्गीता की भी अन्योऽन्य-विरुद्ध व्याख्याएँ की गयीं। इन व्याख्याकारों एवं इनकी व्याख्याओं में निष्ठाके इतिहासके साथ ही वेदान्तके सम्प्रदायोंके इतिहासका भी प्रारम्भ होता है।

सम्प्रति उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों एवं भगवद्गीता के जो भाष्य सुलभ हैं उनमें सर्वाधिक प्राचीन श्रीशङ्कराचार्य-कृत भाष्य हैं। यद्यपि श्रीशङ्कराचार्यसे पहले भी कई महामनीषियोंने इनमेंसे कुछ की व्याख्याएँ की थीं[2] किन्तु आज उनमेंसे अधिकांश उल्लेखमात्र-शेष हैं। इन ग्रन्थोंकी श्रीशङ्कराचार्यने इतनी सुन्दर व्याख्या की कि जिन परतन्त्र-प्रज्ञ अध्ययन-कर्ताओंके सम्बन्धमें उन्हें 'अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युः' (ब्र० शा० २.१.१) की आशङ्का थी उन लोगोंकी श्रीशङ्कराचार्य एवं उनकी कृतियों में ऐसी अगाध एवं दृढ निष्ठा हो गयी कि उसने श्रीशङ्कराचार्यके उपजीव्य ग्रन्थोंके प्रणेताओंमें उनकी आस्थाको भी गौण बना दिया।

श्रीशङ्कर-दिग्विजयकार माधवाचार्यकी धारणा है कि पुरुषार्थ-प्राप्तिके लिए समुत्सुक व्यक्तियोंको कविराज वाल्मीकिने 'वितथ' और 'मुहुः कल्पित' 'अर्थों' से ही सन्तुष्ट कर देनेका असफल प्रयत्न किया है। ब्रह्मसूत्रकार व्यास उन्हें बहुत समय तक प्रयत्न करने पर ही समझमें आ सकने वाले सूत्रों द्वारा तृप्त करना चाहते हैं। किन्तु इस सबसे उनकी जिज्ञासाकी शान्ति नहीं होती। उन्हें कृतार्थ और सन्तृप्त तो

---

१. लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षर-पदानि च।
सर्वतः सार-भूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥ (भामती, १.१.१ पृ० ४७ में उद्धृत)।

२. द्र०, 'यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम्॥' (ब्र० शा० १.१.१ श्लोक २).
तदिदं गीताशास्त्रं ... दुर्विज्ञेयार्थम्। तदर्थाविष्करणायानेकैः विवृत-पद-पदार्थ-वाक्यार्थ-न्यायमप्यत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकैर्गृह्यमाणमुपलभ्याहं विवेकतोऽर्थनिर्धारणार्थं संक्षेपतो विवरणं करिष्यामि। (गीता शा० उपोद्घात; द्रष्टव्य इन वाक्योंकी आनन्दगिरिकृत व्याख्या)।

श्रीशङ्कराचार्य ही करते हैं[1]। श्रीमधुसूदन सरस्वती यह मानते प्रतीत होते हैं कि व्यासदेव ब्रह्मसूत्रके सूत्रोंके द्वारा भी उपनिषदोंके निःशेष अर्थको सम्यक्तया नहीं उपनिबद्ध कर सके और जो कार्य वे सूत्रोंसे भी नहीं कर सके उसे बिना सूत्रके सम्पन्न कर देने वाले श्रीशङ्कराचार्य एवं श्रीसुरेश्वराचार्य ही नमनीय हैं; व्यासदेव नहीं[2]। उनकी यह उक्ति तो यह सङ्केतित करती प्रतीत होती है कि उनकी दृष्टिमें श्रीशङ्कराचार्यके भाष्य और श्रीसुरेश्वराचार्यके वार्तिक में वेदान्त-वाक्योंका वह अर्थ उपनिबद्ध है जो ब्रह्मसूत्रोंमें नहीं है।

स्वानुभूतिके अभावमें विचार-शास्त्र-रूप अप्रतिष्ठित तर्कको यष्टिका आश्रय लेकर गन्तव्य तक पहुँच जानेके लिए प्रयत्नशील सत्यान्वेषी कई बार थक कर,

निःश्रितोऽनियतोऽव्यापी सांवृतः खेदवानपि।
बालाश्रयो मतस्तर्कस्तस्यातो विषयो न तत्॥[3]

इत्यादि कहता हुआ किसी विशाल वटवृक्षकी शीतल छायाके समान शान्तिदायक गुरु या प्रतिष्ठित मत का आश्रय ग्रहण कर खड़ा हो जाता है और यह चाहता है कि सम्पूर्ण सत्य वहींपर आ जाये जहां वह है[4]। इस व्यापक ब्रह्माण्डके एक क्षुद्र ग्रह पृथ्वीपर मनुष्य द्वारा विकसित की गयी अनेक सभ्यताओंमें प्रतिपादित अनेक मनीषियोंके विचारोंमेंसे किसी एकके साथ तादात्म्य स्थापित कर उसीको एकमात्र सत्य मानकर चलनेमें भी उसे यह अनुभूति नहीं होती कि उसका ज्ञान सीमित सत्य है, आंशिक ज्ञान है, एकमात्र या निरपेक्ष ज्ञान नहीं। 'बुद्धेः फलमनाग्रहः' की उक्तिके अनुसार बुद्धिमान्‌से यह अपेक्षा अवश्य की जाती है कि वह विवेक-पूर्वक आग्रह-रहित होकर सत्यके अन्वेषणमें तत्पर रहे, तथापि व्यवहारमें ऐसी अपेक्षा पूरी होती नहीं दिखाई देती। पक्षपात-रहित व्यक्ति युक्तियों-द्वारा निर्णीत सुविचारित निष्कर्षको स्वीकार करनेके लिए सर्वदा प्रस्तुत रहता है, किन्तु आग्रह-ग्रहिल व्यक्ति अपनी सारी

---

१. शेषः साधुभिरेव तोषयति नॄन् शब्दैः पुमर्थार्थिनो
वाल्मीकिः कविराज एष वितथैरर्थैर्मुहुः कल्पितैः।
व्यावष्टे किल दीर्घ-सूत्र-सरणिर्वाचं चिरादर्थदां
व्यासः शङ्कर-देशिकस्तु कुरुते सद्यः कृतार्थानहो॥ (श्रीशङ्कर-दि० ६.१८)।

२. न नौमि तं व्यासमशेषमर्थं सम्यङ् न सूत्रैरपि यो बबन्ध।
विनापि तैः सङ्ग्रथिताखिलार्थं तं शङ्करं नौमि सुरेश्वरञ्च॥ (सि० बि० १०.१)।

३. बौद्ध दर्शन एवं वेदान्त, पृ० ७६ पर उद्धृत महायानसूत्रालङ्कार १.१२.

४. हर शख्स चाहता है कि सच हो मेरी तरफ़।
सच की तरफ़ मगर कोई होता है शाज़ ही॥ फ़िराक़, 'फूल और अंगारे', पृष्ठ ९५.

तर्कशक्तिका उपयोग अपने आंशिक ज्ञान एवं अभ्युपगत सिद्धान्तों को ही एकमात्र सत्य सिद्ध करनेके लिए करता है[1]। इसी प्रक्रियामें स्वोप्रेक्षित मान्यताओं एवं परम्परया प्राप्त अभ्युपगमों को पुनः दुहराते और सत्य सिद्ध करनेका प्रयास करते हुए कई बार वह स्वयं भी यह भूल जाता है कि ये अभ्युपगम निरपेक्ष सत्य नहीं आंशिक ज्ञान या मान्यताएं मात्र हैं और स्वयं भी वह उन्हें सत्य समझ बैठता है। अब इस सत्यकी सिद्धिके लिए वह पूरे उत्साहसे प्रयत्न करता है और यह परम्परा चलती जाती है।

हम कह चुके हैं कि स्वाभिमत सिद्धान्तको प्रमाणित करनेके लिए केवल तदनुकूल श्रुतिवाक्यों, उदाहरणों एवं तर्कों का ही उल्लेख करने एवं श्रुतिके अधिकांशकी साक्षादुपयोगिता अस्वीकार करने के बावजूद वेदान्त-व्याख्याता आचार्य अपने मतको ही सर्व-वेदप्रतिपाद्य कहते आये हैं। कभी-कभी तो वे अपने निर्णीत सिद्धान्तका उपस्थापन कर यह कहते हैं कि यही सारे वेदान्तोंका प्रतिपाद्य है और फिर अपने इस कथनकी यथार्थता सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थ-निर्माण कर उसमें यह दिखानेका प्रयत्न करते हैं कि किस प्रकार उनका वह सिद्धान्त सारे वेदान्त-वाक्योंका प्रतिपाद्य है[2]।

इसीलिए श्रीशङ्कराचार्यने वेदान्त-सूत्रोंकी जो व्याख्या की वह केवल कुछ लोगोंको ही सन्तुष्ट कर सकी। अन्य अनेक विचारकोंकी धारणा थी कि श्रीशङ्कराचार्यने बौद्ध ग्रन्थोंसे साक्षात् अथवा आचार्य गौडपादादिके माध्यमसे परम्परया गृहीत सिद्धान्तोंके प्रभावमें जिस मायावादका वैदिक मतके रूपमें उपपादन किया है वह वस्तुतः वैदिक मत नहीं है[3]।

श्रीभास्कराचार्यने श्रीशङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्र-भाष्यसे अपना असन्तोष प्रकट करते हुए उसका खण्डन करनेके लिए नया ब्रह्मसूत्रभाष्य लिखा। अपनी भाष्य-रचनाके इस प्रयोजनका उल्लेख करते हुए वे श्रीशङ्कराचार्यका नामोल्लेख किये बिना ही उनके ब्रह्मसूत्रभाष्यकी ओर सङ्केत करते हुए कहते हैं कि हम ब्रह्मसूत्रोंकी यह व्याख्या उस भाष्यका निराकरण करनेके लिए लिख रहे हैं जिसमें सूत्रका अभिप्राय बतानेके नामपर

---

१. आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपात-रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

२. तु०, 'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्या-प्रत्यय-रूपः कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थ-हेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्व-विद्या-प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरक-मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।' (ब्र० शा०, अध्यास-भाष्य)।

३. तु०, 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।
मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥' (पद्मपु० ६.२६३.७०-७१)।

केवल अपना अभिप्रेत मत ही उपस्थापित कर दिया गया है[1]। इसी प्रकार श्रीशङ्कराचार्य एवं श्रीभास्कराचार्य के भाष्योंसे असन्तुष्ट श्रीरामानुजाचार्यने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य एवं गीता-भाष्य आदिका प्रणयन किया और इन तीनों आचार्योंकी कृतियोंसे असन्तुष्ट श्रीमध्वाचार्यने अपने भाष्योंकी रचना की। इसी क्रममें श्रीनिम्बार्काचार्य एवं श्रीवल्लभाचार्य के भाष्य भी लिखे गये। इन व्याख्याओंके माध्यमसे वेदान्त-प्रतिपाद्य-सिद्धान्तके रूपमें उपस्थापित किये जाने वाले मत भी शनैः शनैः 'वेदान्त' संज्ञासे अभिहित किये जाने लगे। वेदान्त-पदके मुख्यार्थके स्थान पर भाक्त अर्थको दृष्टिमें रखकर जब उक्त प्रकारके अभ्युपगत सिद्धान्तोंके लिए भी 'वेदान्त' शब्दका प्रयोग होने लगा तो उस सिद्धान्तके व्यावर्तक स्वरूपका निर्देश करनेके लिए विशेषणोंके प्रयोगका क्रम प्रारम्भ हो गया और केवलाद्वैत-वेदान्त, द्वैताद्वैत-वेदान्त, द्वैतविशिष्टाद्वैत-वेदान्त, द्वैत वेदान्त एवं शुद्धाद्वैत-वेदान्त आदि शब्द प्रचलनमें आ गये। इन प्रयोगोंमें 'वेदान्त' पदको उपनिषद्वाची तथा केवलाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं शुद्धाद्वैत आदि पदोंको 'वेदान्त' का विशेषण मानकर इनका अर्थ समझ सकना कठिन है। इनका सीधा-सा अर्थ है 'वेदान्तोंकी अद्वैत-प्रतिपादकता सिद्ध करनेवाली व्याख्या' आदि। इसीलिए इन व्याख्याओंके प्रति आसक्तिकी स्वाभाविक परिणति सिद्धान्तोंके स्थानपर व्याख्याकारोंके नामके प्रयोगके प्रचलनमें हुई। शाङ्करवेदान्त, रामानुज-वेदान्त, माध्व वेदान्त, नैम्बार्क वेदान्त एवं वाल्लभ वेदान्त आदि प्रयोग इसी अर्थमें सार्थक हैं। अन्यथा यदि कोई सीधा-सादा अर्थ समझनेका अभ्यस्त व्यक्ति 'वेदान्त' का अर्थ 'उपनिषद्' ही समझता हो तो उसे 'शाङ्कर वेदान्त' आदि प्रयोगोंका अर्थ समझनेमें बड़ी असुविधा होगी। अतः स्वभावतः 'शाङ्कर वेदान्त', 'रामानुज-वेदान्त', 'माध्व वेदान्त' तथा 'वाल्लभ वेदान्त' आदि पदोंका अर्थ वेदान्त-वाक्योंकी क्रमशः श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य एवं श्रीवल्लभाचार्य कृत व्याख्या ही समझा जाता है।

* १.१.९ * किन्तु इससे एक नयी समस्या उठ खड़ी होती है। पुरुषार्थ-प्राप्तिके लिए शास्त्रोंसे मार्ग-निर्देश प्राप्त करनेमें प्रवृत्त जिज्ञासु यह देखकर विचलित हो जाता है कि स्पष्टतः परस्पर-भिन्न अर्थोंके प्रतिपादक प्रतीत होनेवाले विविध श्रुति-स्मृति वाक्योंको भी विभिन्न मतोंका निरूपक न मानकर समान उत्सके कारण ऐक-

---

१. सूत्राभिप्राय-संवृत्या स्वाभिप्राय-प्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये॥
तु०, 'स्वबुद्ध्या शास्त्रार्थं परिकल्प्य तत्र वेदं योजयन्तो महासाहसिकाः सद्भिरुपेक्ष्याः।' (अ० १.१.३)।

मत्यका प्रतिपादक सिद्ध करनेमें प्रवृत्त विभिन्न भाष्यकार भी 'विनायकं प्रकुर्वाणो रक्षयामास वानरम्' की तरह, स्वयं अपने विचारोंकी विभिन्नताके कारण अन्ततः उन्हें केवलाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत एवं शुद्धाद्वैत आदि परस्पर-विरुद्ध मतोंका प्रतिपादक ही प्रमाणित करते हैं[1]। वह भाष्यकारोंके परस्पर-विरुद्ध विभिन्न सिद्धान्तोंसे परिचित होनेके कारण मूल ग्रन्थ एवं भाष्यकारों या सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों के मतोंमें विवेक करनेको विवश है अतः वह अपनेमें इतना आत्मविश्वास एवं साहस नहीं पाता कि प्रत्येक भाष्यकारके मतको सूत्रकारका मत मानकर, जिनको लक्ष्य कर गीत-गोविन्दकार महाकवि जयदेवने,

'निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्। सदय-हृदय! दर्शित-पशु-घातम्।
केशव! धृत-बुद्ध-शरीर! जय जगदीश! हरे!' (गीतगो०, सर्ग १ पृ० ४)।

इत्यादि गाया है उन्हीं परमकारुणिक शास्ताके सम्बन्धमें कही गयी 'श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-श्रीशङ्कर-भगवत्पाद' की, 'बाह्यार्थ-विज्ञान-शून्यवादत्रयमितरेतर-विरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्ध-प्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु, विरुद्धार्थ-प्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति। सर्वथाऽप्यनादरणीयोऽयं सुगत-समयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः।' (ब्र० शा० २.२.३२) इत्यादि उक्तिका अनुसरण करते हुए कह सके कि 'केवलाद्वैत-द्वैताद्वैत-द्वैतविशिष्टाद्वैत-द्वैत-शुद्धाद्वैत-वाद-पञ्चकमितरेतर-विरुद्धमुपदिशता शारीरक-सूत्रकारेण स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्ध-प्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थ-प्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति। सर्वथाऽप्यनादरणीयोऽयं शारीरक-सूत्रकार-समयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः।' उसकी विविध-वेदान्त-सम्प्रदाय-विप्रतिपन्न बुद्धि यह नहीं निश्चय कर पाती कि इन व्याख्याओंमेंसे कौन सी व्याख्या यथार्थ एवं श्रेयस्कर है। विना विचार किये इनमेंसे जिस किसीको भी स्वीकार कर लेना कल्याणकारी होनेके स्थानपर अनर्थकारी सिद्ध हो सकता है[2]। किसी एक व्याख्याका चयन करनेमें बुद्धिकी सहायता न लेकर सम्बन्ध, श्रद्धा एवं आसक्तिके आधारपर निर्णय करनेका भी कोई औचित्य या स्वारस्य नहीं है। सम्प्रति इनमेंसे कोई भी प्रमुख व्याख्याकार विद्यमान नहीं हैं कि उनकी लालाटिकता किसीको लाभकर लगे। केवल कुछ लोगोंको छोड़कर, अधिकांश लोग उन व्याख्याकारोंके सम्बन्धी या शत्रु भी नहीं हैं[3]। तब उनके द्वारा

---

१. तु०, 'एक मातृ-प्रसूतानामैकपत्य-प्रवर्तिनाम्।
स्व-वैमत्येन वैमत्यं शास्त्राणां बालिशा जगुः॥'

२. द्र०, 'तत्राविचार्यं यत्किञ्चित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत, अनर्थं च इयात्।' (ब्र० शा० १.१.१)।

३. तु०, 'बन्धुर्न नः स भगवान् रिपवोऽपि नान्ये साक्षान्न दृष्टचर एकतरोऽपि तेषाम्।'

प्रतिपादित सिद्धान्तकी हेयता या उपादेयता का आधार या निकष क्या हो ? यदि उनमें से किसी एकको सर्वज्ञ मान लिया जाये तो दूसरेको सर्वज्ञ न मान कर केवल उसीको सर्वज्ञ माननेका क्या आधार होगा और उनमेंसे दो या अधिकको सर्वज्ञ मान लेनेपर उनमें परस्पर मतभेदकी, उनकी वेदान्त-व्याख्याओंके परस्पर-विरोधी होनेकी व्याख्या कैसे की जायेगी[1] ?

* १.१.१० * अपनी व्याख्याओंको ही 'वेदान्त' कहकर प्रतिष्ठित कर देने के लिए जो व्यवस्थित प्रयत्न किये गये उनके परिणाम-स्वरूप वेदान्तके नाम पर इन व्याख्याकारोंकी कृतियों एवं उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका उपपादन करने वाले ग्रन्थों का ही पठन-पाठन प्रचलित हो गया और मूलतः वेदान्त कहे जाने वाले उपनिषदोंका तथा तदितर वैदिक वाङ्मयका व्यवस्थित अध्ययन उपेक्षित हो रह गया।

भारतीय उपमहाद्वीपमें अंग्रेजोंके प्रभुत्वके समय जब वेदान्त-विचारका अंग्रेजी भाषाके माध्यमसे पश्चिमी विश्वमें उपस्थापन प्रारम्भ हुआ तब पश्चिममें प्रत्ययवादी दर्शनका बोल-बाला था। इस दर्शनकी विचार-सरणि एवं इसके कुछ सिद्धान्तों का वेदान्तकी शाङ्कर-व्याख्यासे बहुत साम्य था। स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी रामतीर्थ सदृश महामनीषी संन्यासियों तथा डॉ० राधाकृष्णन् सदृश विचारकों ने भारतीय धर्म-दर्शनके रूपमें जिस विचार-प्रणाली एवं जीवन-प्रणाली का प्रचार पाश्चात्य-जगत्में किया उसका आधार भी बहुत कुछ वेदान्तकी शाङ्कर व्याख्या ही थी। भारतवर्षमें भी श्रीशङ्कराचार्य द्वारा स्थापित पीठोंके पीठासीन शङ्कराचार्यों एवं अनेक महामण्डलेश्वरों के सत्प्रयत्नोंसे श्रीशङ्कराचार्य एवं उनकी विचार-सरणि के अनुयायी विद्वानोंके ग्रन्थोंका अध्ययन-अध्यापन सर्वाधिक प्रचलित था। इन सबके साथ ही श्रीशङ्कराचार्यके अत्यन्त प्रौढ एवं स्फीत ग्रन्थोंके आकर्षणने विद्वानोंको अपनी ओर इस सीमा तक आकृष्ट किया कि पश्चिमी जगत्में उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंको ही वेदान्त और भारतवर्षका सर्वोत्कृष्ट दर्शन माना जाने लगा। भारतवर्षमें भी 'अद्वैत-वेदान्त' एवं 'शाङ्कर-वेदान्त' शब्दोंका प्रचलन केवल कुछ लोगों तक ही सीमित रह गया और जन-साधारणमें 'वेदान्त' पद 'शाङ्कर-वेदान्त' के अर्थमें रूढ हो गया।

किसी एक ही दार्शनिक-धार्मिक विचार-धाराके अधिक प्रचलित एवं प्रतिष्ठित हो जानेपर सामान्य लोगोंमें दार्शनिक-सम्प्रदायोंमें उच्चावच-भाव माननेकी प्रवृत्ति बलवती हो जाती है। ऐसी स्थितिमें जो किसी सम्प्रदाय-विशेषसे घनिष्ठ रूपसे साक्षात् सम्बद्ध नहीं होते उन विद्वानोंका अध्ययन प्रायः प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदायके सिद्धान्तों तक ही सीमित रह जाता है। इसीलिए स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पूर्व अंग्रेजीमें भारतीय-

---

१. तु०, 'कपिलो यदि सर्वज्ञः सुगतो नेति का प्रमा ?
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ बुद्धि-भेदः कथं तयोः ??'

दर्शनपर जो ग्रन्थ लिखे गये उनमें वेदान्तके अद्वैतेतर सम्प्रदायोंका विवेचन औपचारिक खानापूरीसे अधिक नहीं था। भारतीय-दर्शनके इतिहासके नामपर कुछ दार्शनिक सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करनेवाले अंग्रेज़ी-हिन्दी पुस्तकोंके लेखकोंने अद्वैतेतर वेदान्त-सम्प्रदायोंके गम्भीर अध्ययनका प्रयत्न नहीं किया। वाल्लभ वेदान्त या शुद्धाद्वैत-वेदान्त भी इसका अपवाद न था। इसके मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका पठन-पाठन भी प्रायः श्रीवल्लभाचार्यके वंशज गोस्वामिकुल, उनसे सम्बद्ध शास्त्रि वर्ग एवं सम्प्रदायानुयायी कुछ प्रबुद्ध वैष्णवों तक ही सीमित रहा।

शुद्धाद्वैत वेदान्तके प्रतिष्ठापक श्रीवल्लभाचार्यके सम्बन्धमें विद्वानोंकी जानकारी की यह स्थिति है कि **'The वैष्णव Sects of India'** के लेखक स्वामी तत्त्वानन्दके अनुसार वल्लभाचार्य विष्णुस्वामीका ही एक अन्य अभिधान या नामान्तर है (वही, पृष्ठ ३२)। स्वामी दयानन्द सरस्वतीकी प्रसिद्ध कृति सत्यार्थ-प्रकाश (पृष्ठ ३६२) के अनुसार "तैलङ्गी लक्ष्मण भट्ट नाम ब्राह्मण ·· स्त्री को छोड़ काशीमें जाके उसने संन्यास ले लिया था और झूठ बोला था कि मेरा विवाह नहीं हुआ।···उसके माता, पिता और स्त्री काशीमें पहुँच कर जिसने उसको संन्यास दिया था उससे कहा···। स्त्रीने कहा कि यदि आप मेरे पतिको मेरे साथ न करें तो मुझको भी संन्यास दे दीजिये। तब तो उसको बुला के कहा कि तू बड़ा मिथ्यावादी है, संन्यास छोड़, गृहस्थाश्रम कर, क्योंकि तूने झूठ बोल कर संन्यास लिया। उसने पुनः वैसा ही किया, संन्यास छोड़ उसके साथ हो लिया।···जब तैलङ्ग देशमें गये उसको जातिमें किसीने न लिया तब वहांसे निकल कर घूमने लगे। 'चरणार्गढ' जो काशीके पास है उसके समीप 'चंपारण्य' नामक जङ्गलमें चले जाते थे। वहाँ कोई एक लड़केको जङ्गलमें छोड़ ··कर चला गया था·· लक्ष्मण भट्ट और उसकी स्त्री ने लड़केको लेकर अपना पुत्र बना लिया।" श्रीवल्लभाचार्यके जन्मस्थान चम्पारण्य को - जो आधुनिक मध्यप्रदेशके रायपुर नगरसे कुछ किलोमीटर दूर है—स्वामी दयानन्द सरस्वती "'चरणार्गढ' जो काशीके पास है उसके समीप" बताते हैं तो **'Society and Culture in Medieval India'** के लेखक श्री एम्० पी० श्रीवास्तव उनका जन्म काशीमें ही हुआ कह देते हैं (वही, पृष्ठ ५६), और डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त इसे बनारसके पास स्थित 'पम्पारण्य' कहते हैं[१]। उनका जन्मकाल डॉ० राधाकृष्णन् ई० सन् १४०१ लिखते हैं[२], डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ई० सन् १४८१[३] और डॉ० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ई० सन् १४७९[४]। पॉल यङ्गर **(Paul Younger)** ने अपनी कृति **'The Indian Religious Tradition'** के

१. **H. I. P, Vol. IV. p. 371.** २. **I.Ph.Vol. II. p. 756.**
३. **H. I. P., Vol. IV. p. 371.** ४. **V. S. R. S., p. 77.**

प्रारम्भमें सन् १४७९ के आस-पास श्रीवल्लभाचार्यके देहावसान होनेकी बात लिखी है। 'Society and Culture in Medieval India' (पृष्ठ ५७) के अनुसार श्रीवल्लभाचार्य वृन्दावनमें बस गये थे और उन्होंने व्रजभाषामें भी कई पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं! भारतमें 'Theosophy Movement' (थियोसॉफ़ी आन्दोलन) का प्रवर्तन करनेवाली श्रीमती एनी बेसेन्ट (Mrs. Annie Besant) के शब्दोंमें[1] 'परम अशिक्षित वल्लभाचार्य' के पुष्टिमार्गका स्वरूप बताते हुए आर्य-समाजके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वतीने अपने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में लिखा है कि, 'ये गोसांई लोग अपने सम्प्रदायको 'पुष्टि' मार्ग कहते हैं अर्थात् खाने, पीने, पुष्ट होने और सब स्त्रियोंके सङ्ग यथेष्ट भोग-विलास करनेको पुष्टिमार्ग कहते है[2]।' डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्तसे वाल्लभ-सम्प्रदायका विवरण देनेमें जो अनेक भूलें हुई हैं उनमेंसे कुछका निर्देश हमने अपनी 'भक्तिहेतुनिर्णय' की 'भूमिका' के पृष्ठ २४–२६ पर तथा अन्य कृतियोंमें विस्तारसे किया है जहाँ हमने यह भी बताया है कि यहाँ समीक्ष्यमाण ग्रन्थ 'विद्वन्मण्डनम्' के नामके बारेमें भी उनका ज्ञान इतना सन्देहपूर्ण एवं अनिश्चयात्मक है कि वे अपनी कृतिमें इसका नाम दो बार[3] 'विद्यामण्डन' बताते हैं और तीसरी बार[4] 'विद्वानमण्डन'।

वाल्लभ-वेदान्तके प्रमुख मूलग्रन्थोंमें अन्यतम 'श्रीमदणुभाष्यम्' के प्रथम-संस्करणके सम्पादक तक इसके शुद्धाद्वैत-प्रतिपादक स्वरूपसे अपरिचित थे। शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवाद-प्रतिपादक 'श्रीमदणुभाष्यम्'—जो श्रीवल्लभाचार्य एवं गोस्वामि-श्रीविट्ठलनाथ इन दो आचार्योंकी संयुक्त कृति है[5]—का सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १८९७ ई० में एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता (Asiatic Society, Calcutta) से, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी (Bengal Asiatic Society) द्वारा 'बिब्लियोथिका इन्डिका' (Bibliotheca Indica) के नामसे प्रकाशित की जानेवाली पौरस्त्य कृतियोंकी ग्रन्थमालाके पञ्चम गुच्छके रूपमें हुआ था। इसका सम्पादन पं० हेमचन्द्र विद्यारत्नने किया था। इस प्रकाशनमें कोई भूमिका, परिशिष्ट, टीका या अनुवाद आदि ऐसा कुछ नहीं है जिससे यह अनुमान किया जा सके कि सम्पादकने ग्रन्थको समझा भी है या नहीं, हाँ मुखपृष्ठ पर मुद्रित उनके 'अणुभाष्यम् - बादरायण-प्रणीत-वेदान्त-सूत्रस्य वल्लभाचार्यकृतं द्वैताद्वैत-पर व्याख्यानम्' इस वाक्यसे यह अवश्य सूचित होता है कि वे इस तथ्यसे अपरिचित तो थे ही कि ब्र० ३.२.३३ के बादका अणुभाष्य श्रीवल्लभाचार्यकी कृति नहीं है, इस बातसे भी नहीं अवगत थे कि अणुभाष्य एवं अन्य

---

१. '... the most illiterate वल्लभाचार्य....' (Esoteric Christianity p 369).

२. सत्यार्थ-प्रकाश, पृ० ३६६. ३. H. I. P., Vol. IV. p. 377.

४. वहीं पृ० ३८१ पर। ५. द्र०, अणुभाष्य-समीक्षा, पृष्ठ २९–४१.

वाल्लभ-वेदान्तके ग्रन्थ द्वैताद्वैत-प्रतिपादन-परक नहीं शुद्धाद्वैत-प्रतिपादन-परक हैं।

सच तो यह है कि वाल्लभ वेदान्तके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों एवं उसकी ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक परम्परा का आधुनिक दृष्टिसे गम्भीर, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक अध्ययन अभी भी नहीं हुआ है। इतना ही नहीं हमें तो यह कहनेमें भी सङ्कोच नहीं है कि श्रीवल्लभाचार्य, गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ एवं गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम आदिके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके भी अच्छे आधुनिक संस्करण अभी नहीं छप पाये हैं। ऐसी परिस्थितिमें पुरानी शैलीमें पृष्ठों लम्बे अनुच्छेदोंमें मूल एवं उद्धरण तथा गद्य और पद्य का भेद किये विना ही छाप दिये गये ग्रन्थोंसे अल्प समयमें ही स्वतन्त्र रूपसे उनके सिद्धान्तको समझ लेना किसी प्रबुद्ध शोधकर्ताके लिए भी असम्भव नहीं तो दुष्कर एव परिश्रम-साध्य अवश्य है। इसीलिए हमने इस महत्त्वपूर्ण वेदान्त-सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको विशदतया समझनेके लिए पहले कुछ प्रमुख मौलिक ग्रन्थोंका आधुनिक वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादन एवं अनुवाद कर उनकी व्याख्या प्रकाशित करनेके कार्यको वरीयता दी थी। वाल्लभ सम्प्रदायके दशाधिक ग्रन्थोंके प्रकाशन एवं दीर्घकालिक अध्ययन-अध्यापन से हमारी यह धारणा पुष्ट ही हुई है कि शुद्धाद्वैतका गम्भीर दार्शनिक विवेचन एवं मूल्याङ्कन करनेके लिए गो० श्रीविट्ठलनाथके महत्त्वपूर्ण वादग्रन्थ विद्वन्मण्डनका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन—जो अभी तक उपेक्षित हो रहा है—अत्यन्त आवश्यक है और यही प्रकृत ग्रन्थके प्रकाशनमें हमारी प्रवृत्तिका प्रमुख प्रयोजन है।

❀ १.२.० ❀ गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ और उनका विद्वन्मण्डन

* १.२.१ * प्रस्तुत वाद-ग्रन्थके प्रणेता गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथके सम्बन्धमें यद्यपि वाल्लभ-सम्प्रदायसे अनभिज्ञ लोगोंकी जानकारी बहुत सीमित है तथापि पुष्टि-मार्ग एवं उसके साहित्य से सुपरिचित व्यक्तियोंकी दृष्टिमें भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक चिन्तनको उनका अवदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे दर्शनके क्षेत्रमें शुद्धाद्वैत-वेदान्तके संस्थापक और धर्मके क्षेत्रमें पुष्टि-मार्गके प्रवर्तक के रूपमें प्रसिद्ध महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके सुयोग्य पुत्र थे जिन्होंने अपने युगद्रष्टा पिताके अधूरे स्वप्नोंको साकार किया। इसीलिए वाल्लभ-सम्प्रदायकी परम्परा श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथ दोनोंको ही शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद एवं पुष्टि-मार्ग का मूल आचार्य मानती आयी है[1] और आज भी वाल्लभ विद्वान् यही मानते हैं कि 'शुद्धाद्वैत-दर्शनके दो मूल आचार्य हैं श्रीवल्लभाचार्य और श्रीविट्ठलनाथजी[2]।' शुद्धाद्वैत-दर्शन एवं पुष्टि-मार्ग का प्रवर्तन श्रीवल्लभाचार्यने किया तथा उसका सम्पूरण, विकास, विस्तार एवं प्रचार गम्भीर चिन्तक एवं महान्

१. अतएव अस्मिन्मार्गे आचार्यद्वयम् (सि० मु० टि०, पृ० २)।
आचार्यरत्नं सर्वानुग्रहकृन्मन्त्रवित्तमः। (नामरत्न० २३)।
२. श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप, पृष्ठ ११०.

धर्माचार्य श्रीविट्ठलनाथने[1]।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीमती महालक्ष्मी[2] के द्वितीय आत्मज श्रीविट्ठलनाथका जन्म शुक्रवार पौष-कृष्ण-नवमी वि० सं० १५७२ (ई० सन् १५१५) के दिन आधुनिक उत्तर-प्रदेशके मिर्ज़ापुर ज़िलेके अन्तर्गत चुनार (चरणाद्रि) में हुआ था। उनका विवाह वि० सं० १५८९ में काशीके श्रीविश्वनाथ भट्ट एवं श्रीमती भवानी की दुहिता कुमारी रुक्मिणीसे हुआ था। वे वि० सं० १६१९ तक त्रिवेणी सङ्गमके समीप स्थित अडेल ग्राममें रहे। तदनन्तर कुछ दिन विभिन्न स्थानोंपर रहनेके बाद वे मध्यप्रदेशके गढ़ा नामक स्थानपर जा बसे। यहीं श्रीमती रुक्मिणीका देहावसान हो जानेपर वि० सं० १६२० की अक्षय-तृतीयाको उन्होंने श्रीकृष्णराय भट्टकी दुहिता कुमारी पद्मावतीसे (दूसरा) विवाह किया। प्रायः तीन वर्ष वहाँ रहनेके बाद वे कुछ दिन प्रयाग एवं गोकुल में रहकर मथुरामें सतघरामें आ गये। छः वर्ष तक वहाँ रहनेके बाद उन्होंने वि० सं० १६२८ में फाल्गुन मासमें गोकुलको अपना स्थायी निवास बनाया और यावज्जीवन वहीं रहे। दीर्घकालतक भावुक भक्तोंको भक्तिरसमें अवगाहन कराकर सत्तर वर्षसे कुछ अधिक[3] वयमें उन्होंने वि० सं० १६४२ में माघ-कृष्ण-षष्ठीके दिन अपनी इहलीला समाप्त की।

श्रीविट्ठलनाथने वैष्णव व्रतों एवं उत्सवों के समय तथा प्रकारका निर्धारण करनेके साथ ही सङ्गीत, चित्रकला और पाकशास्त्र आदिका भगवत्सेवामें समुचित विनियोग करते हुए आठ मुख्य शृङ्गारोंकी सेवाप्रणालीको इस प्रकार विकसित किया कि परवर्ती वैष्णवाग्रगण्योंने उन्हें 'सर्ववैष्णवराज' कह कर उनके द्वारा बतायी गयी सेवाप्रणालीको ही आदर्श एवं अनुकरणीय मानकर स्वीकार किया है[4]। उन्होंने तेलुगु-भाषी होते हुए भी कृष्णकी लीलाभूमि व्रजकी भाषाको 'पुरुषोत्तमभाषा' कहते हुए उसके आठ कवियोंसे घटित 'अष्टछाप' की स्थापना कर हिन्दी-साहित्यको समृद्ध करने एवं उसमें कृष्णभक्तिको प्रतिष्ठित करनेमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। उनके जीवनवृत्तका विस्तृत एवं प्रामाणिक विवरण हम अपनी अन्य कृतियोंमें दे चुके हैं अतः यहाँ उसका

---

१. पितृप्रवर्तितपथप्रचारसुविचारकः। (नामरत्न० १२)।

२. महालक्ष्मी-गर्भरत्नम्। (वही, ९)।

३. सप्ततिः किल वर्षाणि दिनान्यष्टौ च विंशतिः।
वसुधायां व्यराजन्त श्रीमद्विट्ठलदीक्षिताः॥

४. सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनः।
श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सव-निर्णयम्॥
कार्यास्तदनुसृत्यैव सर्व एव व्रतोत्सवाः।
सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि॥ (शिक्षापत्री ८१-८२)।

पिष्टपेषण नहीं कर रहे हैं। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय देते हुए हमने वहाँ उनके आदर्श धर्माचार्य, गतिशील गुरु और टीका, व्याख्या तथा स्वतन्त्र दार्शनिक-धार्मिक ग्रन्थों के लेखक रूपोंकी चर्चा की है[1]। उनके तीन प्रमुख वादग्रन्थों-मेंसे दो को हम संस्कृत-हिन्दी व्याख्याओं सहित पहले ही प्रकाशित कर चुके हैं अतः यहाँ हम केवल उनके तीसरे और सर्वाधिक-महत्त्वपूर्ण वादग्रन्थ 'विद्वन्मण्डनम्' के विषयमें ही विचार करना उपयुक्त समझते हैं।

गो० श्रीविट्ठलनाथका वाद-ग्रन्थ 'विद्वन्मण्डनम्' न केवल उनकी कृतियोंमें सर्वातिशायी है अपि तु वाल्लभ-सम्प्रदायके दार्शनिक ग्रन्थोंमें निर्विवाद रूपसे सर्वाधिक प्रौढ ग्रन्थ है। सम्प्रदायसे अनतिसम्बद्ध विद्वानोंमें इसका पठन-पाठन अधिक प्रचलित नहीं रहा है और दुरूह होनेके कारण सम्प्रदायमें भी इसका अध्ययन केवल परिनिष्ठित पण्डितों तक ही सीमित रहा है। हम विद्वन्मण्डन तथा उसकी टीकाओं के सभी पूर्व-प्रकाशित संस्करणों तथा कुछ पाण्डुलिपियों के आधारपर निष्पादित उसका एक नवीन संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं जिसमें हमने उसका हिन्दी भाषानुवाद देनेके साथ ही विस्तृत हिन्दी व्याख्या भी दी है। इस हिन्दी-व्याख्यामें पूर्वप्रकाशित सभी टीकाओंमें किया गया महत्त्वपूर्ण विचार तो सङ्कलित किया ही गया है विद्वन्मण्डनका खण्डन करनेके लिए श्रीसदानन्दयति द्वारा लिखे गये 'सहस्राक्ष' (जिसको हमने सुसम्पादित कर पुनः प्रकाशित किया है) में उठाये गये प्रश्नों पर भी विचार किया गया है। जिन विषयोंका विवेचन हमने अपने उक्त ग्रन्थके कलेवरमें अथवा उसकी भूमिकामें स्पष्टतया विस्तारसे किया है उनकी पुनरुक्तिसे हम प्रकृत प्रकाशनका कलेवर बढ़ाना उचित नहीं समझते हैं। अत एव हम यहाँ यह सूचित कर देना उपयुक्त समझते हैं कि हमने विद्वन्मण्डनकी बहिरङ्ग-समीक्षा वहाँ विशदतया की है। इस वादग्रन्थके बारेमें विद्वानों-के अज्ञानकी चर्चासे प्रारम्भ करते हुए हमने वहाँ जिन विषयोंका विवेचन किया है उनकी यहाँ सूचना दे देना हम अपेक्षित समझते हैं। संक्षेपमें कहें तो जिन विषयोंका वहाँ विवेचन कर चुकनेके कारण हम यहाँ उनकी पुनरुक्तिसे विरत हो रहे हैं वे हैं, विद्वन्मण्डनके अध्ययनके अधिकारी, विद्वन्मण्डनकी रचनाका प्रयोजन, विद्वन्मण्डनमें आश्रित वादशैली, विद्वन्मण्डनकी वेदान्त-वाक्य-मीमांसा-मुखसे प्रतिपक्ष-निरासकी प्रक्रिया, विद्वन्मण्डनका निरसनीय प्रमुख प्रतिपक्ष, गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथके ग्रन्थोंका

---

१. द्रष्टव्य : हमारी हिन्दी-व्याख्या-सहित आनन्द प्रकाशन संस्थानसे प्रकाशित 'भक्ति-हंस' तथा 'भक्तिहेतु-निर्णय', एवं प्रकाश्यमान 'भक्ति-त्रिवेणी।' विशेषतः हमारी 'अणुभाष्य-समीक्षा' के पृष्ठ १३-४१. गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंकी सूची यहाँ परिशिष्टके रूपमें ग्रन्थके अन्तमें दी गयी है।

पौर्वापर्य और उनमें विद्वन्मण्डनम् की स्थिति, विद्वन्मण्डनके स्वयं ग्रन्थकार द्वारा किये गये परिष्कारकी चर्चा, विद्वन्मण्डनकी रचना-प्रक्रिया और उसमें ग्रन्थकारके पुत्रोंके सहकारकी चर्चा, विद्वन्मण्डनका परवर्ती विद्वानों द्वारा उपयोग, विद्वन्मण्डनकी विचार-पद्धतिका विश्लेषण एवं मूल्याङ्कन, विद्वन्मण्डनकी भाषा, विद्वन्मण्डन और खण्डनखण्ड-खाद्य, विद्वन्मण्डनके पठन-पाठनकी विरलता, विद्वन्मण्डनकी संरचना एवं उसका स्वरूप, विद्वन्मण्डनकी टीकाएँ (गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमकृत 'सुवर्णसूत्र', गोस्वामी श्रीगिरिधरकृत दीपिकापरनाम्नी 'हरितोषिणी', विद्वन्मण्डनप्रकाशापरनाम्नी 'गङ्गाधरभट्टी', देवर्षि गोकुलकृष्णभट्टकी कृतिके रूपमें ज्ञात एवं अपूर्ण रूपमें उपलब्ध 'सिद्धान्तशोभा' तथा अज्ञातकर्तृक 'विद्वन्मण्डन-वाक्यार्थ'), श्रीबालकृष्णभट्टकृत-निर्णयार्णवान्तर्गत विद्वन्मण्डन-सन्दिग्धार्थ-वाक्य-विचार, श्रीजगन्नाथलालशास्त्रिकृता विद्वन्मण्डन-टिप्पणी, विद्वन्मण्डनके अद्यावधि प्रकाशित विभिन्न संस्करणोंका परिचय एवं मूल्याङ्कन, विद्वन्मण्डनके गुजराती भाषानुवादका परिचय एवं मूल्याङ्कन तथा विद्वन्मण्डनके खण्डनार्थ लिखे गये श्रीसदानन्दयतिकृत 'सहस्राक्ष' और सहस्राक्ष-खण्डनात्मक 'प्राभञ्जन'—जो कोटाके गो० श्रीविट्ठलनाथकी कृति है – का परिचय एवं उनकी समालोचना।

विद्वन्मण्डनके प्रतिपाद्य विषयोंका संक्षिप्त विवरण

• २.१.१ • विद्वन्मण्डनके प्रारम्भिक मङ्गलश्लोक[1]में सन्निविष्ट 'आर्द्रार्द्रः', 'प्रति-युवति-सम्भेदेन प्रकटीभवन्' एवं 'अस्मद्-दृशां विषयः' पदोंके प्रयोग द्वारा ब्रह्मको निर्विकार, निर्गुण तथा अप्रत्यक्ष माननेके मायावादी (जगन्मिथ्यात्ववादी) वेदान्तियोंके मतके निरासका सङ्केत करते हुए प्रत्यगात्मरूप मङ्गलाचरण द्वारा गो० श्रीविट्ठलनाथने यह सूचित किया है कि वे इस ग्रन्थमें जिस दार्शनिक एवं धार्मिक मतका प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं उसके अनुसार ब्रह्मपदाभिधेय भगवान्का उक्त प्रकारसे प्रकट हो जाना ही परम फल और चरम पुरुषार्थ है[2] ।

द्वितीय श्लोकमें ग्रन्थकारने बताया है कि उनके पूज्य पिता श्रीवल्लभाचार्य भगवद्भक्ति-मार्ग-रूप कमलको प्रकाशित करनेवाले सूर्य हैं और उनके द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धान्तको वे प्रयत्नपूर्वक व्यवस्थित रूपमें उपस्थापित कर रहे हैं ।

तृतीय पद्यमें ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ का नाम-निर्देश करते हुए उन नामोंके स्वारस्यका संकेत किया गया है । ग्रन्थकारका 'विट्ठल' यह नाम, 'विदा=ज्ञानेन, ठान्=शून्यान्, लाति=गृह्णाति, यः स्वयम् । तेनायं विट्ठल प्रोक्तः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार, अबोध लोगोंको भी अपनाने तथा ज्ञान दान देकर कृतार्थ करने की उनकी अत्यन्त दयालु प्रवृत्तिका सूचक है । ग्रन्थकारके नामकी उक्त व्युत्पत्ति प्रकृत ग्रन्थकी रचनामें उनकी प्रवृत्तिकी व्याख्यामें भी सहायक है । ग्रन्थका 'विद्वन्मण्डनम्' नाम यह सूचित करता है कि विद्वानोंके आभूषणरूप इस ग्रन्थके अध्ययन-रूप धारणसे सभामें वाद-विजयादि-रूप शोभा बढ़ती है । प्रकृत कृतिमें शब्द-प्रमाण-सिद्ध वेदान्त-मतका युक्ति-युक्त निरूपण किया गया है यह सूचित करनेके लिए इसे वेद, ब्रह्मसूत्र,

---

१. निज-मुरलिका-नादाह्वानागत-व्रज-सुन्दरी-
निरुपम-नव-स्नेहाम्भोधेर्विचित्रतरोर्मिभिः ।
किमपि परितश्चार्द्रार्द्रोऽस्तु प्रभुः प्रकटीभवन्
प्रति-युवति-सम्भेदेनास्मद्-दृशां विषयः सदा ॥

२. श्रीवल्लभाचार्य-मते फलं तत्प्राकट्यमत्राव्यभिचारि-हेतुः ।
प्रेमैव, तस्मिन्नवधोक्त-भक्तिस्तत्रोपयोगोऽखिल-साधनानाम् ॥

भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवत की मणियोंसे जटित तथा युक्तिरूप मुक्ताओंसे ग्रथित कहा गया है।

• २.१.२ • ग्रन्थके प्रमुख प्रतिपाद्यका उपन्यास करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रपञ्चमें विविध-प्रकारके पापोंसे जनित तापसे सन्तप्त हो रहे लोगोंके मोक्षके लिए श्रुतियों, स्मृतियों एवं पुराणों में मोक्षके साधनके रूपमें श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का प्रतिपादन किया गया है। वहाँ इनका विषय ब्रह्मको ही बताया गया है। अतः मुमुक्षुओंको ब्रह्मके स्वरूपकी जिज्ञासा होती है। ब्रह्म श्रुति-प्रतिपादित तत्त्व है अतः उसके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान श्रुतिवाक्योंसे ही होगा। किन्तु कुछ श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मको निर्धर्मक बताया गया है एवं कुछ अन्य श्रुतिवाक्योंमें उसे सधर्मक बताया गया है, अतः मुमुक्षु जिज्ञासुओंको उसके स्वरूपके विषयमें 'ब्रह्म निर्धर्मक है या सधर्मक' इस प्रकारका संशय होता है। इस संशयका निराकरण कर ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करते हुए मुमुक्षुओंकी जिज्ञासा शान्त करना ही प्रकृत ग्रन्थका प्रमुख प्रयोजन है।

• २.१.३ • पूर्वोक्त प्रयोजनकी सिद्धिके लिए ग्रन्थकार पहले श्रुति, स्मृति एवं पुराण से कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत करते हैं जिनमें ब्रह्मके निर्विशेष एवं निर्धर्मक होनेका प्रतिपादन हुआ लगता है। तदनन्तर वे श्रुति, स्मृति एवं नारद-पञ्चरात्र आदिसे कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत करते हैं जिनमें ब्रह्मके सविशेष एवं सगुण होनेका प्रतिपादन मिलता है। इस प्रकार संशयका स्वरूप बतानेके बाद पूर्वपक्षके निरूपणका उपक्रम करते हुए वे जिज्ञासा करते हैं कि पूर्वोक्त दोनों मतोंमेंसे कौन सा मत युक्तियुक्त और स्वीकरणीय है। इस जिज्ञासाके समाधानके रूपमें वे हेतूपन्यास-पूर्वक यह पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि (१) निर्विशेष-ब्रह्मके सविशेष-ब्रह्मका उपजीव्य होनेसे, (२) निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्यों द्वारा ब्रह्ममें धर्मों या विशेषों के होनेका निषेध किये जानेसे, (३) सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंके अन्यपरक (अर्थात् उपासनापरक) होनेसे, तथा (४) निर्विशेष-ब्रह्मके सविशेष-ब्रह्मका अन्तरङ्ग होनेसे श्रुतिमें निर्विशेष-ब्रह्मका निरूपण हुआ मानना ही उचित है[1]।

यहाँ उपन्यस्त चार युक्तियोंमेंसे प्रथम युक्तिका आशय यह है कि ब्रह्मको सविशेष माननेवाले विचारकोंको भी यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि विशेषोंका आधार ब्रह्म ही है, अन्यथा वे विशेषोंके किसमें होनेकी बात कहेंगे? इस प्रकार आधार-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्य आधेय धर्मोंके निरूपक श्रुतिवाक्योंके उपजीव्य सिद्ध होंगे और उनका उपजीवी वाक्योंसे निराकरण करना युक्तियुक्त नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि निर्विशेष-ब्रह्म सविशेष-ब्रह्मका उपजीव्य एवं निर्वाहक है और निर्वाहक

---

१. उपजीव्यत्वतः श्रौतवाक्यैश्चान्यपरत्वतः।
अन्तरङ्गत्वतश्चापि निर्विशेषं निरूप्यते॥ (विद्व०, पृष्ठ १२)।

प्रथम या मुख्य होता है अतः ब्रह्मको निर्विशेष मानना ही युक्तियुक्त है।

द्वितीय युक्तिका आशय यह है कि निर्विशेष-ब्रह्म-वादके समर्थनमें उद्धृत 'अस्थूलम्' (बृ० ३.८.८) आदि श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्ममें धर्मोंके होनेका स्पष्ट निषेध उपलब्ध होता है अतः ब्रह्मको निर्विशेष मानना ही ठीक है।

तृतीय युक्तिका अभिप्राय यह है कि निर्विशेष-ब्रह्मकी उपासना सम्भव न होनेके कारण श्रुतिमें उपासनाके लिए सविशेष-ब्रह्मका निरूपण किया गया है। इस प्रकार सविशेष-ब्रह्मका अथवा ब्रह्मके कर्तृत्वादि धर्मोंका निरूपण करनेवाले श्रुतिवाक्य उपासना-बोधक होनेके कारण ब्रह्मपरक नहीं प्रत्युत अन्यपरक अर्थात् उपासना-परक हैं और उनका तात्पर्य ब्रह्मका निरूपण करना नहीं प्रत्युत चित्तशुद्धि आदिके लिए उपासनाका प्रतिपादन करना है। अतः सविशेष-ब्रह्मके प्रतिपादक वाक्योंके अन्यपरक (अर्थात् उपासनापरक) होनेके कारण ब्रह्मके स्वरूपका निरूपक निर्विशेष-ब्रह्मके प्रतिपादक वाक्योंको ही मानना चाहिए। इससे भी स्पष्ट है कि ब्रह्म निर्विशेष ही है सविशेष नहीं।

चतुर्थ युक्तिका तात्पर्य अधोलिखित है। आधार आधेयका अन्तरङ्ग होता है और उसका निरूपण आधेयके निरूपणकी अपेक्षा प्राथमिक अर्थात् मुख्य होता है। अतः सविशेष-ब्रह्मका अन्तरङ्ग होनेके कारण निर्विशेष-ब्रह्म प्राथमिक एवं मुख्य है। इसलिए भी ब्रह्मको निर्विशेष ही मानना चाहिए।

इन चारों हेतुओंकी ऊहापोह-पूर्वक विस्तारसे व्याख्या करते हुए निर्विशेष-ब्रह्मवादी शाङ्कर-वेदान्तियोंका नामोल्लेख किए विना ही विद्वन्मण्डनकारने पूर्वपक्षके रूपमें उनका यह मत उपस्थापित किया है कि श्रुतिवाक्यों, स्मृति-वचनों एवं युक्तियों से यह सिद्ध हो जाता है कि श्रुतियों आदिका मुख्य प्रतिपाद्य या तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्म ही है।

* २.१.४ * इस पूर्वपक्षका निराकरण करते हुए सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिए ग्रन्थकार हेतूपन्यासपूर्वक उक्त मतका निषेध करनेके अभिप्रायसे कहते हैं कि ब्रह्मके सोपाधिक होनेपर जगत्की अनुपलब्धिका प्रसङ्ग आ उपस्थित होनेके कारण ब्रह्मको निरुपाधिक माननेका मत ही ठीक है; और ब्रह्मके निरुपाधिक एवं अद्वय होनेके कारण सविशेष ब्रह्मका उक्त निर्विशेष ब्रह्मसे अभेद मानना ही उचित है। इस प्रकार सविशेष एवं निर्विशेष ब्रह्मके अभिन्न होने, उस ब्रह्मके सर्व-विरुद्ध-धर्माश्रय होने एवं सारे परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका आधार हो सकनेकी अचिन्त्य शक्तिसे सम्पन्न होने के कारण निर्विशेष-ब्रह्मके प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों-द्वारा सविशेष-ब्रह्मके प्रतिपादक श्रुति-वाक्योंका बाध होनेकी बात कहना युक्तियुक्त नहीं है।

यहाँ पूर्वपक्षीके इस कथनके उत्तरमें कि सविशेष-ब्रह्मके निरूपक वाक्य

अन्य-परक (उपासना-परक) हैं सिद्धान्तीका यह कहना है कि सविशेष एवं निर्विशेष ब्रह्ममें अभेद है अतः सविशेष-ब्रह्मके निरूपक वाक्योंको अन्य-परक कहना युक्ति-युक्त नहीं है। इस अभेदकी सिद्धिके लिए एक अन्य हेतु पुरस्कृत करते हुए सिद्धान्ती यह प्रतिपादित करते हैं कि निरुपाधिक होनेके कारण ब्रह्म अद्वय एवं अभिन्न है (और सोपाधिक एवं निरुपाधिक के भेदकी बात कह कर ब्रह्मके अभेदका निराकरण नहीं किया जा सकता)। ब्रह्मके निरुपाधिकत्वकी सिद्धिके लिए एक अन्य हेतु उपन्यस्त करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि जगन्मिथ्यात्व-वादी अद्वैतियोंकी मान्यताओंके अनुरूप ब्रह्मको सोपाधिक मान लेनेपर जगत्की अप्रतीति या अनुपलब्धि का प्रसङ्ग आ उपस्थित होगा, जो अनुभवका अपलापरूप होनेसे अग्राह्य होगा; अतः ब्रह्मको अनुपाधिक मानना ही उचित है। सारे परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका आधार या आश्रय होनेके कारण ब्रह्म सविशेष और निर्विशेष दोनों है, अतः निर्विशेष-निरूपक श्रुति-वाक्योंसे सविशेष-निरूपक श्रुति-वाक्योंका बाध हो जानेका पूर्वपक्षीका मत तर्क-सङ्गत नहीं है। ब्रह्मके विरुद्ध-सर्व-धर्माधारत्वकी सिद्धि उसके अचिन्त्य-शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण होती है।

इस प्रकार इन हेतुओंके विवेचन-द्वारा सिद्धान्तीने पूर्वपक्षका निरास करते हुए यह प्रतिपादित किया कि सविशेष-ब्रह्मके प्रतिपादक श्रुति-वाक्योंका निर्विशेष-ब्रह्मके प्रतिपादक श्रुतिवाक्योंसे बाध नहीं होता[1], अतः ब्रह्मको निर्विशेष नहीं प्रत्युत सविशेष मानना ही युक्ति-युक्त है।

* २.२.० * इस प्रसङ्गमें सिद्धान्तीने पूर्वपक्षका खण्डन करनेके लिए अनेक विकल्पोंकी उत्प्रेक्षा करके उनका ऊहापोह-पूर्वक विस्तारसे विवेचन किया है। विकल्पोंका उपन्यास करनेके लिए सिद्धान्ती कहते हैं कि जगत्को मिथ्या कहनेवाले पूर्वपक्षीसे पूछा जाना चाहिए कि वे जगत्कर्तृत्व एवं जगदीशितृत्व आदि विशेषणोंसे विशिष्ट ब्रह्म तथा निर्विशेष-ब्रह्म में भेद स्वीकार करते हैं या अभेद? भेद स्वीकार करनेके पक्षमें भी वे भेदको तात्त्विक मानते हैं या अतात्त्विक?

* २.२.१ * पूर्वपक्षीके सामने उपर्युक्त विकल्प उपन्यस्त करनेके बाद सिद्धान्ती पहले भेदको तात्त्विक माननेके विकल्पका निराकरण करते हुए कहते हैं कि पूर्वपक्षीका सविशेष एवं निर्विशेष ब्रह्ममें तात्त्विक भेद माननेका विकल्प इसलिए स्वीकरणीय नहीं है कि यह ब्रह्मसूत्रके 'सर्वत्र-प्रसिद्धोपदेशात्' (ब्र० १.२.१–४) इस अधिकरणके —जिसमें यह बताया गया है कि सर्व-वेदान्त-प्रसिद्ध अर्थात् 'सारे वेदान्त-वाक्योंमें प्रसिद्ध' ब्रह्मका ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म। तज्जलानिति शान्त उपासीत।' (छा०

---

१. अभेदादनुपाधित्वाज्जगदप्रत्ययाप्तितः।
सर्वाधारत्वतस्तावच्छक्तित्वान्नास्य बाधनम्॥ (विद्व०, पृ० २५)।

३.१४.१) इस वाक्यमें उपास्यके रूपमें उपदेश दिया गया है— विरुद्ध है क्योंकि यहाँ उपास्य उसीको कहा जा रहा है जो सभी (अर्थात् निर्विशेष-प्रतिपादक माने जाने वाले एवं सविशेष-निरूपक कहे जाने वाले दोनों प्रकारके ही) वेदान्त-वाक्योंका प्रतिपाद्य है। धर्म-विशिष्टका निर्धर्मकसे तात्त्विक भेद स्वीकार करने पर, अज्ञत्वादि-विशिष्ट होनेके कारण जीवका तो उस निर्धर्मक ब्रह्मसे नितरां तात्त्विक भेद स्वीकार करना होगा और तब जीव एवं निर्विशेष-ब्रह्म के अभेदका बोध करानेवाले 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इत्यादि श्रुतिवाक्योंका विरोध होगा। इतना ही नहीं, सविशेष एवं निर्विशेष में तात्त्विक भेद माननेपर एकसे अधिक ब्रह्मकी अर्थात् ब्रह्मानेकत्वकी स्वीकृतिका अनिष्ट-प्रसङ्ग आ उपस्थित होगा जो ब्रह्मकी अभिन्नताके प्रतिपादक 'एकमेव' (छा० ६.२.१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंके विरुद्ध तो है ही मायावादी पूर्वपक्षीको अनभिमत भी है।

* २.२.२ * सविशेष एवं निर्विशेष ब्रह्मके भेदको अतात्त्विक माननेके विकल्पका निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि वह भेद अतात्त्विक तभी हो सकता है यदि वह उपाधिकृत हो। जिस प्रकार घट, मठ आदि उपाधियोंके कारण होनेवाले घटाकाश एवं मठाकाश आदिके भेदको अतात्त्विक माना जाता है उस प्रकारकी उपाधि प्रकृत प्रसङ्गमें क्या है ? और वह उपाधि अनादि है या सादि यह भी विचारणीय है।

इस विषयमें पूर्वपक्षी अद्वैतवेदान्तीका यह मत कि 'अविद्या ही वह उपाधि है और यह उपाधिरूप अविद्या अनादि है' असङ्गत होनेके कारण सिद्धान्तीको स्वीकार नहीं हो सकता। अविद्या एवं ब्रह्म दोनोंको अनादि माननेके कारण अद्वैत-वेदान्तीको अविद्योपहित ब्रह्मको भी अनादि ही मानना पड़ेगा। अविद्योपहित ब्रह्मका ही कर्तृत्व माननेके कारण उनके मतमें सृष्टिके निरन्तर होते रहने और प्रलयके कभी भी न होने का अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा।

गुणापेक्षी या गुणोपहित ब्रह्मका कर्तृत्व स्वीकार करनेका पक्ष भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि इसे माननेकी अपेक्षा गुणोंका ही कर्तृत्व मान लेनेमें कल्पना-लाघव है। गुणाधीन ब्रह्मके कर्तृत्वकी कल्पनामें कल्पनागौरव है। अतः क्रमशः आविर्भूत होनेके स्वभावसे विशिष्ट गुणोंको ही सृष्टि, स्थिति आदिका कारण मान लेने पर (गुणोंके अधीन ब्रह्मके कर्तृत्व आदिकी कल्पनाको गौरव-दोष-दुष्ट होनेके कारण स्वीकार न करने पर) अनीश्वरवादकी स्वीकृतिका अनिष्ट-प्रसङ्ग आ उपस्थित होगा।

अविद्या या गुण किसी भी अनादि उपाधिसे विशिष्ट ब्रह्मकी कारणता स्वीकार करने पर 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६.२.१) इस श्रुतिवाक्यका विरोध भी होगा क्योंकि इस वाक्यमें प्रयुक्त अन्य-योग-व्यवच्छेदक 'एव'-कारसे यह सूचित होता है कि उस समय सत् (ब्रह्म) से भिन्न कुछ भी नहीं था। उपहित ब्रह्मको उपाधिके अधीन होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता और स्वातन्त्र्यके अभावमें उसे

कर्ता मानना अनुपपन्न है। यदि स्वातन्त्र्यके अभावमें भी कर्तृत्व स्वीकार करनेकी बात मान ली जाये तो भी कर्तृत्व उपाधिमें ही माना जा सकेगा उपहितमें नहीं। उपहित ब्रह्मका या उपाधिका कर्तृत्व माननेपर अनुपहित ब्रह्मके ही कर्तृत्वका प्रतिपादन करनेवाले श्रुति, स्मृति एवं ब्रह्मसूत्र के वाक्योंका विरोध होगा। इस प्रकार इस प्रसङ्गमें उपहित ब्रह्मके कर्तृत्वके मायावादीके मतका युक्तिपुरस्सर निराकरण करते हुए निर्गुण-ब्रह्मके ही जगत्कर्ता होनेके सिद्धान्तीके मतका प्रमाणोपन्यास-पूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

* २.२.३ • तदनन्तर सिद्धान्ती सविशेष एवं निर्विशेष ब्रह्ममें अभेद होनेके मतका प्रतिपादन करते हैं। पूर्वपक्षीका आक्षेप है कि किसी एक ही पदार्थको सगुण एवं निर्गुण दोनों कहना परस्पर-विरुद्ध है, अतः एक ही ब्रह्मको सविशेष एवं निर्विशेष दोनों नहीं माना जा सकता। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि यहाँ निषेधका विषय भिन्न है। सविशेष ब्रह्मके प्रतिपादक श्रुति-वाक्य जिन धर्मोंके ब्रह्ममें होनेका प्रतिपादन करते हैं उन श्रुति-सिद्ध जगत्कर्तृत्वादि धर्मोंका निषेध, निर्विशेष ब्रह्मके प्रतिपादक श्रुति-वाक्योंका अभिप्रेत नहीं है। वे श्रुति-वाक्य तो ब्रह्ममें जड एवं जीव के (लौकिक) धर्मोंके होनेका ही निषेध करते हैं। यदि धर्मोंके ब्रह्ममें होनेका निषेध करने वाले वाक्योंका तात्पर्य यह माना जाये कि वे ब्रह्ममें श्रुतिसिद्ध जगत्कर्तृत्व आदि धर्मोंके होनेका निषेध करते हैं तो 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' न्यायसे यह स्वीकार करना होगा कि श्रुतिका उन निषेध्य गुणोंके ब्रह्ममें होनेका निरूपण करना निरर्थक है। सिद्धान्ती पूर्वपक्षीके मतमें एक अन्य दोष दिखाते हुए कहते हैं कि पूर्वपक्षीका निर्गुण ब्रह्मको जगत्का कर्त्ता न माननेका मत स्वीकार करने पर ब्रह्म-निरूपक 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २.१) इत्यादि वाक्योंके साथ उनके अङ्ग-भूत सृष्टि-निरूपक 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' (तै० २.१) इत्यादि वाक्योंकी सङ्गति नहीं लगेगी क्योंकि इन्हें ब्रह्म-निरूपक नहीं कहा जा सकेगा।

सिद्धान्ती द्वारा निर्दिष्ट असङ्गतिकी व्याख्या पूर्वपक्षी अध्यारोपापवादकी सहायतासे करना चाहते हैं। उनके कथनका तात्पर्य यह है कि शुद्ध ब्रह्मके दुर्ज्ञेय होनेके कारण श्रुति पहले उसे बतानेके लिए जगत्की सृष्टिका उल्लेख करके, ब्रह्मके कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का प्रतिपादन करती है और इस प्रकार सोपाधिक-ब्रह्मका ज्ञान हो जाने पर शाखाचन्द्रन्याय-न्यायसे पूर्वोक्त कर्तृत्वादिका अपोहन कर कर्तृत्वादि-रहित शुद्ध ब्रह्मका बोध कराती है।

सिद्धान्तीका कहना है कि पूर्वपक्षीका पूर्वोक्त कथन युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि इसे स्वीकार करने पर जगत्की अप्रतीतिका प्रसङ्ग आपतित होता है अर्थात् जगत्की प्रतीतिके अनुभवका अपलाप होता है। जगत्की प्रतीति श्रुति-सिद्ध (अर्थात् श्रुत्येक-

समधिगम्य) नहीं है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि श्रुति पहले जगत्का बोध कराती है और तदनन्तर उसका निषेध कर देती है। वस्तुतः जगत्की प्रतीति लोक-सिद्ध अर्थात् लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है। अतः यह कहना ही उचित है कि लोक-सिद्ध जगत्के कर्त्ताको जिज्ञासा होने पर श्रुति उस कर्त्ताके रूपमें ब्रह्मका उपदेश देती है और इस प्रकार उसका बोध कराती है। इस प्रकार इस सन्दर्भमें अद्वैत-वेदान्ती दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित अध्यारोपापवादके मतका निरास किया गया है।

* २.२.४ * तदनन्तर अविद्याको जगत्प्रतीतिका हेतु एवं भेदको अतात्त्विक मानते हुए अविद्याका आश्रय लेकर सविशेष एवं निर्विशेष ब्रह्ममें अभेदकी पूर्वपक्षीकी स्थापनाका खण्डन किया गया है।

* २.३.० * इस क्रममें पहले जीव—जिसकी शक्ति जगद्-भ्रमोत्पादिका अविद्या है – के स्वरूपका विचार किया गया है। इस सन्दर्भमें सर्वप्रथम विस्तारसे ऊहापोह-पूर्वक जीवको ब्रह्मका प्रतिबिम्ब माननेके पक्षका निरास किया गया है। इस विवेचनकी समीक्षा हम जीव स्वरूप-विचारके प्रकरणमें करेंगे। तदनन्तर जीवको आभास माननेके मतका निराकरण किया गया है। इस सन्दर्भमें अविद्या एवं ब्रह्म के सम्बन्धका विचार करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि उनमें संयोग, अध्यास या स्वरूप-लक्षण सम्बन्ध नहीं हो सकता और उनमें जो भी सम्बन्ध माना जायेगा उसे अनादि ही माना जायेगा। इस प्रकार ब्रह्म, अविद्या एवं जीव तीनोंको अनादि माननेपर अविद्या-सम्बन्ध एवं जीव-विभाग के एक-कालीन होनेके कारण उनमें कारण और कार्य का सम्बन्ध उपपन्न नहीं होगा। इसी सन्दर्भमें बन्धनसे पहले जीवका स्वरूप क्या था इसपर भी विचार किया गया है।

तदनन्तर यह प्रश्न उठाया गया है कि जीव एवं परमात्मा में अनादि-सिद्ध भेद मानते हुए भी पूर्व-पक्षी अद्वैतवेदान्ती उस भेदको पारमार्थिक क्यों नहीं स्वीकार करते हैं। इसके उत्तरमें पूर्वपक्षीका कहना है कि श्रुति जीव और ब्रह्म में अभेदका प्रतिपादन करती है किन्तु जीव और ब्रह्म में पारमार्थिक भेद मानने पर वह श्रुत्युक्त अभेद सम्भव न हो सकेगा अतः पूर्वोक्त भेदको अवास्तविक मानना चाहिए। इस प्रकारका अतात्त्विक भेद लोकमें बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब में तथा आभास और उसके आश्रय में देखा जाता है। अतः पूर्वपक्षी जीव एवं ब्रह्म में भी इसी प्रकारके अवास्तविक भेदके आधार पर उनकी अभिन्नताका प्रतिपादन करते हैं और इसलिए वे महावाक्यकी व्याख्या भाग-त्याग-लक्षणासे करते हैं। इस प्रसङ्गमें सिद्धान्तीका यह कहना है कि पूर्वपक्षीका उपर्युक्त कथन किसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता था यदि महावाक्य केवल 'तत्त्वमसि' (छा॰ ६.८.७) इतना ही होता, किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। अवधेय है कि अद्वैत-वेदान्तमें 'तत्त्वमसि' यह चतुरक्षर महावाक्य माना गया है।

विद्वन्मण्डनकारका कहना है कि यह सम्पूर्ण प्रपाठक ही महावाक्य है। महावाक्यके अर्थका विचार करते समय हम यह स्पष्ट करेंगे कि किस प्रकार शुद्धाद्वैत दार्शनिक 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इस अष्टादशाक्षर महावाक्यकी युक्ति-युक्तताका प्रतिपादन करते हैं।

* २.३ १ * इस प्रकार सिद्धान्तीके अनुसार जगत्को अविद्या-कल्पित कहना असङ्गत है, वस्तुतः यह सत्य है। इसे सत्य कहनेका अर्थ यह है कि इसमें जो उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति होती है वह भ्रम है। वस्तुतः सभी पदार्थ सर्वदा वर्तमान हैं केवल उनका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस प्रसङ्गमें पूर्वपक्षीके द्वारा आविर्भाव-तिरोभाववादके खण्डनके लिए अनेक तर्क पुरस्कृत किये गये हैं। पहले न्याय-दर्शनकी दृष्टिसे आविर्भाव एवं तिरोभाव को नित्य माननेके विकल्पमें दोष दिखाये गये हैं। तदनन्तर 'वस्तुकी दर्शन-योग्यता आविर्भाव है और दर्शनकी अयोग्यता तिरोभाव' इन लक्षणोंका खण्डन किया गया है। इसके बाद पूर्वपक्षी उन्हें भगवच्छक्ति माननेके सिद्धान्तका निराकरण करते हुए, आविर्भाव एवं तिरोभाव प्रतिव्यक्ति भिन्न हैं या अभिन्न इन दोनों विकल्पोंकी असम्भावनाका प्रतिपादन करते हैं। तदनन्तर वे उन्हें अनित्य माननेके पक्षमें दोष दिखाते हैं।

सिद्धान्ती प्रतिपक्षियोंकी युक्तियोंका निराकरण करनेके लिए 'अनुभव-विषयत्व-योग्यता आविर्भावः' और 'तदविषयत्व-योग्यता तिरोभावः' यह लक्षण करते हुए इनकी व्याख्या करते हैं। तदनन्तर वे पूर्वपक्षियों द्वारा निर्दिष्ट विभिन्न अनुपपत्तियोंका परिहार करते हुए आविर्भाव एवं तिरोभाव का निष्कृष्ट लक्षण देते हैं। इसी सन्दर्भमें विरुद्धांश-परित्याग-पूर्वक सारे श्रुति-वाक्योंके प्रमाण होनेका निरूपण किया गया है।

* २.३.२ * तदनन्तर सिद्धान्तीको अभिमत महावाक्यके अर्थका निरूपण करते हुए उसके पूर्वपक्षीको अभिप्रेत अर्थका निरास किया गया है।

इसके बाद जगत्की आविद्यकताका निराकरण करते हुए ब्रह्मका कर्तृत्व न स्वीकार करनेके मतका निषेध किया गया है।

* २.३.३ * पूर्वपक्षी मायावादीको अभिमत रूपमें जीव एवं ब्रह्म के अभेदको सिद्ध करनेके लिए पुरस्कृत प्रमाणोंको प्रमाणाभास सिद्ध करनेके बाद, उन्हें अभिमत रूपमें अविद्याको सिद्ध करनेके लिए उपन्यस्त प्रमाणोंको भी प्रमाणाभासता प्रतिपादित करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि जगन्मिथ्यात्ववादीके अनुसार ब्रह्ममें अविद्याके द्वारा आरोपित जगत्की प्रतीति होती है किन्तु उनका इस प्रकार जगत्को जीवाविद्यासे कल्पित मानना केवल प्रमाण-विरुद्ध ही नहीं युक्ति-विरुद्ध भी है। अधिष्ठानके ज्ञानके अभावमें आरोप सम्भव नहीं है और प्रकृत प्रसङ्गमें अधिष्ठान-रूप ब्रह्मके प्रत्यक्ष-गम्य होनेका निषेध स्वयं श्रुति करती है। अधिष्ठानके ज्ञानके अभावमें जगत्का आरोप किस

पर होगा ? पुनश्च । स्वयं असत्य अविद्या जगत्प्रतीतिका समर्थ कारण नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य असत्य हो सकता है उसका कारण असत्य नहीं हो सकता, जैसे लोक-व्यवहारमें ऐन्द्रजालिकों द्वारा दिखाया गया खेल असत्य होता है किन्तु जिस विद्याके द्वारा यह खेल दिखाया जाता है वह असत्य नहीं होती । इस सन्दर्भमें सिद्धान्ती स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म ज्ञानसे जिस अज्ञानका निवर्तन होता है वह संसार-रूप ही है जगद्-रूप नहीं । संसार और प्रपञ्च में भेद करना शुद्धाद्वैत-दार्शनिकोंका एक वैशिष्ट्य है । वे प्रपञ्चको भगवत्कार्य मानते हैं । इसी सन्दर्भमें विद्वन्मण्डनकार यहाँ यह स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म-ज्ञानका कार्य संसार-नाश ही है, प्रपञ्च-नाश नहीं । वस्तुतः अद्वैत-वेदान्तीका यह कहना भी ठीक नहीं है कि ब्रह्म-ज्ञान अज्ञान-मात्रका निवर्तक है क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान पुण्य एवं पाप —जो अज्ञानके कार्य नहीं हैं —का भी निवर्तक है ।

इस प्रकार सिद्धान्तीने यह प्रतिपादित किया कि अद्वैत-वेदान्तीके द्वारा स्वीकृत अविद्यासे जगत्प्रतीति एवं जीव-विभाग की युक्ति-सङ्गत व्याख्या नहीं की जा सकती अतः ब्रह्मके जगत्कर्तृत्वका निषेध कर सकना उसके लिए सम्भव नहीं है ।

* २.३.४ * पूर्वपक्षी, सिद्धान्तीके मतमें जीव एवं ब्रह्म के अभेदको अनुपपन्न बताते हुए उपहित ब्रह्मके कर्तृत्वका उपपादन करते हैं । उनका कहना है कि शुद्धब्रह्मको जगत्का कारण मान भी लें तो उसके साथ जीवके श्रुति-सिद्ध अभेदकी व्याख्या कैसे होगी क्योंकि दोनोंके धर्म परस्पर-भिन्न हैं और परमार्थतः भिन्न पदार्थोंमें अभेद नहीं हो सकता । इस प्रसङ्गमें पूर्वपक्षी जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्धके स्वरूपके विषयमें अनेक विकल्प उपन्यस्त करते हुए सिद्धान्तीके मतमें उन सभीके अनुपपन्न होनेका प्रतिपादन करते हैं ।

* २.३.५ * पूर्वपक्षीके पूर्वोक्त प्रकारसे प्रतिपादित किये गये उपहित ब्रह्मके कर्तृत्वका निराकरण करनेके लिए जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्धको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे सिद्धान्ती जीवके स्वरूपका निरूपण करते हुए कहते हैं कि जीवको आविद्यक माननेपर ही पूर्वपक्षी द्वारा उठाये गये प्रश्न सावकाश होते हैं, किन्तु वस्तुतः जीव आविद्यक नहीं, पारमार्थिक है ।

* २.३.६ * पूर्वपक्षीके ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्धके स्वरूपके विषयमें उठाये गये प्रश्नका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि जीव ब्रह्मका अंश है और अंशांशिभावरूप इस सम्बन्धको समझ लेने पर जीव और ब्रह्म के श्रुत्युक्त अभेदकी उपपत्ति हो जाती है । पूर्वपक्षीका कथन है कि जीव एवं ब्रह्म के अंशांशिभावको स्वीकार कर अभेदका प्रतिपादन करनेमें ब्रह्मका निरवयवत्व बाधक है । उसके अनुसार जीवको निरवयव ब्रह्मका अंश मानना अनुपपन्न है और किसी भी लौकिक दृष्टान्तसे इस मतका समर्थन नहीं किया जा सकता ।

इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि 'जीव एवं ब्रह्म के अंशांशिभावकी पुष्टि किसी लौकिक दृष्टान्तसे नहीं होती' यह कहनेवाले पूर्वपक्षीको पहले यह निर्णय करना होगा कि प्रकृत प्रसङ्गमें विवेच्य जीवका एवं ब्रह्मका स्वरूप लौकिक-प्रमाण-गम्य है या केवल श्रुतिगम्य है। सिद्धान्तीका कथन है कि जीव एवं ब्रह्म के स्वरूपको प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणोंसे ज्ञेय माननेका मत युक्तियुक्त नहीं है। वे तर्कपुरस्सर यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि लौकिक प्रमाणों द्वारा इनकी सिद्धि नहीं की जा सकती। और यदि किसी प्रकार किसी स्वोत्प्रेक्षित आत्मतत्त्वकी सिद्धि की भी जा सके तो भी उस जीव या ब्रह्म की सिद्धि नहीं की जा सकती जो उपनिषदोंका प्रतिपाद्य है। वह तो एकमात्र-श्रुतिसे ही ज्ञेय है और श्रुत्येकसमधिगम्य पदार्थके स्वरूपका निरूपण करने वाले श्रुति-वाक्योंके अर्थका निर्णय करनेमें लौकिक रीति एवं उदाहरणों का आश्रय लेना उचित नहीं है। प्रत्युत उनके अर्थका निर्णय स्वयमेव वेदोंका चतुर्धा विभाजन कर उनके अर्थकी 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' (ब्र० १.१.१) इत्यादि प्रतिज्ञा-पूर्वक मीमांसा करने वाले वेदार्थके अभिज्ञ वेदव्यासके सूत्रोंकी सहायतासे करना चाहिए। कोई भी वैदिक अर्थ सन्दिग्ध या विरुद्ध प्रतीत हो तो उसका निर्णय लौकिक दृष्टान्त या युक्तियों से नहीं प्रत्युत स्मृति, सूत्र एवं पुराण की सहायतासे करना ही वेदान्त-सम्प्रदाय-प्राप्त प्रणाली है। स्मृतियों, व्यास-सूत्रों या पुराणों में कहीं भी युक्तियों द्वारा यह प्रमाणित करनेका प्रयास नहीं किया गया है कि जीव ब्रह्मका अंश नहीं है प्रत्युत श्रुतियों एवं स्मृतियों के अर्थका निर्णय करते हुए व्यासदेवने यही निर्णय किया है कि जीव ब्रह्मका अंश ही है। 'अंशो नाना-व्यपदेशात्' (ब्र० २.३.४३) इस सूत्रमें उनका यह निर्णय स्पष्ट रूपसे परिलक्षित होता है।

इस प्रसङ्गमें सिद्धान्तीने जीवको ब्रह्मकी उपाधि और उसके अंशत्वको औपचारिक मान कर श्रुतिकी व्याख्या करनेके मतका युक्ति-पुरस्सर निरास किया है। इस विषयमें उनका यह भी कहना है कि ब्रह्मके निरंश या सांश होनेकी बात लोक-सिद्ध या लौकिक-युक्ति-गम्य तो है नहीं कि उसके अनुरोधसे ब्रह्मके स्वरूपके निरंश या सांश होने का निर्णय किया जा सके। प्रत्युत ब्रह्मका स्वरूप निरंश है या सांश यह केवल वेदसे ही जाना जा सकता है। ऐसी स्थितिमें श्रुति ब्रह्मका सांश या निरंश जिस रूपमें भी वर्णन करती है ब्रह्म वैसा ही है, यह मानना चाहिए। अन्यथा श्रुतिका लौकिक-युक्त्यनुसारी अर्थ करने पर 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (क० १.२.९) इत्यादि श्रुति-वाक्योंको व्यर्थ एवं विरुद्धार्थ-प्रतिपादक माननेका अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा। लोकमें भी जहां वस्तुका स्वभाव ही किसी कार्यका कारण होता है वहां युक्तिसे उसे सिद्ध कर सकना सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृत प्रसङ्गमें भी श्रुति-वाक्योंके

बलसे यह मान लेना चाहिए कि वस्तु अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप ही ऐसा है कि वह निरवयव और सांश दोनों है क्योंकि श्रुति ही उसे 'निष्कल' (श्वे० ६.१९) बता कर उसके सांश होनेका निराकरण भी करती है और वही (बृ० २१.२०) जीवके ब्रह्मसे व्युच्चरणका उल्लेख कर जीवके ब्रह्मका अंश होनेका प्रतिपादन भी करती है। इसीलिए ब्रह्मसूत्रकारने (ब्र० २.३.४४–४५ में) कहा है कि 'सारे भूत इस परमात्माके पाद हैं' (शु० य० सं० ३१.३) इत्यादि श्रुतिवाक्य एवं 'मेरा जीव-भूत सनातन अंश ही जीव-लोकमें ' (गीता १५.७) इत्यादि स्मृतिवाक्य जीवके ब्रह्मका अंश होनेका ही प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार जीवके ब्रह्मांश होनेके आधारपर अभेद-बोधक श्रुतियोंकी उपपत्ति हो जाती है क्योंकि जिस प्रकार विस्फुलिङ्ग अग्नि ही है उसी प्रकार जीव भी ब्रह्मका अंश होनेसे ब्रह्म ही है।

तदनन्तर सिद्धान्ती वास्तव-भेदवादी दार्शनिकोंके इस आक्षेपका निराकरण करते हैं कि जीवको ब्रह्मका अंश मानने पर जीवकी असर्वज्ञता अनुपपन्न हो जाती है। उनका उत्तर है कि जिस प्रकार अग्निमें अधिक प्रकाश रहता है किन्तु विस्फुलिङ्ग अल्प प्रकाश वाले होते हैं उसी प्रकार ब्रह्मके सर्वज्ञ होनेके बावजूद जीवके अल्पज्ञ होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसके बाद वे जीवको ब्रह्मका अंश मानने पर जीवको होनेवाले भ्रमकी व्याख्या न हो सकनेके आक्षेपका परिहार करते हुए कहते हैं कि वस्तुतः भगवदिच्छासे जीवके ज्ञानका तिरोधान हो जानेके कारण उसे विपरीत ज्ञान होने लगता है।

* २.३.७ * पूर्वपक्षी शङ्का करते हैं कि ब्रह्मरूप कारणके समान होते हुए भी उसके कार्योंमें जड एवं चेतन का भेद कैसे हो जाता है? और जीवोंमें ज्ञानके तिरोहित होने पर अल्पज्ञता आ जाती है तथा जड – जिसमें ज्ञान जीवकी ही भांति तिरोहित है—में अल्पज्ञान भी नहीं रहता है, इसका क्या कारण है? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्मके स्वरूपभूत सदंशसे जडका एवं स्वरूपभूत चिदंशसे जीवोंका उद्गम होता है, अतः जडमें चिदंशका तिरोभाव रहता है जबकि चिद्रूप जीवमें धर्मरूप ज्ञानका ही तिरोधान होता है, अतः उक्त भेद उपपन्न है। अवधेय है कि इस तिरोभावकी नियामिका भगवदिच्छा ही है।

पूर्वपक्षीका कथन है कि जीवोंके सहज गुणोंको तिरोहित करके उन्हें मिथ्या-ज्ञान आदि दोषोंसे युक्त कर देनेमें भगवान्में उपस्थित-हानि (अर्थात नित्य-सिद्ध धर्मकी निवृत्ति) और अकृताभ्यागम आपादित करनेका दोष प्रसक्त होगा। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि इन्हें जीवकी कृतिमें और जीवमें होनेपर ही दोष माना जाता है, भगवान्में नहीं। सिद्धान्तीकी यह बात स्वीकार न करनेपर तो उत्पन्न किये गये एवं स्थित जगत्का संहार कर पुनः उसे उत्पन्न करनेमें भी भगवान्में उक्त

दोषकी प्रसक्ति होगी क्योंकि सृष्टि, स्थिति एवं संहार में भी कर्तृत्व तो भगवान्का ही होता है। भगवद्गीतामें अनेकशः भगवदुक्तियोंमें जीवके बन्धनके भगवदिच्छाधीन होनेका तथा जीवके ज्ञान एवं उसके अपोहन के भी भगवान्से ही होनेका प्रतिपादन किया गया है (द्र०, गीता ७.१२-१४, १०.४-५ एवं १५.१५ आदि)। श्रुतिमें एवं ब्रह्मसूत्रोंमें जीवके स्वतन्त्र कर्तृत्वका निषेध करते हुए 'कर्ता कारयिता हरिः' के सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया गया है (द्र०, कौ० ३.८, शतप० १४.५.५.३०, बृ० ३.७.२३ एवं ब्र० २.३.४१ आदि)। अतः उपस्थित-हानि एवं अकृताभ्यागम श्रुत्यनुकूल होनेके कारण पर्यनुयोगार्ह नहीं है। इस प्रकार सिद्धान्तीका कहना है कि पूर्वपक्षी द्वारा उत्प्रेक्षित पूर्वोक्त दोषोंकी उद्भावना स्वबुद्धि-परिकल्पित युक्तियोंके आधारपर उन्नीत पदार्थमें भले ही की जा सकती हो (जिससे उस पदार्थकी कल्पना इस रूपमें की जा सके कि उसमें ये दोष न आयें), किन्तु श्रुतिसिद्ध पदार्थमें इन दोषोंकी उद्भावना नहीं की जा सकती क्योंकि श्रुति आक्षेपका विषय नहीं हो सकती।

इस सन्दर्भमें सिद्धान्ती पार्थसारथि मिश्र आदि पूर्वमीमांसकोंके इस मतका विवेचन करते हैं कि 'ईश्वर जीवकृत धर्माधर्म-सापेक्ष होकर ही जीवकी तत्तत् शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति या उनसे निवृत्ति कराते हैं' यह मानकर उक्त दोषोंका परिहार किया जा सकता है। उनके इस समाधानकी परिणति अनीश्वरवादमें होती है यह स्पष्ट करते हुए वे उससे अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। इस प्रसङ्गमें ईश्वरकी कर्म-सापेक्षता एवं जीवके कर्तृत्वके ईश्वराधीन न होने के पक्षपर विस्तारसे विचार और 'कृत-प्रयत्नापेक्षस्तु ' (ब्र० २.३.४२) इत्यादि सूत्रके अर्थका विश्लेषण करते हुए इस धारणाका खण्डन किया गया है कि पूर्वोक्त मत ब्रह्मसूत्रकारको अभिमत है। तदनन्तर सिद्धान्ती उक्त सूत्रका आशय बताते हुए अपने मतका प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि इस प्रपञ्चकी रचना ईश्वरने अपनी क्रीडाके लिए की है। क्रीडा मर्यादाके विना नहीं हो सकती अतः सृष्टिके प्रारम्भमें ही ईश्वरने, 'अमुक जीवको अमुक साधनके द्वारा अमुक देश एवं काल में अमुक प्रकारसे सुख या दुःख प्राप्त हो' इस प्रकारकी मर्यादा नियत कर दी तथा इस मर्यादाके परिचयके लिए वेदको प्रकट किया जिसमें सुखके साधनोंका विधान एवं दुःखके साधनोंका निषेध किया गया है। इस प्रकार वैदिक विधि-निषेध इन साधनोंके स्वरूपके परिचायक हैं। 'कृत-प्रयत्नापेक्षस्तु ' (ब्र० २.३.४२) इत्यादि ब्रह्मसूत्रका तात्पर्य यही है कि ईश्वर, 'अमुक देश-कालमें अमुक साधनसे अमुक सुख या दुःख की प्राप्ति हो' ऐसी मर्यादाको नियत करनेके क्रीडार्थ-प्रयत्नकी अपेक्षा रखते हुए अर्थात् तदनुसार सुख या दुःख देते हैं (विना जीव-कृत कर्मोंके अपनी इच्छा-मात्रसे नहीं) जिससे श्रुतिमें किये विधि एवं निषेध व्यर्थ न हों। इस प्रसङ्गमें विद्वन्मण्डनकारने श्रीवल्लभाचार्यके दृष्टिकोणको स्पष्ट

करते हुए ईश्वरकी इच्छा एवं जीवके कर्म के सम्बन्धके विषयमें अपने सिद्धान्तका विशद विवेचन किया है।

* २.३.८ * तदनन्तर जीवोंके अंशत्वको औपचारिक माननेके माध्व एवं प्राभाकर दार्शनिकोंके मतका निरास किया गया है।

सिद्धान्तीने 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति' (बृ० १.२.२०) इत्यादि श्रुतिके बलसे ब्रह्मसे जीवोंके व्युच्चरणकी बात कही थी। पूर्वपक्षी इससे यह समझकर कि सिद्धान्ती जीवकी उत्पत्ति माननेके मतके पक्षमें हैं यह आक्षेप करते हैं कि इससे उन श्रुति, स्मृति एवं सूत्र के वाक्योंका विरोध होता है जिनमें जीवको नित्य माना गया है और उसकी उत्पत्तिकी बात स्वीकार नहीं की गयी है। इसके उत्तरमें सिद्धान्ती यह स्पष्ट करते हैं कि विस्फुलिङ्ग-न्यायसे जीवका व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं है। इस प्रसङ्गमें वे श्रीवल्लभाचार्य द्वारा अणुभाष्य २.३.१ एवं सुबोधिनी २.६.१ में उद्धृत (सिद्धान्तशोभाकारके अनुसार विष्णुस्वामीकी) एक कारिका – जिसमें उत्पत्तिके त्रैविध्यका निरूपण किया गया है – का उल्लेख करते हुए अपने सिद्धान्तको स्पष्ट करते हैं।

तदनन्तर पूर्वपक्षीके इस आक्षेप पर विचार किया गया है कि 'अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें अणु-परिमाण जीवका प्रवेश अनुपपन्न है क्योंकि प्रवेशसे तात्पर्य बाहर स्थित पदार्थका अन्तर्गमन है जो दोनों पदार्थोंके परिच्छिन्न होनेपर ही सम्भव है।' इसका उत्तर सिद्धान्तीने यह कह कर दिया है कि वस्तुतः जिस प्रकार 'सर्वतः पाणिपादान्त' कहे जानेसे ब्रह्ममें पाणि, पाद आदिके सर्वत्र होनेका बोध होता है उसी प्रकार प्रवेश एवं निर्गम के उल्लेखसे उसमें अन्तस्त्व एवं बहिष्ट्व का होना भी स्वीकार करना चाहिए। यहां सिद्धान्ती यह ध्यान दिलाते हैं कि जीवको अविद्योपाधिक माननेवाले पूर्वपक्षीके लिए प्रवेशकी व्याख्या कर सकना दुःशक है क्योंकि मुक्तावस्थामें उपाधिनाश हो जानेपर जीव ब्रह्मरूप हो जायेगा तो प्रवेश किसका होगा?

* २.३.९ * तत्पश्चात् जीवको व्यापक माननेके पूर्वपक्षीके मतका प्रतिषेध करते हुए श्रुति-वाक्योंके बलपर उसके अणुत्वका सिद्धान्त उपन्यस्त किया गया है।

तदनन्तर पूर्वपक्षी 'श्रुतिमें जहां जीवको अणु कहा गया है वहां उसका अभिप्राय केवल जीवको दुर्ज्ञेय बताना है' यह कहते हुए श्रुति एवं तर्क के आधारपर यह मत स्थापित करते हैं कि जीव अणु नहीं, व्यापक है। उनका कहना है कि 'महान्' (बृ० ४.४.२२) एवं 'सर्वगत' (गीता २.२४) विशेषणों द्वारा श्रुति एवं स्मृति में जीवकी व्यापकताका उपपादन हुआ है तथा 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इत्यादि श्रुतिवाक्य उसका व्यापक ब्रह्मसे अभेद निरूपित करते हैं, और तत्त्वतः अणु पदार्थका व्यापक पदार्थसे अभेद हो सकना सम्भव नहीं है। एक अन्य युक्ति देते हुए वे कहते हैं कि जीवको अणु माननेपर चैतन्यके सारे शरीरमें उपलब्ध होनेकी व्याख्या नहीं की

जा सकेगी। अतः जीवको अणु माननेका सिद्धान्तीका आग्रह उचित नहीं है।

सिद्धान्ती पूर्वोक्त पूर्वपक्षका प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि श्रुतिका ब्रह्मसूत्रानुसारी अर्थ करनेपर तो जीव अणु ही सिद्ध होता है अन्यथा स्वोत्प्रेक्षा-मात्र-निबन्धन तर्कोंसे उसे व्यापक सिद्ध किया जा सकता है। पूर्वपक्षीको उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि 'स वा एष महानज आत्मा' (बृ० ४.४.२२) इत्यादि श्रुतिवाक्यमें प्रयुक्त 'महान्' विशेषण जीवका निरूपक नहीं प्रत्युत ब्रह्म-प्रकरणमें पठित होनेके कारण ब्रह्मका निरूपक है। ब्रह्मसूत्रकार भी यही कहते हैं कि व्यापकताका उल्लेख करनेवाली श्रुतियाँ ब्रह्मके निरूपणके प्रसङ्गमें पठित हैं अतः उनके आधारपर जीवके अणु होनेका निषेध उपपन्न नहीं है (द्र०, ब्र० २.३.२१)। पूर्वपक्षीने जीवको अणु माननेपर सारे शरीरमें चैतन्य उपलब्ध होनेकी अनुपपत्तिकी जो युक्ति दी थी उसका ब्रह्मसूत्रोंमें दिये गये दृष्टान्तोंके आधार पर विशद विश्लेषण करते हुए सिद्धान्ती जीव-चैतन्यके स्वाश्रयाधिक-देशवृत्तित्वकी सिद्धि करके निराकरण करते हैं। उनका कहना है कि श्रुति हृदय-देशमें आत्माकी संस्थिति बताती है (द्र०, प्र० ३.६, छा० ८.३.३, बृ० ४.३.७ एवं १.३.१ आदि) और आत्माके अपने चैतन्य गुणसे सकल-शरीर-व्यापी होनेकी बात भी कहती है (कौ० ४.१९)। इस सबसे हमारे सिद्धान्तकी ही पुष्टि होती है।

तदनन्तर सिद्धान्ती साङ्ख्य दार्शनिकोंके इस आक्षेपका निराकरण करते हैं कि जीव चैतन्यमात्रस्वरूप है अर्थात् चैतन्य ही जीव है और चैतन्य सारे शरीरमें व्याप्त है अतः जीवको भी व्यापक ही मानना चाहिए, अणु नहीं। उनका कहना है कि 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौ० ३.६) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें प्रज्ञा (अर्थात् चैतन्य) का करणके रूपमें निरूपण किया गया है जो चैतन्य एवं जीव में भेद मानने पर ही व्याख्यात हो सकता है। इसी प्रकार 'विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २.१.१७) इत्यादि श्रुतिवाक्यमें विज्ञान (अर्थात् चैतन्य) का कर्मके रूपमें निरूपण मिलनेसे भी चैतन्यके जीवका गुण होनेका बोध होता है। इस बातकी पुष्टि ब्रह्मसूत्रकारके 'चैतन्य एवं जीव का पृथक्-पृथक् उपदेश किया गया है, इसलिए' (ब्र० २.३.२८) इत्यादि वाक्योंसे भी होती है। जीवके श्रुत्युक्त उत्क्रमण[1], परलोक-गमन[2], वहाँसे पुनरागमन[3], विहरण[4] एवं यथाकाम परिवर्तन[5] की उपपत्ति भी उसे अणु माननेपर ही हो सकती है, व्यापक माननेपर नहीं।

श्रुतार्थापत्तिसे जीवाणुत्ववादका निरास करनेमें प्रवृत्त मायावादी पूर्वपक्षीका कहना है कि 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इत्यादि अभेद-बोधक श्रुतिवाक्योंमें जीवका ब्रह्मके रूपमें मिलनेवाला निरूपण जीवको ब्रह्मकी ही तरह व्यापक माननेपर ही उपपन्न हो सकता है अणु माननेपर नहीं। सिद्धान्तीका उत्तर है कि उक्त श्रुतिवाक्यमें उल्लिखित

१.–५. द्र०, क्रमशः कौ० ३.४, कौ० १.२, बृ० ४.४.६, बृ० ४.३.९ तथा बृ० २.१.१८.

जीवका ब्रह्मत्व औपचारिक अर्थात् गौण है। जीवका कोई अपना स्वाभाविक गुण तो है नहीं। प्रज्ञा, द्रष्टृत्व आदि भी जैसा कि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३.७.२३) इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट है भगवद्गुण ही हैं और उन गुणोंसे ही उत्तम होने एवं ब्रह्मका अविकृत अंश होने के कारण, उपचारवश जीवका ब्रह्मके रूपमें उल्लेख होता है। ब्रह्मसूत्रकारके 'तद्गुण-सारत्वात्तु तद्व्यपदेशः' (ब्र० २.३.२९) इत्यादि वाक्योंमें भी इसी निष्कर्षकी पुष्टि की गयी है।

ब्रह्मसूत्रके 'उत्क्रान्ति-गत्यागतीनाम्' (ब्र० २.३.१९) से लेकर 'पृथगुपदेशात्' (ब्र० २.३.२८) तक १० सूत्रोंमें जीवके अणु-परिमाण होनेकी सिद्धि की गयी है, किन्तु श्रीशङ्कराचार्य इन्हें पूर्वपक्षके निरूपक सूत्र मानकर, 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' (ब्र० २.३.२९) इस सूत्रको सिद्धान्त-प्रतिपादक सूत्र मानते हुए इसका अर्थ यह करते हैं कि जीवको अणु इसलिए कहा गया है कि उसमें अणुत्वरूप औपाधिक गुण है किन्तु वस्तुतः वह व्यापक ही है। सिद्धान्ती इस अर्थका खण्डन यह कहकर करते हैं कि यदि जीवत्व औपाधिक होता तो यह अर्थ कथञ्चित् किया जा सकता था किन्तु जीवको औपाधिक मानना श्रुति, स्मृति, सूत्र एवं युक्तियों के विरुद्ध होनेके कारण अनुपपन्न है यह सिद्धान्ती पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। इसी सन्दर्भमें विद्वन्मण्डनकारने श्रीशङ्कराचार्यके इस मतमें अनुपपत्ति दिखायी है कि बुद्धिकी उत्क्रान्त्यादिसे जीवकी उत्क्रान्त्यादिकी बात कही जाती है[1]। इस प्रसङ्गमें सिद्धान्ती यह ध्यान दिलाते हैं कि 'आभास एव च' (ब्र० २.३.५०) इस सूत्रको जीवके ब्रह्मांशत्वका विरुद्ध अर्थ प्रतिपादित करने वाला नहीं समझना चाहिए। श्रीशङ्कराचार्यने इस सूत्रका जो अर्थ किया है उसका निषेध करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि जीवको आभास कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह अलीक या मिथ्या है। वस्तुतः जिस प्रकार ऐसे अनाचारी ब्राह्मणको जिसमें ब्राह्मणमें अपेक्षित सारे सद्गुण नहीं पाये जाते हैं ब्राह्मणाभास कहा जाता है उसी प्रकार जीवमें ब्रह्मके आनन्दांशका तिरोधान होनेसे उसमें ब्रह्मके सारे गुण नहीं मिलते किन्तु फिर भी वह ब्रह्मका अंश और इसीलिए ब्रह्म-रूप है इस अर्थको सूचित करनेके लिए ही उसे आभास कहा गया है।

• २.४.० * अब सिद्धान्ती ब्रह्मकी सर्वाधारता सिद्ध करनेके लिए[2] उसमें पूर्वपक्षी द्वारा निर्दिष्ट दोषोंका निराकरण करनेकी दृष्टिसे ब्रह्मको जगत्का समवायिकारण माननेमें किये जाने वाले आक्षेपका परिहार करनेमें प्रवृत्त होते हैं।

---

१. बुद्धि-परिमाणेनास्य परिमाण-व्यपदेशस्तदुत्क्रान्त्यादिभिश्चास्योत्क्रान्त्यादि-व्यपदेशः, न स्वतः। (ब्र० शा० २.३.२९)।

२. द्र०, 'सर्वाधारत्वतस्तावच्छक्तित्वान्नास्य बाधनम्।' (विद्व०, पृ० २५)

पूर्वपक्षीका कहना है कि शुद्ध या निर्गुण ब्रह्मको कर्ता मान भी लिया जाये तो भी उसे केवल निमित्त-कारण मानना ही उचित होगा न कि समवायि-कारण भी, अन्यथा उसके विकृतत्व एवं सावयवत्व का अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा। जगद्रूप कार्यके अनर्थ-रूप (अर्थात् दोषपूर्ण) होनेके कारण उसके समवायि-कारणमें भी अनर्थरूपता आपतित होगी, किन्तु ब्रह्मकी अनर्थरूपता स्वीकार करना सिद्धान्तीको भी अभिप्रेत नहीं है, अत. ब्रह्मको केवल निमित्त कारण ही मानना चाहिए समवायि-कारण नहीं।

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि यदि ब्रह्मका कर्तृत्व स्वबुद्धि-परिकल्पित होता तो कथञ्चित् उसके समवायि-कारण न होनेकी बात मान ली जा सकती थी, किन्तु वह तो श्रुतिसिद्ध है, और यथास्थित ब्रह्मका निरूपण करनेवाली श्रुति पर्यनुयोगार्ह नहीं हो सकती। लोकमें समवायिकारणमें विकृतत्वादि धर्म देखे जाते हैं और लौकिक अनुभवका भी अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः श्रुति एवं लौकिक अनुभव दोनोंके प्रामाण्यकी रक्षाके लिए यह मानना ही ठीक होगा कि ब्रह्म अविकृत रहते हुए समवायि-कारण है जब कि लौकिक पदार्थोंमें समवायिकारण बननेपर विकृति सम्भव है। इसीलिए सूत्रकारने भी (ब्र० २.१.२७में) यही कहा है कि ब्रह्मका समवायित्व युक्ति-गम्य नहीं किन्तु श्रुत्येक-समधिगम्य है।

* २.४.१ * ब्रह्मके 'सर्वाधारत्व' का समर्थन करनेके पश्चात् ग्रन्थकार उसके 'तावच्छक्तित्व' की पुष्टि करनेके लिए कहते हैं कि ब्रह्म अविकृत एवं समवायि-कारण दोनों है यह कहना भी निदर्शन-मात्र है। वस्तुतः वह सभी परस्पर-विरोधी धर्मोंका आश्रय है। अनेक श्रुतिवाक्य ब्रह्ममें परस्पर-विरुद्ध विभिन्न धर्मोंके होनेका प्रतिपादन करते हैं। वे सभी श्रुतिके वाक्य होनेसे समान-बल हैं और उनमेंसे किसी एकके द्वारा किसी अन्यका बाध होना स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यही मानना चाहिए कि ब्रह्म वैसा ही है जैसा वे सब वाक्य उसे निरूपित करते हैं और इससे ब्रह्मका विरुद्धधर्माश्रय होना ही श्रुतिसम्मत सिद्धान्त सिद्ध होता है।

इस प्रसङ्गमें ग्रन्थकार ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रयत्वको युक्तिसङ्गत न माननेके कारण अस्वीकार करके, इसके विना ही परस्पर-विरुद्ध श्रुतिवाक्योंकी व्याख्या करनेका दावा करनेवाले, निर्विशेष-ब्रह्मवादी पूर्वपक्षीके द्वारा किये जानेवाले आक्षेपपर विचार करते हैं।

उक्त निर्विशेष-ब्रह्मवादी पूर्वपक्षीका कहना है कि ब्रह्ममें परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका निरूपण करनेवाले वाक्योंका अर्थ करनेमें होनेवाले सन्देहका निर्णय या समाधान करनेका यह प्रकार ठीक नहीं है कि उसे परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका आश्रय मान लिया जाये। परस्पर-विरोधी अर्थके प्रतिपादक श्रुतिवाक्योंके समन्वयका यह प्रकार युक्ति-विरुद्ध होनेसे अस्वीकार्य है। श्रुतिमें भी युक्ति-सङ्गत निरूपण मिलता

है। युक्ति-विरुद्ध बात कहनेपर श्रुति अप्रयोजक हो जायेगी। यदि श्रुतिके परस्पर-विरुद्ध वाक्योंको भी ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेना सम्भव होता तो ब्रह्मसूत्रकार अपनी चतुर्लक्षणीमें उनकी व्यवस्था करनेके लिए वेदान्त-विचार क्यों करते ? ब्रह्मको निर्विशेष और सविशेष दोनों मानना परस्पर-विरुद्ध होनेके कारण सम्भव नहीं है। इसीलिए सूत्रकारने इसका जो समाधान दिया है उसे अविकल स्वीकार कर यह मान लेना चाहिए कि निर्विशेष-प्रतिपादक श्रुतियाँ प्रधान हैं और सविशेष-प्रतिपादक श्रुतियाँ उपासनार्थ उसका उस रूपमें निरूपण करनेसे सावकाश हैं।

विद्वन्मण्डनकार पहले निर्विशेषब्रह्मवादी पूर्वपक्षीके इस आक्षेपका तात्त्विकोपाधिवादी दार्शनिकों द्वारा दिया गया समाधान उपन्यस्त करते हुए पूर्वपक्षीके द्वारा उसका खण्डन कराते हैं। निर्विशेषब्रह्मवादीका कहना है कि 'एक ही वस्तु स्वतः सविशेष एवं निर्विशेष दोनों है' यह कथन बुद्धिग्राह्य नहीं है क्योंकि सविशेष एवं निर्विशेष में विरोध है। तात्त्विकोपाधिवादी का समाधान यह है कि ब्रह्म सर्वगत है और इसीलिए उसका पृथिवी आदि वास्तविक उपाधियोंसे सम्बन्ध है। अतः उसमें विभिन्न वास्तविक उपाधियोंके सम्बन्धसे विभिन्न धर्म आ जाते हैं। उदाहरणार्थ वह अणुमें अणु और स्थूल पदार्थमें स्थूल तथा पृथिव्युपाधिक होनेपर सर्वगन्ध एवं जलाद्युपाधिक होनेपर अगन्ध हो जाता है। इस प्रकार उसमें परस्पर-विरुद्ध धर्मोंके होनेका उपपादन करनेवाले श्रुतिवाक्योंकी व्याख्या हो जाती है।

तात्त्विकोपाधिवादीके इस समाधानसे असहमत प्रतिपक्षीका कहना है कि अस्थूलत्व, अनणुत्व आदि गुण यदि वास्तविक उपाधिके गुण हों तो उस उपाधिके सम्बन्धमात्रसे वे ब्रह्मके गुण नहीं कहे जा सकते। उक्त समाधानकी सदोषताका उपपादन करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि पूर्वोक्त प्रकारसे उपाधि-सम्बन्धसे उपगम्यमान अणुत्व आदिको न तो स्वाभाविक माना जा सकता है, न आरोपित और न आगन्तुक ही। इन तीनों विकल्पोंकी सदोषता स्पष्ट करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि उपाधिको वास्तविक नहीं प्रत्युत आविद्यक मानकर ब्रह्मको निर्विशेष स्वीकार करना ही युक्ति-युक्त है।

तदनन्तर, 'सविशेष-निरूपक श्रुतिवाक्योंसे निर्विशेष-निरूपक श्रुतिवाक्योंका बाध माननेमें क्या दोष है' यह स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कहते हैं कि ब्रह्मको सविशेष माननेपर उसे परिच्छिन्न मानना पड़ेगा (क्योंकि प्रत्येक विशेष परिच्छेदक होता है और सविशेष पदार्थ किसी न किसी देश, काल या वस्तु से अवश्य परिच्छिन्न होता है)। परिच्छेदक विशेषोंके परस्पर-भिन्न होनेसे उनसे परिच्छिन्न भी परस्पर-भिन्न एवं अनेक मानने होंगे। फलतः ब्रह्मानेकत्वकी प्रसक्ति होगी और ब्रह्मको एक एवं अद्वितीय कहनेवाले 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६.२.१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंका विरोध होगा।

'समो मशकेन समो नागेन' (बृ० १.३.२२) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें एक ही ब्रह्मके विभिन्न उपाधियोंद्वारा होनेवाले विभिन्न परिमाणोंका जो उल्लेख है उसकी उपपत्ति भी ब्रह्मको स्वतः निर्विशेष मानने पर ही हो सकेगी। अन्यथा अर्थात् उसे सविशेष माननेपर उसके स्वयंके विशेषभूत परिमाणका अपनोदन अशक्य होने एवं मशक, नाग आदि विभिन्न परिमाणान्तर-प्रयोजक उपाधियोंके परिच्छिन्न होने से उनमें परस्पर आश्रयाश्रयि-भावका अभाव होनेके कारण एक ही ब्रह्मके सर्व-परिमाणवान् होनेकी सिद्धि न हो सकेगी।

* २.४.२ * ब्रह्मको सर्वसमर्थ होनेके आधारपर ही विरुद्ध-धर्माश्रय मान सकना भी सम्भव नहीं है यह प्रतिपादित करते हुए पूर्वपक्षी कहते हैं कि ब्रह्मका स्वरूप अलौकिक है और कर-चरण आदि परिमाण-प्रयोजक विशेष लौकिक हैं, अतः उनका ब्रह्ममें अभाव स्वीकार करना ही उचित है। और ब्रह्ममें सर्व-भवन-समर्थत्व एवं विरुद्ध-सर्वाधारत्व आदिरूप अलौकिक-शक्तियोंके होनेकी कल्पनाके बावजूद अलौकिक कर-चरणादिरूप विशेषोंकी कल्पना करना भी गौरवग्रस्त है। अतः ब्रह्ममें सर्व-भवन-सामर्थ्यरूप अलौकिक शक्ति स्वीकार करना ही पर्याप्त है और कल्पना गौरवग्रस्त होनेके कारण विरुद्ध-धर्माश्रयत्व मानना उचित नहीं है।

इस प्रकार कल्पना-गौरव-दोषका निर्देश कर पूर्वपक्षीने सिद्धान्ती द्वारा पहले उपन्यस्त[1] 'सर्वाधारत्वतः' एवं 'तावच्छक्तित्वात्' इन दोनों हेतुओंपर आक्षेप किया है। इन दोनों हेतुओंकी अप्रयोजकता बताते हुए पूर्वपक्षी कहते हैं कि 'प्रामाणिक कल्पना-गौरव दोषावह नहीं होता और ब्रह्ममें अलौकिक कर-चरणादि एवं सर्वाधारत्व आदि की कल्पना प्रमाण-सिद्ध है अतः उसे सदोष नहीं माना जा सकता' यह कथन भी अकिञ्चित्कर है, क्योंकि अलौकिक कर-चरणादिकी उक्त कल्पना ब्रह्मको 'अस्थूल' (बृ० ३.८.८) इत्यादि बतानेवाले श्रुतिवाक्योंके विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है। ब्रह्मको 'सर्वतः पाणिपाद' बतानेवाले (श्वे० ३.१६, गीता १३.१३ आदि) वाक्योंके प्रामाण्यसे ब्रह्ममें अलौकिक कर-चरणादिकी कल्पनाके पक्षकी दुर्बलताका प्रतिपादन करते हुए हम,

'उपजीव्यत्वतः श्रौतवाक्यैश्चान्य-परत्वतः।
अन्तरङ्गत्वतश्चापि निर्विशेषं निरूप्यते॥' (विद्व०, पृ० १९)

इस कारिकाकी व्याख्यामें कह चुके हैं कि 'निषेधाश्च बलीयांसः' के न्यायसे विशेषोंको अविद्या-कल्पित मानना ही उचित है। इस प्रकार पूर्वपक्षी यह प्रतिपादित करते हैं कि सविशेष-निरूपक श्रुति-वाक्य उपासना-परक एवं निषेध्य-कोटि-निरूपक हैं और इनका निषेध इनके प्रतिपाद्य कर्तृत्वादि-विशेषोंको अविद्या-कल्पित माननेपर ही उपपन्न हो

---

१. द्र०, 'सर्वाधारत्वतस्तावच्छक्तित्वान्नास्य बाधनम्' (विद्व०, पृ० २१)।

सकता है, अतः विशेषोंको अविद्या-कल्पित एवं ब्रह्मको निर्विशेष मानना ही उचित है।

* २.४.३ * इस पूर्वपक्षका निराकरण करनेमें प्रवृत्त सिद्धान्ती पहले ब्रह्मके कर्तृत्वादिके जीवाविद्या-कल्पित होनेका खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि शुद्ध ब्रह्म, मन एवं वाणी आदिका विषय नहीं है अतः विशेषोंके अधिष्ठानरूप इस शुद्ध ब्रह्मके ज्ञानके अभावमें उसमें विशेषोंकी आविद्यक कल्पना अनुपपन्न है। अतः पूर्वपक्षीका कर्तृत्वादि विशेषोंको ब्रह्ममें अविद्यासे कल्पित कहना युक्तियुक्त नहीं है। वस्तुतः ब्रह्मके सभी धर्म नित्य होनेके कारण अनागन्तुक एवं अजन्य हैं। जीवकी इन्द्रियाँ जीवके स्वरूपसे अतिरिक्त, तथा ज्ञान एवं क्रिया का करण होती हैं; किन्तु आनन्दमात्र-कर-पाद-मुखोदरादि ब्रह्मके कर-पादादि स्वरूपातिरिक्त नहीं हैं; और ब्रह्मके ज्ञान-क्रियादिके नित्य होनेके कारण वे ज्ञान-क्रिया-जनक करण भी नहीं हैं। इस प्रसङ्गमें 'पराऽस्य शक्ति-विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च' (श्वे० ६.८) इस श्रुतिवाक्यके अर्थका विश्लेषण करते हुए सिद्धान्तीने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार इस मन्त्रमें निरूपित ब्रह्मकी स्वाभाविकी अर्थात् स्वरूपात्मिका ज्ञानादि-शक्तियाँ षष्ठ्यन्त 'अस्य' पदके द्वारा भेदनिर्देश-पूर्वक धर्मरूपमें प्रतिपादित की गयी हैं उसी प्रकार 'सर्वतः पाणिपादं तत्' (श्वे० ३.१६) इत्यादि श्रुतिबलसे ब्रह्मके स्वरूपभूत आनन्द मात्र-कर-पादादिका स्वीकरण भी उपपन्न है, और इसकी स्वीकृतिमें कल्पना-गौरव होनेकी बात कहना युक्तियुक्त नहीं है।

* २.४.४ * तदनन्तर सिद्धान्ती ब्रह्मके सविशेषत्वको जीवाविद्या-कल्पित माननेके पूर्वपक्षीके मतका प्रकारान्तरसे खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऐसा माननेपर, 'तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादात् ...।' (क० १.२.२०, श्वे० ३.२०), 'ज्ञान-प्रसादेन विशुद्ध-सत्त्वः ततस्तु तं पश्यते निष्कलम् ...।' (मु० ३.१.८) एवं 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' (क० १.२.२३) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें उल्लिखित भगवत्प्रसाद या ज्ञानप्रसाद से होनेवाले भगवत्प्राकट्य एवं भगवद्दर्शन अनुपपन्न हो जायेंगे तथा उनके लिए होनेवाली तपस्यादिरूप उनके साधनोंमें प्रवृत्ति भी अनुपपन्न हो जायेगी। और 'पराञ्चि खानि' (क० २.१.१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मको अविद्या-ग्रस्त व्यक्तियोंकी इन्द्रियोंसे अग्राह्य किन्तु अविद्या-रहित व्यक्तियोंका इन्द्रिय-विषय कहा गया है। इसी प्रकार गीतामें भगवद्दर्शनको इतर-साधनासाध्य बताते हुए भक्त्येक-साध्य कहा गया है। ये सब वाक्य भी अनुपपन्न हो जायेंगे। पुनश्च। कल्पान्त-कालमें जीवोंके शरीरेन्द्रिय-रहित होकर भगवत्प्रविष्ट हो जाने और इस प्रकार आविद्यक विशेषोंकी कल्पना करनेकी स्थितिमें न रहने पर भी भगवान् नारायणके शयन आदि-रूप विशेषोंका निरूपण तो मिलता ही है। प्रलय-दशामें इन विशेषोंकी वास्तविकता सिद्ध हो जानेपर सृष्टि-दशामें भी उन्हें वास्तविक मान लेना ही युक्तियुक्त है। इसी

प्रकार विशेषोंको अविद्या-कल्पित माननेके पक्षमें कल्पक जीवके अभावमें प्रलयानुपपत्ति और 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (श्वे० ६.१८) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें उल्लिखित प्राथमिक ब्रह्मसृष्टिकी अनुपपत्ति का दोष भी है।

* २.४.५ * तदनन्तर सिद्धान्ती पूर्वपक्षीकी इस धारणाका खण्डन करते हैं कि सविशेष-निरूपक श्रुतियाँ ब्रह्म-स्वरूप-निरूपक नहीं प्रत्युत अन्यपरक हैं और ब्रह्म-सूत्रकार उनकी उपासनार्थ ब्रह्मपरता माननेके पक्षमें हैं। यहीं वे यह युक्ति भी देते हैं कि यदि उपास्य रूप आविद्यक हों तो नियत देशकालमें किसी निश्चित रूपको ही उपास्य बतानेवाले (भाग० ११.५.२१,५.१७.१६ इत्यादि) वाक्य भी अनुपपन्न हो जायेंगे। वे कहते हैं कि सूत्रकार ब्रह्म-जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा करके विशेषोंके निरूपक वाक्योंकी ब्रह्मपरता निरूपित करते हैं अतः उन विशेषोंको अविद्या-कल्पित कहनेसे सूत्रकारकी प्रतिज्ञा-हानि होगी।

ब्रह्म एकरस है किन्तु सविशेष-श्रुतिवाक्योंके प्रतिपाद्य उपास्य रूप परस्पर-विलक्षण हैं। अद्वितीय एकरस ब्रह्मके ऐसे अनेक रूप वास्तविक नहीं हो सकते अतः इन्हें आविद्यक मानना ही उचित है।' इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि ब्रह्म वेदैकसमधिगम्य है और श्रुतिमें ब्रह्मकी एकरसता एवं अद्वितीयता के साथ ही उपास्य रूपोंके ब्रह्मत्वका निरूपण भी मिलता है, अतः उनके ब्रह्मत्वको भी श्रुतिसिद्ध होनेसे वास्तविक ही मानना चाहिए, आविद्यक नहीं। श्रुति एवं स्मृति के वाक्योंमें ब्रह्मके स्वरूपमें कर-चरणादि एवं उनके परिच्छेद का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मके विरुद्ध-धर्माश्रय होनेसे उसमें व्यापकत्व एवं परिच्छेद का युगपदुपलम्भ उपपन्न है। इस प्रसङ्गमें सिद्धान्तीने श्रीमद्भागवतके वाक्योंको उद्धृत कर उनके प्रामाण्यसे श्रीकृष्णमें व्यापकता एवं परिच्छेद दोनोंका होना सिद्ध किया है और उसकी श्रुतिसिद्धताका निर्देश भी किया है। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रयत्वकी श्रुति-सिद्धता प्रमाणित की है।

तदनन्तर सिद्धान्ती पूर्वपक्षीके सविशेष-निरूपक श्रुतियोंको अन्यपरक अर्थात् उपासना-प्रतिपादक माननेके मतका, उनको अभिमत उपासनाकी सदोषता दिखाते हुए, प्रकारान्तरसे खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि पूर्वपक्षी यह मानते हैं कि उपासनामें उपास्य-रूपमें तत्प्रकारक-भावना-मात्र होती है, वस्तुतः वह पदार्थ तद्रूप अर्थात् ब्रह्म नहीं होता, किन्तु श्रुतिमें उपास्यको आत्मत्व-प्रतिपत्ति-पूर्वक उपासनाका ही निर्देश है और अन्यथा कल्पना कर उपासना करनेकी निन्दा की गयी है। इस प्रकार ब्रह्मकी अनन्तरूपता ही श्रुतिका अभिमत सिद्धान्त है। इसीलिए श्रुति उपासना-भेदसे फल-भेदका निरूपण करती हुई, यह सिद्धान्त प्रतिपादित करती है कि ब्रह्म 'इस उपासकको इस रूपसे उपास्य होकर यह फल दूँगा' इस प्रकारके सङ्कल्पसे तद्रूप हो जाता है।

पूर्वपक्षीका मत स्वीकार करनेपर उपासना-विषयकी अब्रह्मता आपतित होती है। उपासना-विषयको ब्रह्म न स्वीकार कर असत् मान कर की गयी उपासनासे 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' (तै० २.६.१) इत्यादि श्रुतिवाक्यके अनुसार असत्त्वरूप फल ही प्राप्त होगा, मोक्ष नहीं। इस प्रकार 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' (ब्र० १.१.६) सूत्रका विरोध तो होगा ही, उन श्रुतिवाक्योंको अब्रह्म-परक माननेसे 'सर्वत्र-प्रसिद्धोपदेशात्' (ब्र० १.२.१) सूत्रका विरोध भी होगा। इस प्रकार सिद्धान्तीने पूर्वपक्षीके पूर्वोक्त दो आक्षेपोंका, कि विशेषोंके लौकिक एवं ब्रह्मके अलौकिक होनेके कारण उसमें विशेषोंके होनेका निषेध ही उचित है और (ब्रह्ममें विरुद्ध-सर्वाधारत्वादि-रूप अलौकिक-सामर्थ्यकी कल्पनाके साथ ही) उक्त विशेषोंके अलौकिक होनेकी कल्पना करनेमें कल्पना-गौरव है, निराकरण किया है। विशेषोंको अलौकिक माननेमें कल्पना-गौरव होनेका परिहार करनेके बाद ग्रन्थकार उनको 'अस्थूलम्' (बृ० ३.८.८) आदि श्रुति-वाक्योंके विरुद्ध होनेके आधार पर कल्पित माननेका प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि परस्पर अत्यन्ताभाव एवं सामानाधिकरण्य का विरोध लौकिक पदार्थोंमें ही मान्य है, श्रुतिसिद्ध अलौकिक धर्मोंमें नहीं।

पूर्वपक्षीका कहना है कि यदि श्रुति ब्रह्ममें परस्पर-विरुद्ध अनेक धर्मोंके होनेका ही उल्लेख करती होती तो उसमें उल्लिखित विशेषोंको कल्पित न मानकर ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयताका सिद्धान्त स्वीकार करनेसे कथञ्चित् समाधान हो भी जाता। किन्तु वह तो स्वयं ही विशेषोंके होनेका उल्लेख करनेके बाद उनका निषेध भी करती है। अतः यह मानना ही उचित है कि श्रुति धर्मोंकी प्रतिपत्तिकी सिद्धिके लिए धर्मोंका निरूपण करती है और तदनन्तर धर्मनिषेध-मुखसे शुद्धब्रह्मका स्वरूप बताती है। सिद्धान्तीका कहना है कि यदि श्रुति अपने ही द्वारा ब्रह्ममें निरूपित धर्मोंका स्वयं निषेध करती होती तो कथञ्चित् पूर्वपक्षीके उक्त समाधानपर विचार किया जा सकता था। किन्तु ऐसा नहीं है; अन्यथा असत् पदार्थका निरूपण कर लोगोंको प्रतारित करनेसे श्रुतिका प्रामाण्य अक्षुण्ण न रहेगा। वस्तुतः श्रुतिद्वारा ब्रह्मके धर्मोंका निरूपण किये जानेपर जब उन धर्मोंके प्राकृत धर्म होनेकी शङ्का होने लगती है तो श्रुति उन धर्मोंके प्रापञ्चिक होने एवं प्रापञ्चिक धर्मोंके ब्रह्ममें होने का निषेध करती है। इस प्रकार विधान एवं निषेध के द्वारा श्रुति ब्रह्ममें अलौकिक धर्मोंके होनेका और प्रापञ्चिक धर्मोंके न होनेका प्रतिपादन करती है। इस प्रसङ्गमें पूर्वपक्षीका यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं होगा कि 'जैसे निषेध्य धर्म प्रापञ्चिक हैं वैसे ही जिन धर्मोंका श्रुति ब्रह्ममें विधान करती है वे भी प्रापञ्चिक ही हैं' क्योंकि आनन्द-मात्र-कर-पाद-मुखोदरादित्व, सर्वतः पाणि-पादत्व एवं सर्वेशितृत्व आदि धर्म ब्रह्मातिरिक्त अन्यत्र किसी पदार्थमें नहीं मिलते जिससे यह कहा जा सके कि ये लौकिक धर्म हैं और श्रुति इनका अनुवाद करती

हुई ब्रह्ममें इनके होनेका उल्लेख करती है। पुनश्च। यदि श्रुत्युक्त विशेषोंका निषेध ही अभिप्रेत हो तो सारे वेदान्तवाक्योंके ब्रह्म-परत्वका प्रतिपादन करनेवाला समन्वयाध्याय अनुपपन्न हो जायेगा और सविशेष-निरूपक श्रुतियोंमें परस्पर-विरोधका उपपादन भी निष्प्रयोजन हो जायेगा क्योंकि निषेधोंके परस्पर-विरोधी होने या न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

* २.४.६ * तदनन्तर सिद्धान्ती पूर्वपक्षीके 'ब्रह्मसूत्रकारको निर्विशेषका ही मुख्यतया निरूपण अभिप्रेत है' इस मतका निरास करनेके लिए कुछ विवाद-विषयीभूत सूत्रोंकी व्याख्या करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि पूर्वपक्षीकी यह भ्रान्त धारणा सूत्रोंका अन्यथा अर्थ समझनेके कारण ही बनी है। इस प्रकार सिद्धान्ती निर्णीत रूपसे यह सिद्ध करते हैं कि सविशेष-निरूपिका एवं निर्विशेष-निरूपिका श्रुतियोंमें कोई विरोध नहीं है और इनसे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म सहजानन्त-धर्मयुक्त एवं प्रापञ्चिक-धर्म-रहित है।

* २.४.७ * पुनः सिद्धान्ती पूर्वपक्षीके इस आक्षेपका परिहार करते हैं कि 'अदृश्यमग्राह्यम्' (मु० १.१.६) इत्यादि श्रुतिवाक्य ब्रह्मके दृश्य एवं प्रकाश्य होनेका निषेध करते हैं अतः उसे सविशेष मानना श्रुतिसम्मत एवं युक्तियुक्त नहीं है। वे श्रुति एवं स्मृति के अनेक वाक्य उद्धृत करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मका दृश्यत्व भी श्रुति-स्मृति-सिद्ध है। इन दोनों स्थितियोंके परस्पर-विरोधी होनेके कारण यह मानना ही उचित होगा कि उसके अदृश्यत्वादिका निरूपण करनेवाली श्रुति उसके इन्द्रियादिके सामर्थ्यसे अदृश्य होनेका निरूपण करती है और दृश्यत्वका निरूपण करने वाली श्रुति उसके स्वेच्छया, अनुग्रह करके, दृश्य हो जानेका निरूपण करती है। इसका सिद्धान्तीने गीता, श्रीमद्भागवत एवं ब्रह्मसूत्र आदिके विभिन्न वाक्योंसे समर्थन किया है। इस प्रसङ्गमें उन्होंने एतद्विषयक अपने सिद्धान्तको विस्तारसे समझाया है।

पूर्वपक्षीका कथन है कि श्रुति-स्मृतिमें जहाँ ब्रह्मके दर्शनका उल्लेख है वहाँ दर्शन शब्दसे ज्ञान ही अभिप्रेत है क्योंकि अरूपी द्रव्य होनेके कारण ब्रह्म चाक्षुष-प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता। इसके उत्तरमें सिद्धान्ती प्रमाण-वाक्य उद्धृत करते हुए कहते हैं कि 'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च' (गीता ११.५४) इत्यादि वाक्योंमें दर्शनका ज्ञान एवं प्रवेश से भिन्न रूपमें उल्लेख है अतः दर्शन ज्ञानमात्र नहीं है।

* २.४.८ * तदनन्तर सिद्धान्ती यह प्रतिपादित करते हैं कि रासादिरूप व्यवहारके प्रमाण-सिद्ध होनेके कारण वहाँ निरूपित रिरंसा-रमणादि भी शुद्ध-ब्रह्म-धर्म ही हैं। श्रुतिसिद्ध सहजानन्त-शक्तिमान् ब्रह्ममें सभी श्रौत धर्म उपपन्न हैं। वे सर्वकाम भी हैं और अकाम भी। वे आत्माराम होते हुए भी विहरणशील हैं और प्रिया-विरह-व्याकुल होते हुए भी परमानन्द-रूप एवं सर्वज्ञ हैं।

ब्रह्मका विरुद्धधर्माधारत्व श्रुतिसिद्ध है अतः लोकरीतिसे उसमें दोषोद्भावना उचित नहीं है यह प्रतिपादित करनेके लिए सिद्धान्ती पूर्वपक्षीकी एक अन्य आशङ्काका समाधान करनेमें प्रवृत्त होते हैं। पूर्वपक्षीका कहना है कि जिस प्रकार प्रतियोगी (घटादि) एवं उसके अभाव (घटाभावादि) की एकावच्छेदेन स्थिति युक्ति-सिद्ध एवं अनुभवानुमोदित नहीं है, उसी प्रकार परस्पर-विरोधी धर्मोंके एक ही आधारमें रहनेका (ब्रह्मको विरुद्धधर्माधार माननेवाले) सिद्धान्तीका कथन भी युक्ति-युक्त नहीं माना जा सकता। सिद्धान्तीका उत्तर है कि यह हमारा कथन नहीं प्रत्युत श्रुतिका कथन है, हम तो केवल उसका अनुवादमात्र कर रहे हैं। यदि पूर्वपक्षी हमारे द्वारा अनूदित श्रुतिको ही पर्यनुयोगार्ह समझते हैं तो उन्हें महासाहसिक ही मानना पड़ेगा। यदि वे यह कहें कि लोकमें विरुद्ध-धर्माश्रयताका उदाहरण नहीं मिलता और श्रुतिका अर्थ लोकानुभवानुसारी ही करना चाहिए तो लोकमें निर्धर्मक पदार्थके उपलब्ध न होनेके कारण उनको अभिमत निर्विशेष ब्रह्म श्रुति-प्रतिपाद्य कैसे सिद्ध हो सकेगा? यदि उसे श्रुतिबलसे सिद्ध मानें तो सविशेषको भी श्रुतिबलसे ही सिद्ध स्वीकार करना होगा। जो विचारक लोकानुभवमें अनुपलब्ध निर्धर्मक ब्रह्म स्वीकार कर सकता है उसे लोकानुभवमें अनुपलब्ध 'प्रतियोगी एवं प्रतियोगीके अभाव की एकावच्छेदेन स्थिति' स्वीकार करनेमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए। अतः श्रुतिके अर्थका लोकरीतिसे निर्णय करनेका दुराग्रह नहीं करना चाहिए। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (क० १.२.९) एवं 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इत्यादि श्रुति-स्मृति-वाक्य इसी सिद्धान्तका समर्थन करते हैं। पुनश्च। श्रीकृष्णके मृत्स्ना-भक्षणके निरूपणके प्रसङ्गमें उनमें परस्पर-विरुद्ध धर्म दिखे हैं और दृष्टको अनुपपन्न नहीं कहा जा सकता। वे मायासे नहीं दिखे हैं यह बात उसी प्रसङ्गमें स्पष्ट कर दी गयी है। इसीलिए सूत्रकारने भी कहा है, 'दर्शनाच्च' (ब्र० ३.१.२०)।

* २.५.० * विश्वरूप-दर्शन आदि मायिक या आविद्यक हैं इस पूर्वपक्षका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि 'भगवान्‌ने मायासे विश्वरूप-दर्शन कराया' ऐसा कहनेवाले प्रतिपक्षीका यहाँ 'माया' से क्या तात्पर्य है? यदि 'माया' से उनका अभिप्राय 'भगवत्सामर्थ्य' से है तो हमें यह स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं है कि भगवान्‌ने विश्वरूप-दर्शन 'माया' से कराया। किन्तु यह कहना कि उन्होंने जो दिखाया वह ऐन्द्रजालिक द्वारा दिखाये गये इन्द्रजालकी तरह असत् था उचित नहीं है। असत् पदार्थ वह दिखाता है जो सत् पदार्थ दिखा सकनेमें असमर्थ हो। सर्वसमर्थ ईश्वर असत् पदार्थ क्यों दिखायेंगे? और कदाचित् किसी आसुर जीवको मोहित करनेके लिए वे उसे असत् पदार्थ भी दिखायें पर यशोदा एवं अर्जुन जैसे परम-प्रिय भक्तोंको असत् पदार्थ क्यों दिखाने लगे? अतः 'माया' द्वारा दिखाये गये विश्वरूप आदिको सत्य एवं

श्रीकृष्णको शुद्ध-ब्रह्म और विरुद्ध-धर्माधार मानना ही उचित है।

यदि पूर्वपक्षीका 'माया' से तात्पर्य भगवत्सामर्थ्य-रूपा मायासे भिन्न किसी असद्रूपा एवं असत्-कार्य-कर्त्री मायासे है तो हम इसके विकल्पासह एवं विचारासह होनेके कारण यह स्वीकार नहीं कर सकते कि ब्रह्मने इस असद्रूपा मायासे विश्वरूप आदि दिखाया। इस मायाको मायावादी पूर्वपक्षी चेतन नहीं मानते अतः जड होनेके कारण यह स्वतन्त्र रूपसे कर्त्री नहीं हो सकती। 'यह ब्रह्मके अधीन होकर उसके स्वरूपका प्रदर्शन करती है' यह माननेपर इसकी करणता स्वीकार करनी होगी। 'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया' वाला सहजानन्तशक्तिमान् ईश्वर अपने स्वरूप-प्रदर्शनमें इतना अशक्त क्यों होगा कि उसे उसके लिए इस मायाको स्वीकार करना पड़े ? अतः इस अर्थमें मायाको स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए यह कहना भी ठीक न होगा कि ब्रह्म असद्रूपा मायासे सद्रूप पदार्थ दिखाता है। इसीसे ब्रह्म-द्वारा सत्त्वादिगुणाङ्गीकार-पूर्वक सृष्टि-स्थिति आदि करनेके पक्षका भी निराकरण हो गया समझना चाहिए क्योंकि सहजानन्तशक्तिमान् ब्रह्म तत्तत् कार्योंके लिए तत्तद् गुणोंका आश्रय क्यों लेगा ? इसीसे पूर्वपक्षीके मतमें उन्नीत इस विकल्पका भी निरास हो गया समझना चाहिए कि ब्रह्मगत विशेष ब्रह्मगत अविद्या-द्वारा कल्पित हैं (न कि जीवगत अविद्या-द्वारा)।

* २.५.१ * पूर्वपक्षीका कहना है कि सिद्धान्तीने ब्रह्मकी विरुद्ध-धर्माधारता सिद्ध करनेके लिए श्रीकृष्णकी कामात्मक रासलीला आदिके प्रसङ्गके वचनोंको प्रमाणके रूपमें उपन्यस्त किया है किन्तु यह तभी उचित कहा जा सकता था यदि यह लीला वस्तुतः ब्रह्मकी वास्तविक लीला होती, किन्तु ऐसा है नहीं। यह लीला वास्तविक नहीं प्रत्युत अनुकरण-मात्र-रूप है। अतः ऐसी लीलाके प्रसङ्गके वचनोंके आधारपर ब्रह्मकी विरुद्धधर्माधारता सिद्ध करना अनुपपन्न है। पूर्वपक्षीके अनुसार इस लीलाको वास्तविक माननेमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। सिद्धान्ती श्रीकृष्णको आप्तकाम, परिपूर्ण, ज्ञानैकघन, परमानन्द-स्वरूप परब्रह्म मानते हैं। ऐसा परब्रह्म, तुच्छ विषयानन्दकी लालसा रखनेवाले, अज्ञ एवं कामुक लोगोंको अभीष्ट क्रीडाके सदृश लीला क्यों करेगा ? सर्वज्ञ एवं परमानन्द-स्वरूप ब्रह्मका, अज्ञान एवं चित्तविकारों का सूचक प्रिया-विप्रयोग एवं तज्जन्य क्लेश-सन्ताप आदि भी दुरुपपाद है। अतः पूर्वपक्षीका मत है कि इन लीलाओंको अनुकरण-मात्र-रूप मान लेना ही ठीक है जिससे उक्त विसङ्गतियोंसे मुक्ति मिल सके।

इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि यदि उक्त लीलासे परब्रह्मके पूर्णत्व, सर्वज्ञत्व आदिका भङ्ग या बाध होता तो उसे वास्तविक न मानकर अनुकरण-मात्र मान लेना कथञ्चित् उचित भी होता किन्तु जैसा कि हमने प्रादेशमात्रके ही व्यापक

होनेका निरूपण करते हुए पहले ही स्पष्ट कर दिया है ब्रह्म विरुद्धसर्वधर्माधार है अतः विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण उक्त लीलाके वास्तविक होनेसे उसके पूर्णत्व आदिके नष्ट होनेकी कोई आशङ्का नहीं है। इस प्रसङ्गमें सिद्धान्तीने विस्तारसे उक्त लीलाओंके वास्तविक होने एवं श्रीकृष्णके रसस्वरूप होने का प्रतिपादन करते हुए यह बताया है कि ये लीलाएँ श्रीकृष्णके ब्रह्मत्वकी बाधक नहीं प्रत्युत उनके विरुद्धधर्माधार होनेके कारण उनके ब्रह्मत्वकी साधक ही हैं। वस्तुतः तो श्रुतियोंसे एवं भक्तोंके अनुभवसे सिद्ध होनेके कारण यही मानना चाहिए कि जैसा कि श्रीमद्भागवतके 'न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणित-गुण-गण ईश्वरेऽनवगाह्य-माहात्म्ये' (भाग० ६.९.३६) इत्यादि वाक्योंमें कहा गया है ब्रह्मगत धर्मोंमें विरोध ही नहीं है। किन्तु जो विचारक यह माननेके आग्रही हैं कि ब्रह्ममें आत्मारामत्व, पूर्णकामत्व आदि धर्म ही हैं, अन्य अर्थात् शृङ्गाररस-रूपत्व-प्रयुक्त विभिन्न धर्म नहीं, उनके इस मतके सम्बन्धमें हमें यही कहना है कि वे जो कह रहे हैं वह ब्रह्म-धर्म मर्यादा है। किन्तु भक्तपर अत्यधिक अनुग्रह करके, उसकी भक्तिके आतिशय्यसे अपनी स्वरूप-मर्यादाका भी अतिक्रमण कर, भगवान्, जैसी भक्तको अभीष्ट हो उसी प्रकारकी लीला करते हुए उक्त विभिन्न भावोंको स्वयं स्वीकार करते हैं। यही भगवान्का पुष्टिरूप है। इसमें उनके अनीशत्वका प्रश्न ही नहीं उठता, प्रत्युत यह अनन्यशक्य स्वरूप-मर्यादा-त्याग ही उन अचिन्त्य-महिमका महदैश्वर्य है।

* २.५.२ * तदनन्तर नैयायिकों द्वारा किये गये इस आक्षेपका प्रतिषेध किया गया है कि सिद्धान्ती द्वारा उल्लिखित लीलाओंको तभी सम्भव माना जा सकता है जब ब्रह्मका शरीरी होना सिद्ध हो, किन्तु ईश्वर शरीरी नहीं है अतः इन लीलाओंको वास्तविक नहीं माना जा सकता। सिद्धान्तीका कथन है कि विना शरीरके लीला न कर सकने वाला ईश्वर विना शरीरके सृष्टि-रचना भी नहीं कर सकता, फिर भी नैयायिक इस जगत्के कर्ताके रूपमें अशरीरी ईश्वरका अनुमान करते हैं। किन्तु उनका यह मत मानकर उनकी रीतिसे विचार करनेपर तो ईश्वरके अकर्तृत्वका अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा यह स्पष्ट करते हुए सिद्धान्तीने विस्तारसे नैयायिकोंके ईश्वर-विषयक मतका खण्डन किया है और केवल आनुमानिक निकर्षोंकी सदोषता, अकिञ्चित्करता एवं उपेक्षणीयता का प्रतिपादन करते हुए श्रुतिसिद्ध सिद्धान्तको ही स्वीकार करने पर बल दिया है।

* २.५.३ * पूर्वपक्षी पुनः प्रकारान्तरसे ब्रह्मकी निर्धर्मकताका प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि सिद्धान्ती ब्रह्मके धर्मोंको ब्रह्मसे भिन्न नहीं कह सकते क्योंकि वे उन्हें नित्य मानते हैं, और नित्य ब्रह्म धर्मोंको ब्रह्मसे भिन्न माननेपर, नित्य होनेके कारण उन धर्मोंके भी ब्रह्मतुल्य होनेसे, 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६.२.१) एवं 'असङ्गो

ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४.३.१८) इत्यादि श्रुतिवाक्योंका विरोध होगा। सिद्धान्ती उन धर्मोंको ब्रह्मसे अभिन्न भी नहीं कह सकते क्योंकि अभेद होनेपर धर्मों एवं ब्रह्म में धर्म-धर्मि-भाव न रह पायेगा और धर्मोंका धर्मत्व ही व्याहत हो जायेगा। अतः 'एक-विज्ञानसे सर्व-विज्ञान' की प्रतिज्ञाकी सिद्धिको सम्भव बनानेके लिए सिद्धान्तीको यह स्वीकार करना होगा कि ये धर्म भी संसारकी ही भाँति ब्रह्मके कार्य ही हैं। और यह मानने पर ब्रह्म सर्व-कल्पना-रहित ही सिद्ध होता है। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि जैसा कि 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वाद्' (ब्र० ३.२.२८) सूत्रमें बताया गया है ब्रह्मके धर्म प्रकाशाश्रयवत् ब्रह्मसे भिन्नाभिन्न हैं; अर्थात् जिस प्रकार प्रकाशाश्रय सूर्यादि (प्रकाश-धर्म-युक्त होनेसे) प्रकाशसे भिन्न हैं और तेजोरूप होनेसे अभिन्न भी हैं उसी प्रकार 'पराऽस्य शक्तिः' (श्वे० ६.८) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें षष्ठी विभक्तिसे निर्दिष्ट धर्म ब्रह्मसे भिन्न हैं और सच्चिदानन्दरूप होनेसे अभिन्न हैं। इस प्रकार धर्मोंके ब्रह्मसे भिन्न होनेके कारण उसकी अनन्त-गुण-पूर्णता और उन धर्मोंके भी सच्चिदानन्द-रूप होनेसे ब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण ब्रह्मकी निर्गुणता यह दोनों उपपन्न हैं। सविशेष एवं निर्विशेष ब्रह्मको निरूपक उभयविध श्रुतियोंके बलसे ब्रह्मका यही स्वरूप सिद्ध होता है और उसे यथाश्रुत ही स्वीकार करना चाहिए। 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६.२.१) श्रुतिका तात्पर्य केवल यही है कि 'ब्रह्म-भिन्न कोई वस्तु नहीं है' और इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि ब्रह्म स्वरूपभूत धर्मोंसे भी शून्य है। अतः अद्वैत-भङ्गकी आशङ्काके बहानेसे ब्रह्मके स्वरूप-भूत धर्मोंमें अन्यथा कल्पना करना ठीक नहीं है और श्रुति, स्मृति एवं पुराण के वाक्योंसे सिद्ध ब्रह्मके सभी धर्मोंकी तथा लीलाकी भी सच्चिदानन्दरूपता एवं नित्यता स्वीकार करना ही उचित है।

* २.५.४ * पूर्वपक्षीका कहना है कि सच्चिदानन्द ब्रह्ममें रहनेवाले धर्मोंकी नित्यता, नित्य-ब्रह्ममें अवस्थितिके कारण, कथञ्चित् मान भी ली जाये तो भी वन, पर्वत, पशु, पक्षी एवं मनुष्य आदि विभिन्न अनित्य पदार्थोंसे सम्बद्ध गोवर्द्धनोद्धरण, कालिय-दमन आदिरूप क्रियात्मक लीलाओंकी नित्यता कैसे स्वीकार की जा सकती है? सिद्धान्तीका उत्तर है कि लीलाकी नित्यताका ज्ञान उस लीलाका निरूपण करनेवाले श्रीमद्भागवत-पुराण आदिके उन वाक्योंसे होता है जिनमें लीला-विशिष्ट भगवत्स्वरूपकी नित्यताका प्रतिपादन किया गया है। वे व्याकरण-शास्त्रका आश्रय लेकर 'जयति जन-निवासः' (भाग० १०.९०.४८) इत्यादि श्लोककी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस श्लोकमें श्रीशुकदेवने यह निरूपित किया है कि गोकुल, मथुरा एवं द्वारका में अलग-अलग समयोंमें की गयी लीलाओंके कर्ता भगवान्, श्रीशुकदेवके परीक्षित्को भागवत सुनानेके समय भी, उन सारी लीलाओंके साथ सर्वोत्कर्षपूर्वक स्थिति-शील हैं। भगवान्के उस समय वर्तमान होनेके साथ ही भगवान्की लीलाओंके भी वर्तमान होनेका बोध

करानेके लिए इस श्लोकमें 'जयति' पदके साथ ही एककालीनत्व-वाचक शतृ-प्रत्ययान्त 'अस्यन्' एवं 'वर्द्धयन्' पदोंका प्रयोग किया गया है। इस प्रकार श्रीशुकदेवने तीन वर्तमानार्थक क्रियापदोंके प्रयोग द्वारा अतीतकालमें हुई प्रतीत होनेवाली लीलाओंके अवतार-तिरोभावानन्तर, इस श्लोकके कहनेके समय भी वर्तमान होनेका निरूपण किया है और यह तभी उपपन्न हो सकता है जब उन लीलाओंको नित्य स्वीकार किया जाये। इसी प्रकार 'गोविन्द' इस नामके प्रादुर्भावके प्रसङ्ग (भाग० १०.२७.२३) से पूर्वकालमें ही गोपियों द्वारा 'क्रीडन्तं पातु गोविन्दः' (भाग० १०.६.२५) इत्यादि कह कर इस नामका प्रयोग करनेसे यह ज्ञात होता है कि जिस कर्मसे विशिष्ट जिस रूपका जो नाम है उस कर्मसे विशिष्ट वह रूप एवं नाम दोनों नित्य हैं, और इसीलिए वह लीला भी नित्य है, किन्तु लोकमें तत्तद् भक्तोंको तत्तद् रसोंका अनुभव करानेके लिए किसी काल-विशेषमें उसके किसी अंशका आविर्भाव होता है और कोई अंश तिरोहित रहता है। अतएव सिद्धान्तीका कथन है कि उस लीला-विशिष्ट रूपके नित्य होनेके कारण ही आज भी भक्तोंको कहीं-कहीं उसका उसी रूपमें अनुभव होता है।

एतदनन्तर लीला-सम्बन्धी पदार्थोंकी नित्यता सिद्ध करनेमें प्रवृत्त सिद्धान्तीने ऋक्-संहिता (१.१५४.६; १.२२.१९–२१, १०.११३.४) एवं तैत्तिरीय-संहिता के कुछ मन्त्रोंकी व्याख्या करते हुए उनमें नित्य-लीलाके स्थान 'अनेक-विध-निकुञ्ज-गह्वर-प्रदेश-यमुना-पुलिन-गोवर्द्धन[1]' आदि सहित गोकुलकी नित्यताका प्रतिपादन हुआ बताया है। इसी प्रकार उनके अनुसार छान्दोग्योपनिषद् (८.१.५) में 'ब्रह्मपुर' शब्दके वाच्य नित्य गोकुल तथा मथुरा आदि लीलास्थान हैं[2] और ब्रह्मसूत्रके दहराधिकरण (ब्र० १.३.१४-२१) में गोकुलस्थ भक्तोंके हृदय-कमलका भी दहरत्व अभीष्ट है। तदनन्तर सिद्धान्तीने भृगु आदि ऋषियोंसे ब्रह्माद्वारा कहे गये प्रायः तीस श्लोक—जो उसके अनुसार 'बृहद्वामन-पुराणे गीयन्ते उत्तर-स्थाने खिल्ये च' (विद्व०, पृ० ३०९)—उद्धृत करके उनसे यह निष्कर्ष निकाला है कि श्रुतियों द्वारा प्रार्थना किये जानेपर भगवान्ने उन्हें गोकुल, वृन्दावन, उनमें स्थित अपने स्वरूप एवं अपनी लीलाओं का जिस प्रकार दर्शन कराया है उससे उन सबकी नित्यता ही सिद्ध होती है। इसी प्रसङ्गमें सिद्धान्तीने, 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' (भाग० १०.२२.२७) इत्यादि श्लोककी विस्तारसे व्याख्या करते हुए यह उपपादित किया है कि नित्य-लीला-सम्बन्धी काल भी नित्य है। उनके अनुसार जैसे भगवान् विरुद्ध-धर्माधार हैं वैसे ही

---

१. द्र०, विद्व०, पृ० २९४.

२. अत्र 'ब्रह्मपुर'-शब्देन ब्रह्मणो भगवतः पुरं लीला-स्थानं श्रीगोकुल-मथुरादि उच्यते। (विद्व०, पृ० ३०७)।

उनकी रसात्मा भगवत्-स्वरूपा लीला भी विरुद्ध-धर्माधार है और जिस प्रकार भगवान्के विरुद्ध-धर्म परस्पर-बाधक नहीं हैं उसी प्रकार लीलाके भविष्यत्व एवं नित्यत्व आदि धर्म भी परस्पर-बाधक नहीं हैं।

पूर्वपक्षी प्रकारान्तरसे लीला-नित्यत्वका निराकरण करते हुए कहते हैं कि यदि नित्य-लीलामें सर्वदा वे ही व्यक्ति रहते हैं जो उसमें पहलेसे ही विद्यमान हैं और उपयुक्त साधनोंसे सम्पन्न एवं नित्य-लीलाप्रवेशकी इच्छा रखने वाले आधुनिक भक्तोंका उसमें प्रवेश नहीं हो सकता तो आधुनिक व्यक्तियोंका नित्यलीला-प्रवेशकी इच्छासे साधनानुष्ठान व्यर्थ हो जायेगा और यदि इन आधुनिक भक्तोंका भी लीलामें प्रवेश हो सकना स्वीकार कर लिया जाये तो इनके साथ होने वाली लीलाको नवीन एवं अनित्य ही स्वीकार करना पड़ेगा और लीलाके नित्यत्वकी हानि होगी। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार न्याय-दर्शनमें घट-पटादि जन्य एवं अनित्य पदार्थोंसे सम्बद्ध तद्विषयक ईश्वर-कर्तृक ज्ञानको नित्य माना जाता है उसी प्रकार श्रुति-स्मृतिके पूर्वोक्त प्रमाणोंके अनुरोधसे आधुनिक-भक्त-सम्बन्धिनी लीलाको भी नित्य मानना ही उचित है। वस्तुतः यह लीला नवीन नहीं है प्रत्युत आधुनिक भक्तोंको भी अनादि एवं नित्य-लीलाका ही भगवदनुग्रहसे उसी प्रकार अनुभव होता है जैसे मायावादियोंके अनुसार महावाक्य-जन्य ज्ञानसे साधकको नित्य-सिद्ध मोक्षका। इस प्रकार आधुनिक भक्त भी नित्यलीलाके अधिकारी हैं और उनके लीला-प्रवेशसे लीलाकी अनित्यताकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इस सन्दर्भमें सिद्धान्तीने पूर्वपक्षीकी इस आशङ्काका कि 'लोकमें क्रीडा प्रायः समान व्यक्तियोंमें देखी जाती है, अतः तुच्छ-जीवको परमेश्वरकी अन्तरङ्ग नित्य-लीलामें प्रवेश प्राप्त होनेकी बात दुरवबोध है', परिहार करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि लीला-प्रवेशमें अन्ततः भगवदनुग्रह ही नियामक होता है। अतः जीवमें अपनी स्वयंकी लीला-प्रवेशकी योग्यता न होने पर भी भगवदनुग्रहसे उसका लीला-प्रवेश हो सकता है और भगवदिच्छा न होने पर उच्च-कोटिके जीवोंके जन्म-जन्मान्तरके प्रयत्नोंसे भी लीला-प्रवेश अशक्य ही है।

पूर्वपक्षीकी लीलाके अनित्यत्वका प्रतिपादन करने वाली जन्यत्व-हेतुक एवं क्रमिकत्व-हेतुक युक्तियोंका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि लीलाका क्रमशः आविर्भाव होता है अतः भक्तोंको उसका अनुभव भी क्रमशः ही होता है किन्तु इससे लीलाको जन्य नहीं कहा जा सकता। अतः जन्यत्व-हेतुक अनुमानसे लीलाकी अनित्यता सिद्ध करनेकी चेष्टा करना ठीक नहीं है। इसी सन्दर्भमें सिद्धान्ती पूर्वपक्षीकी इस युक्तिका कि 'लीला क्रिया-स्वरूपा है और क्रियाकी सत्ता तीन क्षणों तक ही रहती है अतः इसे नित्य माननेपर क्रियाके त्रिक्षणावस्थायित्व-नियमका भङ्ग होगा', उत्तर देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पूर्वपक्षीके मतमें ईश्वरीय ज्ञानको नित्य माननेसे ज्ञानके त्रिक्षणा-

वस्थायित्व-नियमका भङ्ग न होनेकी व्याख्या की जाती है वही प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। यदि पूर्वपक्षीको प्रमाण-बलसे ईश्वरीय-ज्ञानकी नित्यताकी सिद्धि अभिप्रेत हो तो उसी प्रकार प्रमाणोंके अनुरोधसे उसे लीला-नित्यत्वके सिद्धान्तको भी स्वीकार करना चाहिए।

तदनन्तर सिद्धान्ती पूर्वपक्षीकी इस जिज्ञासाका समाधान करते हैं कि इस नित्य-लीलासे सम्बद्ध पदार्थ एवं स्थान आदि सामान्यतः सर्व-दृश्यमान गोकुल, गोवर्धन एवं यमुना आदि ही हैं अथवा इनसे भिन्न कोई अन्य अलौकिक असाधारण-भक्तानुभवैक-वेद्य गोकुल आदि। उनका कथन है कि जिस प्रकार नेत्रेन्द्रिय गोलकमें अभिव्याप्त होकर तद्द्वारा दार्शनिक कार्य सम्पन्न करती है उसी प्रकार गोकुल आदि नित्य लीला-स्थान भी सर्व-जन-प्रत्यक्ष-गम्य गोकुल आदिमें सन्निहित रहकर इनके द्वारा अपने प्रभावको प्रकट करते हैं। सर्व-जन-वेद्य इन गोकुल आदिका नित्य-लीला-स्थानवाला स्वरूप जन-साधारण-गम्य नहीं है। गोकुल आदिके स्वरूपके अन्यथा-ज्ञानका कारण आसुर-व्यामोह-कारिणी भगवदिच्छा ही है।

• २.५.५ • सिद्धान्तीने शब्द-प्रमाणके आधारपर भगवान्‌की लीला और लीलास्थ पदार्थों की नित्यता एवं लीला-कर्ताकी दृश्यमान विग्रहसे अभिन्नता स्थापित की है। ऐसी स्थितिमें द्वारका-लीला या प्रभासीय-लीला पर भी उक्त कथन लागू होगा। इस सन्दर्भमें पूर्वपक्षी श्रीमद्भागवतके एकादश-स्कन्धमें यदुकुलके संहारके निरूपणकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहते हैं कि भगवान्‌की देहत्याग-लीलाकी दृष्टिसे विचार करने पर उनके स्वरूपका अन्यथा-भाव होनेसे लीलाके नित्यत्वका विरोध होता है। इस प्रकार लीलामें उत्पन्न यादवोंके विप्र-शाप-जन्य नाश एवं लीलाके नाश के प्रतिपादक प्रमाण वाक्योंसे लीला-नित्यत्व-प्रतिपादक प्रमाण-वाक्योंका विरोध होनेके कारण लीला-नित्यतावाद स्वीकार करना असङ्गत है।

इस आक्षेपके परिहारमें सिद्धान्तीका यह कहना है कि प्रभासीय लीला विषयता-रूप एवं मायिक है, नित्य नहीं। जिस प्रकार भगवान् धर्म-रक्षा एवं भू-भार-हरण के लिए लीला करते हैं उसी प्रकार वे आसुर-व्यामोह-लीला भी करते हैं। मोहन मायासे ही होता है। अतः आसुर-मोहनार्थ भगवान् द्वारा की गयी लीलाको मायिक ही मानना चाहिए। भगवान्‌का शरीर पाञ्चभौतिक नहीं प्रत्युत अपने स्वरूपसे अभिन्न, सच्चिदा-नन्दात्मक है। ऐसे ब्रह्मात्मक-शरीरका त्याग सम्भव नहीं है। इसीलिए प्रभासीय-लीलाके वर्णनमें श्रीकृष्णके शरीर त्यागका उल्लेख नहीं है; प्रत्युत अपने स्वरूपसे नित्य-लीला-धामको गमन करनेका निरूपण है; ऐसा श्रीधरस्वामी आदि व्याख्याकारोंने माना है। इस प्रकार पूर्वोक्त मायिक-लीलाके कर्ता भगवान्‌को भी लौकिक समझना आसुरी जीवोंका ही काम है, दैवी जीवोंका नहीं, क्योंकि उक्त लीला भगवान्‌ने आसुरी जीवोंके

मोहके लिए ही की है। ब्रह्माण्ड-पुराणके,

'अज्ञत्वं पारवश्यं च विधि-भेदादिकं तथा।
तथा प्राकृत-देहत्वं देह-त्यागादिकं तथा।
असुराणां विमोहाय दोषा विष्णोर्न हि क्वचित्।'

इन वाक्योंमें अज्ञत्व, परवशता, वेद-विरोधी आचरण, प्राकृत-देहत्व एवं देहत्याग आदि दोषोंके भगवान्में न होने का प्रतिपादन करते हुए यह कहा गया है कि निर्दोष भगवान्में प्रतीत होने वाले ये धर्म मायिक हैं, जिनका प्रयोजन असुरोंको विमुग्ध करना है। इस प्रकार जैसे जन्मके समय कृष्णने लौकिक शिशु होनेका नाटक किया है[1] उसी प्रकार देह-त्यागका भी नाटक ही किया है। उन्होंने आन्तरालिक-सृष्टि-रूप मायिक देह—जिससे द्रष्टाको भगवत्स्वरूपमें 'यह प्राकृत है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है—का ही त्याग किया है, मूल-स्वरूप अथवा व्यूह-स्वरूप का नहीं।

इसी प्रकार, प्रभासमें लीला-प्रविष्ट यादवोंके नाशकी बात कह कर लीलाकी नित्यतामें शङ्का करना भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रभासमें लीलाप्रविष्ट यादव नष्ट नहीं हुए थे प्रत्युत मायिक कुल नष्ट हुआ था, यह प्रतिपादित करनेके लिए ग्रन्थकारने भागवतके एतत्सम्बन्धी विभिन्न श्लोकोंकी विस्तारसे ऊहापोहपूर्वक व्याख्या करके अपने इस सिद्धान्तको उपस्थापित किया है कि प्रभासीय लीला-सम्बन्धी यादव-कुल मायिक, और नित्य-लीला-मध्य-पाती यादव कुलसे भिन्न था।

* २.५.६ * पूर्वपक्षी जगन्मिथ्यात्ववादी अपने आक्षेपोंका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि सिद्धान्ती द्वारा उपन्यस्त प्रमाणोंके आधारपर भगवान्की लीलाओंको प्रपञ्चातीत होनेके कारण सत्य मान भी लिया जाये तो भी प्रपञ्चकी सत्यता स्वीकार कर सकना तो कथमपि सम्भव नहीं है क्योंकि श्रुति-स्मृति-सूत्रादिके तत्तत् वाक्यों एवं युक्तियोंके रूपमें दिये गये विभिन्न प्रमाणों से उसके सत्यत्वका बाध और मायिकत्वका निश्चय होता है। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि हम लीला एवं तत्सम्बन्धी पदार्थों की ब्रह्मसे भिन्नाभिन्नता प्रतिपादित कर चुके हैं। यह प्रपञ्च भी सर्गादि-लीला-मध्य-पाती ही है क्योंकि श्रीमद्भागवत-पुराण आदिमें इसका इसी रूपमें निरूपण हुआ है। अतः यह भी ब्रह्मसे भिन्नाभिन्न एवं सत्य ही है मायिक एवं असत्य नहीं। 'जगदप्रत्ययाप्तितः[2]' इस हेतुकी व्याख्या करते समय हम प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रति-

---

१. इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्म-मायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः। (भाग० १०.३.४६)।

२. अभेदादनुपादित्सवाज्जगदप्रत्ययाप्तितः।
सर्वाधारत्वतस्तावच्छक्तित्वान्नास्य बाधनम्॥ (विद्व०, पृ० २५)।

पादन कर चुके हैं। श्रीवल्लभाचार्यने अपने अणुभाष्य, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध एवं सुबोधिनी में भी प्रपञ्च-सत्यत्वका प्रतिपादन किया ही है। अतः हम यहाँ पिष्ट-पेषणसे विरत होते हैं।

* २.५.७ * पूर्वपक्षीकी आशङ्का है कि नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद्में ब्रह्मको शून्य कहा गया है, और शून्यका अर्थ विशेष-शून्य ही है, अतः इस श्रुतिवाक्यके अनुरोधसे ब्रह्मको निर्विशेष एवं निर्धर्मक मानना ही उचित है। उसी उपनिषद्में इस जगत्को तुच्छ कहा गया है जिससे इसके मायिक होनेका बोध होता है। अतः इस जगत्को ब्रह्मात्मक मानना ही श्रुति-विरुद्ध है। पुनश्च। ब्रह्म भावरूप है और जगत् भावाभावरूप है। भावाभावरूप होनेके कारण भी जगत् भावरूप-ब्रह्मसे अभिन्न नहीं हो सकता। अतः जगत्की ब्रह्मात्मकताका सिद्धान्तीका मत अनुपपन्न है। और सिद्धान्ती जगत्के सत्यत्वका प्रतिपादन उसके ब्रह्मात्मक होनेके आधारपर ही करते हैं अतः उनका जगत्को सत्य कहना भी युक्तियुक्त नहीं होगा। इस प्रकार जगत्का मिथ्यात्व या मायिकत्व ही सिद्ध होता है।

इसके उत्तरमें सिद्धान्ती श्रीमध्वाचार्यके ब्रह्मसूत्रभाष्य (१.४.२९) में उद्धृत श्रुति एवं पुराण के वाक्योंको उद्धृत करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि पूर्वपक्षीने 'शून्य' एवं 'तुच्छ' आदि शब्दोंका जो अर्थ और 'अभाव' का जो स्वरूप समझ रखा है वह श्रुति-स्मृत्यनुसारी नहीं है। ब्रह्मके अभाव-प्रयोजक होनेके कारण, इस अर्थमें ब्रह्ममें अभावरूपता भी है ही। अतः प्रपञ्चकी भावाभावात्मकताको उसकी ब्रह्मात्मकताका बाधक नहीं कहा सकता। श्रुतिमें निषेध-मुखसे भी ब्रह्मका निरूपण किया गया है। इसीलिए वहाँ ब्रह्मके लिए 'शून्य', 'नाश' एवं 'अभाव' आदि विभिन्न अभाव-वाचक शब्दोंका प्रयोग मिलता है। ब्रह्मानन्दसे अन्य आनन्द अल्प हैं अतः इसे 'शून्य' कहना अन्वर्थ है[1]। 'नित्य होनेसे इसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता', इस अर्थको सूचित करनेके लिए इसे 'अभाव' कहा जाता है और इसे खा लेना या नष्ट कर देना सम्भव नहीं है इसीलिए इसे 'नाश' भी कहते हैं[2]। वस्तुतः सभी शब्दोंका मुख्य वाच्य ब्रह्म ही है किन्तु वह अपने स्वरूपभूत पदार्थोंमें अपने धर्मोंके न्यूनाधिक तिरोभावसे वैचित्र्य उत्पन्न कर उन्हें तत्तद् रूप प्रदान करता है, अतः व्यवहार-दशामें ब्रह्मवाचक शब्दोंका प्रयोग शक्ति-सङ्कोच-पूर्वक तत्तत् पदार्थोंके लिए भी होता है। इस प्रकार 'शून्य' आदि

---

१. शमूनं कुरुते विष्णुरदृश्यः सन् परः स्वयम्।
तस्माच्छून्यमिति प्रोक्तः। (विद्व०, पृ० ३५२ में उद्धृत कूर्मपुराण)।

२. नैष भावयितुं योग्यः केनचित्पुरुषोत्तमः।
अतोऽभावं वदन्त्येनं नाश्यत्वान्नाश इत्यपि। (वही)।

शब्दोंके प्रयोगसे वेद-प्रतिपाद्य ब्रह्मके स्वरूपका निर्धर्मक होना या ब्रह्मात्मक प्रपञ्चका असत् होना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

* २.५.८ * सिद्धान्तीका निष्कर्ष है कि ब्रह्मको निर्विशेष एवं निर्धर्मक तथा जगत्को असत् मानना श्रुति-स्मृति एवं सूत्रों के अभिप्रायके एवं युक्तियोंके भी विरुद्ध है, यह बात उपर्युक्त प्रकारसे सिद्ध कर दिये जाने पर भी जो लोग भगवान्की लीलाओंको अवास्तविक तथा जगत्को असत्य कहते हैं वे जगन्मध्यपाती भगवन्मूर्तियों, भगवद्भक्ति एवं भगवद्भक्तों के प्रति असहिष्णुताके कारण ही ऐसा कहते हैं और इस कलियुगमें उनके ऐसा करनेमें सकलान्तरात्मा भगवान् श्रीहरिकी इच्छा ही हेतु है।

अतः हमारे द्वारा यहाँ प्रतिपादित श्रुतिसिद्ध पद्धतिसे ही ब्रह्मके स्वरूपको समझकर उसकी प्राप्तिके लिए उन भगवान्का भजन करना ही श्रेयस्कर है।

* २.५.९ * ग्रन्थका उपसंहार करते हुए गो० श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं कि जो लोग अलौकिक वेदोंकी प्रामाणिकताकी अपेक्षा लौकिक प्रमाणोंको अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं और वेदोंका अर्थ भी तदनुरूप ही करते हैं वे प्रच्छन्न बौद्ध हैं[1]। उन्हें इस कृतिसे प्रसन्नता होगी यह आशा हम नहीं करते। जिन मोहग्रस्त लोगोंके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्की ही यह इच्छा हो कि ये लोग श्रुति-सिद्ध मतसे विरुद्ध बातें मानकर मुग्ध हो जायें उन आसुर जीवोंके मोहका अपनोदन करनेमें हमारी वाणी स्वभावतः अशक्त है[2]। किन्तु यदि लौहको सुवर्ण बनानेवाली 'पारस' मणि पाषाणको सुवर्णमय न कर सके तो इससे उसमें कोई न्यूनता नहीं मानी जाती[3]। हमने तो यहाँ प्रमाण एवं उपपत्तियों के प्रदर्शनका परिश्रम इसलिए किया है कि भगवद्भजनके अधिकारी सात्त्विक जीव भी कहीं अन्य अतादृश जीवोंकी सङ्गतिसे मलिन-हृदय न हो जायें[4]। और हम समझते हैं कि जो लोग प्रच्छन्न-बौद्धोंकी प्रवृत्तिके विपरीत श्रुति, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भागवत आदिमें श्रद्धा रखकर भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करते हैं, उन्हें इस

---

१. येषां लौकिकमेव मानमधिकं वेदादितोऽलौकिकात्
तत्पादानुगतस्तदर्थ इति च प्रच्छन्न-बौद्धास्तु ते। (विद्व०, पृ० ३५३)।

२. श्रुत्युक्त-वैपरीत्येन यन्मोहाय हरिः स्वयम्।
प्रदर्शयति तन्मोह-गमनाय न मद्वचः॥ (वही, पृ० ३४८)।

३. काञ्चनीकरणे शक्तो मणिर्धातुगणस्य यः।
तस्याश्मनां तथा-भावाकरणेऽपि न हि क्षतिः॥ (वही, पृ० ३४९)।

४. तत्सङ्गादन्यथा-भूत-हृदयाः सात्त्विका अपि।
मा भवन्त्वित्ययं यत्नस्तेन तुष्टोऽस्तु मे हरिः॥ (विद्व०, पृ० ३४९)।

ग्रन्थको पढ़कर प्रसन्नता होगी[1]। वे इसे हृदयङ्गम कर या अविकल दुहरा कर उस प्रतिपक्ष-पक्षरूप अन्धकारको दूर कर सकते हैं[2]।

अन्तमें 'गोपी-पति-रति-मार्ग' के प्रवर्तक अपने पूज्य पिता श्रीवल्लभाचार्यको प्रणाम करते हुए ग्रन्थकारने भगवान्के पूर्णत्वापादक प्रसादकी कामनाके साथ ग्रन्थको समाप्त किया है[3]।

---

१. येषां तद्-विपरीततैव विदुषां केषाञ्चिदन्तर्गता
तेषामेव मुदेऽस्तु मत्कृतिरियं गोपीश-संसेविनाम् ॥ (विद्व०, पृ० ३५४)।

२. यथोक्तं कण्ठे वा शुकवदथवाऽर्थञ्च हृदये
मुदा कृत्वायत्तं धुनुत रिपु-पक्षाभिध-तमः ॥ (विद्व०, पृ० ३५४)।

३. एतेनास्मत्कुलपतिः श्रीगोपीजन-वल्लभः।
प्रीतोऽस्त्वस्मासु तेनैव पूर्णता किमिदापरैः ॥ (विद्व०, पृ० ३५५)।

विद्वन्मण्डनके दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तोंकी पृष्ठभूमि

• ३.०.० • इस अध्यायमें हम विद्वन्मण्डनमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंकी पृष्ठभूमिमें विद्यमान प्रमाण-मीमांसा, तत्त्वमीमांसा एवं साधन-मीमांसा की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

• ३.१.० • विद्वन्मण्डनकी पृष्ठभूमिमें विद्यमान दार्शनिक सिद्धान्त—जिसकी प्रतिष्ठा श्रीवल्लभाचार्य एवं स्वयं विद्वन्मण्डनकार गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ ने श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् आदि ग्रन्थोंमें की है—का सम्भवतः सबसे अधिक उपयुक्त अभिधान 'शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवाद' कहा जा सकता है। इसे ही कभी-कभी 'अखण्ड-शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवाद' भी कहा जाता है। इसीलिए श्रीमन्नलाल शास्त्री ने अपने द्वारा प्रकाशित अणुभाष्यके मुख-पृष्ठपर उसे 'अखण्ड-शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवाद-प्रतिपादन-पर' बताया है। स्वयं विद्वन्मण्डनकारको सम्भवतः 'साकार-ब्रह्मवाद' अभिधान अधिक उपयुक्त लगता रहा हो और इसीलिए उन्होंने श्रीवल्लभाचार्यको 'ब्रह्मवाद-निरूपकः' (सर्वो० ३१) बताते हुए भी 'साकार-ब्रह्मवादैक-स्थापकः' (सर्वो० ८) कहा हो। स्वयं श्रीवल्लभाचार्यने आचार्य जैमिनिको 'साकारब्रह्मवाद' का समर्थक घोषित करते हुए[1] इसके लिए 'ब्रह्मवाद[2]' एवं 'शुद्ध-ब्रह्मवाद[3]' अभिधानोंका प्रयोग किया है।

• ३.१.१ • 'शुद्धाद्वैत' पद—जो यहां 'ब्रह्मवाद' के विशेषणके रूपमें उपन्यस्त हुआ है—का प्रयोग श्रीवल्लभाचार्यके बहुत पहलेके औपनिषद साहित्यमें हुआ मिलता है। उदाहरणार्थ मण्डलब्राह्मणोपनिषद्के, 'अहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परन्तु न हि मदन्यदिति जात-विवेकः शुद्धाद्वैत-ब्रह्माहमिति भिदागन्धं निरस्य ...।' (मण्डलब्रा० २.४), 'शुद्धाद्वैताजाड्य-सहजामनस्कयोगनिद्राऽखण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति।' (मण्डलब्रा० २.५) तथा 'तल्लयात् शुद्धाद्वैतसिद्धिः भेदाभावात्।' (मण्डलब्रा० ५.१) इत्यादि वाक्योंमें यह पद उपलब्ध

---

१. अतः साकारब्रह्मवाद एव जैमिनेः सिद्धान्तः। (अ० १.२.२८)।

२. अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्। (तत्त्वा० २.१८४)। द्र०, सुबो० ३.७.८.

३. एवं शुद्धो ब्रह्मवादः सिद्धो भवति सन्मते (तत्त्वा० प्र० १.२३)।
तु०, 'शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः' (तत्त्वा० १.२१); द्र०, तत्त्वा० प्र० १.२१.

होता है। इसी प्रकार एक अन्य उपनिषद् में भी इस पदका प्रयोग हुआ है[1], और वहाँ प्रतिपादित सिद्धान्त भी वाल्लभ मतसे मिलता-जुलता है, तथापि यह कहना तो अतिरञ्जितोक्ति ही होगी कि इन उल्लेखोंमें 'शुद्धाद्वैत' पद ठीक उसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, जिस अर्थमें श्रीवल्लभाचार्य एवं गो० श्रीविट्ठलनाथ का ब्रह्मवाद 'शुद्धाद्वैत' कहा जाता है।

३.१.२ स्वयं श्रीवल्लभाचार्यने वेदान्तकी स्वाभिमत व्याख्याका 'शुद्धाद्वैत' यह अभिधान निर्धारित कर, इसके स्पष्टीकरणके लिए इस पदके स्वाभिप्रेत अर्थका कहीं स्पष्ट शब्दोंमें विवेचन किया हो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। तथापि उनकी कृतियोंमें 'अज्ञाननाशकं विज्ञानमात्मानुभवः, भेदनाशकं तु भगवद्विज्ञानम्। उभयोः साक्षात्कारे देहाद्यध्यासनिवृत्तिः, शुद्धाद्वैतं च स्फुरति।' (सुबो० १०.२.३५) इत्यादि-वाक्योंमें इस पदका प्रयोग उपलब्ध होता है; और शुद्धाद्वैतके स्वरूपका विवेचन भी श्रीवल्लभाचार्य एवं गो० श्रीविट्ठलनाथ की कृतियोंमें यत्र-तत्र मिलता ही है। उदाहरणार्थ अपने तत्त्वार्थदीपनिबन्धके सर्वनिर्णय-प्रकरणमें श्रीवल्लभाचार्य लिखते हैं,

आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥ (तत्त्वा० २.१-३)।
आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्॥ (तत्त्वा० २ १८४)।

सुबोधिनीमें वे कहते हैं, 'आदौ शुद्धं ब्रह्म एव अस्ति, न ततोऽतिरिक्तं कारणं किञ्चित्। ब्रह्मैव तथा प्रादुर्भूतमित्यर्थः' (सुबो० ३.९.२)। अन्यत्र श्रीमद्भागवतके,

'नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं
मायागुणव्यतिकरादयदुरुविभासि।' (भाग० ३.९.१)

इस श्लोककी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, "त्वत्तोऽन्यन्नास्त्येव···। ननु मध्ये मायया बुद्धि-भ्रामिकया अन्यत् क्रियते इति निरूपितम्, तत् कथमुच्यते 'नान्यद्' इति? तत्र आह, 'अपि तन्न शुद्धम्' इति। *मुख्यज्ञाने ब्रह्मवादे* तत् नास्त्येव।···तस्माद् वेदे नास्त्येव मायया सृष्टिः।···

---

१. ततः पितामहः परिपृच्छति भगवन्तं महाविष्णुम्, 'भगवन्! शुद्धाद्वैत-परमानन्द-लक्षण-परब्रह्मणस्तव कथं विरुद्ध-वैकुण्ठ-प्रासाद-प्राकार-विमानाद्यनन्त-वस्तु-भेदः?' सत्यमेवोक्तमिति भगवान् महाविष्णुः परिहरति, 'यथा शुद्ध-सुवर्णस्य कटक-मुकुटाङ्गदादि-भेदः; यथा समुद्र-सलिलस्य स्थूल-सूक्ष्मतरङ्ग-फेन-बुद्बुद-करक-लवण-पाषाणाद्यनन्त-वस्तु-भेदः; यथा भूमेः पर्वत-वृक्ष-तृण-गुल्म-लताद्यनन्तवस्तु-भेदः; तथैव अद्वैत-परमानन्द-लक्षण-परब्रह्मणो मम सर्वाद्वैतमुपपन्नं भवत्येव। मत्स्वरूपमेव सर्वं, मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते।' (त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषद् ८.१)।

तथापि भागवत-सिद्धान्तेऽपि यद्यन्तरा माया कल्पयति, तन्न शुद्धम्, भ्रमस्य दोषस्य जनकत्वात्। ननु एकस्य कथमनेकता ? न हि कारणे एकत्वविरोधादनेकसङ्ख्या सम्भवति। तत्र आह, 'मायागुणव्यतिकराद्' इति। माया-गुणानां=सत्त्व-रजस्तमो-गुणानां, व्यतिकराद्=अन्योऽन्यसम्बन्धात्, ते परिच्छिन्नाः सन्तो'''नानात्वं सम्पादयन्ति। तदा त्वम् 'उरुविभासि।' " (सुबो० ३.९.१)। अन्यत्र वे लिखते हैं, 'भगवत्कर्तृकैव सृष्टिः''' यस्यां सृष्टौ भगवानेव प्रविश्य नाना भवति, नतु जीवः पुरुषोऽन्यो वा।' (सुबो० ३.५.१५) तथा 'तत्त्वान्येतानि भगवद्भावभूतानि। भावो नाम सर्वान् प्रति सामान्यकारणता। भगवतः कारणता पञ्चविंशति-प्रकारेण जाता इत्युक्तं भवति।' (सुबो० ३.५.३७)। इसी प्रकार उनके, 'एवं सर्वं ततः सर्वम्' (तत्त्वा० १.१०१), 'सर्वं भगवत एव, स एव च सर्वम्' (तत्त्वा० प्र० १.१०१), "अविकृत एव भगवान् सर्वं करोति, तादृशमेव भगवत्स्वरूपं, श्रुतिप्रामाण्यात्, यादृशे अङ्गीक्रियमाणे सर्वसमाधानं भवति। तस्मात्तत्र न मायादिकल्पना। योऽनुपपत्तिपरिहारो मायया सोऽपि स्वरूपेणैव[1] एवं सति[2] श्रौतार्थता भवति। अन्यथा त्वप्रामाणिकं स्यात्, स्वकपोल-कल्पनात्। स[3] पक्षोऽत्रैवर्णिकाय सर्वथा न वक्तव्य इति, 'दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः', 'असुर्यः शूद्रः' इति श्रुतेः, 'मायेत्यसुराः' (मुद्गलोप० ३) इति च।" (सुबो० ३.७.८) तथा 'जगद्, भगवान्, कर्तृत्वं च श्रुतिसिद्धं सत्यमेव। सृष्टस्य ब्रह्मस्वरूपस्य जगतः तथात्वप्रतीतौ, व्यामोहिकया मायया मध्ये अन्यथैव प्रत्याय्यते[4]। अविकृतं कार्यं, कारणं, कृतिश्च। 'युष्माकम्' इति वचनान्न सर्वेषामयमनुभवः।' (सुबो० ३.७.१५) इत्यादि वाक्योंसे उनको अभिमत शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादका स्वरूप समझा जा सकता है। किन्तु इस विषयमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्भवतः उनका यह अधोलिखित वाक्य है जिसमें वे ब्रह्म एवं केवल ब्रह्म को ही जगत्का कारण बताते हुए जगत्के ब्रह्मरूप होनेका प्रतिपादन करनेके साथ ही स्पष्ट शब्दोंमें इसके ही वैदिक सिद्धान्त होनेकी बात कहते हैं। अपनी 'प्रपञ्चो भगवत्कार्यः तद्रूपः' (तत्त्वा० १.२३) इस उक्तिकी व्याख्याके रूपमें लिखे गये इस वाक्यमें श्रीवल्लभाचार्य सुस्पष्ट शब्दोंमें

---

१. स्वरूपेणैव' इति। ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वेन मायाया अपि स्वरूपान्तःपातित्वात् तेनैव। (सुबो० प्र० ३.७.८)।

२. ननु मायाया अपि स्वरूपान्तःपातने को वा आग्रहः, इत्यत आहुः, 'एवं सति' इत्यादि। (सुबो० प्र० ३.७.८[1])।

३. तर्हि ब्रह्मवादेनैव कुतो न समाहितमित्यत आहुः, 'स' इत्यादि। (सुबो०प्र० ३.७.८)।

४. विषयतारूपं विकृतं जगत् कृत्वा ब्रह्मरूपे जगति जड-मोहात्मकत्वं तुच्छत्वं प्रत्याय्यते, आत्मरूपेऽनात्मत्वं च प्रत्याय्यत इत्यर्थः। (सुबो० प्र० ३.७.१५)।

कहते हैं कि, 'अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणुजन्यः, नापि विवर्तात्मा, नापि अदृष्टद्वारा जातः, नापि असतः सत्तारूपः, किन्तु भगवत्कार्यः, परमकाष्ठा-पन्न-वस्तु-कृति-साध्यः। तादृशोऽपि भगवद्रूपः।'' वैदिकस्तु एतावानेव सिद्धान्तः।' (तत्त्वा० प्र० १.२३)। इसी प्रकार गो० श्रीविट्ठलनाथने भी तत्तत् स्थलोंमें अनेकशः शुद्धाद्वैतकी इस अवधारणाका संकेत किया है जो परवर्ती अध्यायोंमें किये गये ब्रह्मकी अवधारणाके विवेचनपर दृष्टिपात करनेसे स्पष्ट हो जायेगा।

* ३.१.३ * परवर्ती साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें 'शुद्धाद्वैत' पदका प्रयोग तो मिलता ही है इसके श्रीवल्लभाचार्यको अभिमत स्वरूपके समर्थनका प्रयत्न भी परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ ब्रह्मसूत्रके स्मृतिपादके अन्तिमसूत्रकी भावप्रकाशिकावृत्ति एवं अणुभाष्यकी गो० श्रीपुरुषोत्तमकृत प्रकाशव्याख्या में, 'अविभागलक्षणस्यैवाद्वैतस्य सिद्धिर्न तु शुद्धाद्वैतस्येत्यद्वितीयश्रुतिविरोधो दुष्परिहरः' इत्यादि वाक्यमें तथा भावप्रकाशिकाके उसी स्थलमें आये 'न शुद्धाद्वैते कोऽपि शङ्कावकाशः' इत्यादि वाक्यमें यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूपसे दिखाई देती है। इस प्रकार 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्डः' के लेखक काशीवासी गोस्वामी श्रीगिरिधर (जन्म वि० सं० १८४७) के समय तक श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित किये गये इस वेदान्त-सिद्धान्तके लिए 'शुद्धाद्वैत' पद उसी प्रकार रूढ हो चुका था जिस प्रकार श्रीशङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्त-सिद्धान्तके लिए 'अद्वैत' या 'केवलाद्वैत' पद। इसीलिए शुद्धाद्वैत-मार्तण्डमें 'शुद्धाद्वैत' पदका अर्थ श्रीशङ्कराचार्यके दर्शनके अभिधानके रूपमें प्रसिद्ध 'अद्वैत' शब्दके सन्दर्भमें ही बताया गया है। 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड' की 'प्रकाश' व्याख्याके लेखक, और ग्रन्थकार गो० श्रीगिरिधरके शिष्य श्रीरामकृष्ण भट्ट कहते हैं कि, "अद्वैत-ज्ञानके द्वैत-ज्ञान-सापेक्ष होनेके कारण शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारने पहले 'द्वैत' पदका अर्थ बताया है[1]" और तदनन्तर 'द्वैत' पदके उस अर्थके प्रकाशमें 'अद्वैत' पदकी व्याख्या की है। वस्तुतः इन पदोंकी व्याख्या शुद्धाद्वैत-मार्तण्डकारने प्रायः वैसी ही की है जैसी श्रीसुरेश्वराचार्यके बृहदारण्यक-वार्तिकके,

'द्विधेतं द्वैतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते।
तन्निषेधेन चाद्वैतं प्रत्यग्वस्त्वभिधीयते॥' (बृ० वा० ४.३.१८६)।

इस श्लोकमें मिलती है। वे लिखते हैं,

'द्विधा ज्ञानं तु यद्यत् स्यान्नामरूपात्मना मुहुः।
ईश-जीवात्मना वापि कार्य-कारणतोऽथवा॥

---

१. अद्वैत-ज्ञानस्य द्वैत-ज्ञान-सापेक्षत्वेन द्वैतपदार्थम् आहुः। (शुद्धा० प्र० ३)।
तु०, 'अद्वैत-सिद्धेः द्वैत-मिथ्यात्व-सिद्ध-पूर्वकत्वाद् द्वैत-मिथ्यात्वम् एव प्रथमम् उपपादनीयम्।' (अद्वैत-सिद्धिः, पृ० ८)।

द्वीतं, तदेव द्वैतं स्यादद्वैतं तु ततोऽन्यथा।' (शुद्धा० ३–४)।

उनके इस कथनका आशय यही है कि द्विप्रकारक ज्ञान, अर्थात् नाम एवं रूप, ईश्वर एवं जीव या कार्य एवं कारण के भेदसे होनेवाला ज्ञान द्वैत कहा जाता है और उससे इतर अद्वैत। इस अद्वैतका श्रीवल्लभाचार्यको अभिमत स्वरूप स्पष्ट करनेके लिए श्रुतिवाक्य उद्धृत कर उसके शुद्धाद्वैतपरक होनेका प्रतिपादन करते हुए वे लिखते हैं,

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति' पठ्यते ॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमा बोद्धयते पुरः।
सर्व-शब्देन यावद्धि दृष्टश्रुतमदो जगत् ॥
बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम्।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्यात्तु कारणम् ॥' (शुद्धा० ४–६)।

तात्पर्य यह है कि श्रुति दृष्ट-श्रुत समग्र जगत्की ब्रह्मात्मकताका निरूपण करती हुई, कार्य एवं कारण दोनोंको ब्रह्म कहती है और इस प्रकार अद्वैतका प्रतिपादन करती है। इस 'अद्वैत' पदकी व्याख्या करते हुए श्रीरामकृष्ण भट्ट लिखते हैं, "'ये गत्यर्थकाः ते ज्ञानार्थकाः' इति-न्यायेन गत्यर्थकाद् इण्-धातोः, भावे क्ते, 'इतम्' इति सिद्धौ, द्विधा इतं द्वीतं; तस्मात् स्वार्थेऽणि 'द्वैतम्' इति निष्पन्नम्। तस्य च द्विप्रकारकं ज्ञानम् इति अर्थः। अन्यथा=भेद-ज्ञानाऽभावे, 'न द्वैतम्=अद्वैतम्' इति विग्रहः[1]।" (शुद्धा० प्र० ४)।

इस प्रकार 'अद्वैत' पदका अर्थ निरूपित करनेके पश्चात् 'अद्वैत' पदके श्रीशङ्कराचार्यको अभिमत अर्थको वेदान्त-सिद्धान्त समझनेका निषेध करते हुए उसके व्यावर्तनके लिए 'अद्वैत' पदके पहले 'शुद्ध' पदके निवेशका स्वारस्य बताते हुए गो० श्रीगिरिधर लिखते हैं[2],

'अत्रैव शाङ्कराः प्राहुर्मायिकं नश्वरं जगत्।
माया-सम्बन्धतो ब्रह्म कारणं नान्यथैव हि ॥' (शुद्धा० २२)।
'एतन्मते सुनिष्पन्नं साङ्क्यं कार्यकारणे।
तन्निवृत्त्यर्थमाचार्यैः पदं शुद्धं विशेषितम् ॥' (शुद्धा० २६)।

इस प्रकार गोस्वामी श्रीगिरिधर एवं श्रीरामकृष्ण भट्ट यह मानते प्रतीत होते हैं कि अपने प्रतिपाद्य दार्शनिक सिद्धान्तके अभिधानके रूपमें स्वयं श्रीवल्लभाचार्यने ही

---

१. तु०, "द्विधा इतं द्वीतम्। तस्य भावो द्वैतम्। तदुक्तं वार्तिके,
'द्विधेतं द्वीतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते' (बृ० वा० ४.३.१८६) इति। न विद्यते, द्वैतं=द्विधा-भावो, यत्र तदद्वैतम् इत्यक्षरार्थः।" (सिद्धान्त-बिन्दुः, पृ० १५०)।

२. एवम् 'अद्वैत'-पदार्थं निरूप्य शुद्ध-पद-व्यावर्त्यमाहुः। (शुद्धा० प्र० २२)।

बुद्धिपूर्वक 'शुद्धाद्वैत' पदका चयन किया था। उनके अनुसार अविद्यावच्छिन्न चैतन्यको कार्य एवं मायावच्छिन्न चैतन्यको कारण माननेसे शाङ्कर-मतमें कार्य एवं कारण के साङ्कर्यका जो दोष आ रहा था उसके निरासके लिए श्रीवल्लभाचार्यने 'अद्वैत' पदको विशेष्य मानकर उसके विशेषणके रूपमें 'शुद्ध' पदका सन्निवेश कर निर्दुष्ट शुद्धाद्वैत-वादकी प्रतिष्ठाकी है[1]। इसी दृष्टिकोणसे 'अद्वैत' पदके विशेषणके रूपमें प्रयुक्त इस 'शुद्ध' पदका निहितार्थ स्पष्ट करते हुए शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार कहते हैं,

'माया-सम्बन्ध-रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्य-कारण-रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥
इति ब्रह्मविदां हार्दं शुद्धाद्वैतं श्रुतेर्मतम्।' (शुद्धा० २८-२९)।

शुद्धाद्वैतके इस स्वाभिप्रेत निहितार्थको 'शुद्धाद्वैत' पदका एकसे अधिक प्रकारसे विग्रह करके समास-निर्देश-पूर्वक समझाते हुए गोस्वामी श्रीगिरिधर कहते हैं,

'शुद्धाद्वैत'-पदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः॥' (शुद्धा० २७)।

तात्पर्य यह है कि 'शुद्धाद्वैत' पदका विग्रह 'शुद्धं च तद् अद्वैतम्' इस प्रकार करके[2] कर्मधारय-समासके अनुसार इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि कार्य और कारण का अद्वैत शुद्ध अर्थात् साङ्कर्यादिदोष-शून्य एवं माया-सम्बन्ध-रहित है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए ग्रन्थकार 'शुद्धाद्वैत'-पदका विग्रह 'शुद्धयोः अद्वैतम्' अर्थात् 'शुद्ध जीव एवं शुद्ध ब्रह्म का, शुद्ध जड एवं शुद्ध ब्रह्म का, तथा शुद्ध कार्य एवं शुद्ध कारण का अद्वैत' इस प्रकार करके, 'शुद्ध' पदका अर्थ 'माया-सम्बन्ध-रहित' बताते हुए षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा 'शुद्धाद्वैत' पदकी व्याख्या करते हैं और उनके व्याख्याकार इसी प्रसङ्गमें यह स्पष्ट करते हैं कि अन्य कोई समास मानकर इस पदका अर्थ करनेपर यह पद ग्रन्थ-कारको अभिप्रेत सिद्धान्तका निर्दुष्ट रूपसे प्रतिपादक नहीं रह जायेगा[3]।

---

१. एतन्मते इति। शङ्कराचार्य-मते इत्यर्थः। अविद्यावच्छिन्नं चैतन्यं कार्यं माया-वच्छिन्नं चैतन्यं कारणम् इति साङ्कर्यम् इत्यर्थः। तन्निवृत्त्यर्थं=साङ्कर्य-निवृत्त्यर्थम्। 'अद्वैत'-पदे विशेष्ये विशेषणतया अन्वितम् इत्यर्थः। (शुद्धा० प्र० २६)।

२. 'कर्मधारयः' इति शुद्धं च तद् अद्वैतम् इति विग्रहः। न च, अद्वैते सति साङ्कर्या-भावः स्पष्ट एव इति 'शुद्ध'-पदम् अपार्थम् इति वाच्यम्। परेषां मते पूर्वं साङ्कर्यं, ततोऽद्वैतम्; अस्मन्मते तु सदैव शुद्धत्वम् इति ज्ञेयम्। (शुद्धा० प्र० २७)।

३. अत्र 'शुद्धे कारणे कार्यस्य अद्वैतम्' इति पक्षे कार्ये अशुद्धत्वम्। अयं दोषः 'शुद्धेन ब्रह्मणा अद्वैतम्' इति तृतीया-तत्पुरुषेऽपि। 'शुद्धाभ्याम् अद्वैतम्' इतिपक्षे तार्तीयः अपेक्षितः। 'शुद्धाभ्यां नामरूपाभ्याम्' इति-समासे कारणे अशुद्धत्वम्। एवं

अवधेय है कि गो० श्रीगिरिधरकी इस व्याख्याके अनुसार 'शुद्धाद्वैत' पदके घटक 'अद्वैत' पदसे श्रुति-विरुद्ध द्वैतका एवं 'शुद्ध' पदसे श्रुति विरुद्ध (श्रीशङ्कराचार्य-प्रतिपादित) अद्वैतका निषेध अभिप्रेत है। इसके अनुसार 'अद्वैत' पदसे सारे द्वैतवादोंकी व्यावृत्ति होती है और 'शुद्ध' पदसे मायावाद अर्थात् शाङ्कर अद्वैतकी।

* ३.१.४ * कुछ विचारकोंको शुद्धाद्वैत-दर्शनकी प्रकृतिके अनुरूप न होनेके कारण यह व्याख्या पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं कर पाती। इनमें अन्यतम श्रीमद्वल्लभाचार्य-वंशज एवं शुद्धाद्वैतके परिनिष्ठित पण्डित गोस्वामी श्रीश्याममनोहर हैं। उन्हें यह बात खटकती है कि इस व्याख्यासे ऐसा लगता है कि यदि श्रीशङ्कराचार्यका मायावाद न होता तो शायद वाल्लभ-वेदान्तको अद्वैतवाद कहना ही पर्याप्त होता और 'शुद्धाद्वैत' नामकी आवश्यकता ही न होती। यहाँ प्रतिपादित षष्ठी-तत्पुरुष समासके अनुरूप 'शुद्धाद्वैत' पदके 'शुद्धयोः अद्वैतं शुद्धाद्वैतम्' इस अर्थके सम्बन्धमें उनका कहना है कि ऐसा कहनेसे लगता है जैसे अशुद्धमें भी कुछ अद्वैत होगा, किन्तु वाल्लभ-वेदान्तके अनुसार अशुद्ध तो कुछ है ही नहीं और जब कोई अशुद्धि-कारक पदार्थ है ही नहीं तो 'शुद्धयोः अद्वैतम्' कहनेका क्या स्वारस्य है? गोस्वामी श्रीगिरिधरकी व्याख्याके अनुसार 'अद्वैत' पदसे जिस द्वैतका व्यावर्तन होता है उसमें प्रकृति, परमाणु आदि तो आते हैं किन्तु माया नहीं, मायाका व्यावर्तन 'शुद्ध' पदसे होता है। प्रश्न यह है कि वे 'अद्वैत' पदसे जिनका व्यावर्तन कर रहे हैं उनमें मायाको क्यों नहीं सम्मिलित करते? वे मायाकी व्यावृत्ति भी 'अद्वैत' पदसे ही क्यों नहीं स्वीकार करते? यदि 'अद्वैत' पदसे प्रकृतिकी व्यावृत्ति हो जाती है तो मायाकी क्यों नहीं होती? माया ब्रह्मात्मक है क्या? वस्तुतः इतर-व्यावृत्तिमें 'इतर'में मायाका समाहार न करनेमें कोई नियामक न होनेके कारण यह व्याख्या स्वीकार करनेपर, मायाका व्यावर्तन भी 'अद्वैत' पदसे ही हो जानेसे, 'शुद्ध' पद अपार्थक हो जाता है, अतः 'शुद्धाद्वैत' पदकी शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड-कार-कृत यह व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है।

* ३.१.५ * श्रीवल्लभाचार्य ब्रह्मवादका जो स्वरूप स्वीकार करते हैं उसके अनुसार जहाँ जगत्को उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश की व्याख्या ब्रह्म और केवल ब्रह्म से ही होती हो वह ब्रह्मवाद है[1]। उनकी शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादकी अवधारणा एक ऐसे अद्वैतके रूपमें है जो ब्रह्म (अर्थात् केवल ब्रह्म) से घटित हुआ हो और यह ब्रह्म प्रकृति,

---

'शुद्धस्य कार्यस्य' इति पक्षे कारणे अशुद्धत्वं प्राप्तम्। एवं 'शुद्धानां पदार्थानाम्' इति अत्रापि। (शुद्धा० प्र० २१)।

१. ' ··सृज्यते सृजति प्रभुः। त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्॥' (तत्त्वा० २.१८३–१८४)।

परमाणु, अदृष्ट, वासना एवं माया आदि ब्रह्मेतर सकल पदार्थोंसे रहित अर्थात् शुद्ध हो। गो० श्याममनोहर इस समग्र दार्शनिक सिद्धान्तके सार्थक अभिधानके रूपमें 'शुद्धाद्वैत' पदकी व्याख्या (गो० श्रीगिरिधरकी व्याख्यासे किञ्चिद् भिन्न सरणिका आश्रय लेकर) अधोलिखित प्रकारसे करते हैं।

'शुद्धाद्वैत' पदका घटक 'अद्वैत' पद, 'शुद्ध' पदका विशेष्य होनेके कारण अयोग-व्यवच्छेदक एवं भाववाचक है, तथा 'शुद्ध' पद इस 'अद्वैत' पदका विशेषण एवं अन्य-योग-व्यवच्छेदक है। यहाँ अयोगव्यवच्छेद या अभेदके अयोगकी व्यावृत्ति का तात्पर्य यह है कि जब जड, जीव एवं ब्रह्म सर्वथा भिन्न रूपमें प्रतीत होते हैं, इनमें अभेदका अयोग प्रतीत होता है, तो यह शङ्का होती है कि ये अभिन्न कैसे हो सकते हैं ? इस शङ्काकी निवृत्ति 'अद्वैत' पदसे होती है जो अभेदके अयोगकी व्यावृत्ति करता हुआ इनकी अभिन्नताका प्रतिपादन करता है। यह 'अद्वैत' पद ब्रह्मके ऐसे अद्वैतका बोध करानेमें ही पर्यवसित हो जाता है जिसे वाल्लभ-वेदान्तमें ऐच्छिक-द्वैत-सहिष्णु-स्वाभाविकाद्वैत एवं तादात्म्य भी कहा गया है। जिस प्रकार 'इस नगरमें राजा एक ही है' इत्यादि कथनसे राजाके एकत्वका बोध तो होता है किन्तु इससे उसके परिकरका, उसके मित्रों, मन्त्रियों एवं पुत्र-कलत्रादि के नगरमें होनेका व्यावर्तन नहीं होता, उसी प्रकार इस 'अद्वैत' पदसे प्रकृति, परमाणु आदिके व्यावर्तित न होनेके कारण अन्ययोग-व्यवच्छेदक, इतरयोग-व्यावर्तक 'शुद्ध' पदके सन्निवेशकी अपेक्षा होती है। इस 'शुद्ध' पदसे ब्रह्म-भिन्न माया, प्रकृति, कर्म, काल, अभाव, परमाणु, जीव आदि पदार्थ-कृत द्वैत, एवं केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, औपाधिकाद्वैत आदिका व्यावर्तन होता है। इस प्रकार 'शुद्धाद्वैत' पद 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६.२.१) का प्रतिपादन करता है। मूलतः 'शुद्धाद्वैत' का वही अर्थ है जो 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६.२.१) का है। 'शुद्ध' का अर्थ 'एकमेव' और 'अद्वैत' का अर्थ 'अद्वितीयम्' है। 'एकमेव' में जो एवकार है वह अन्य-योग-व्यवच्छेदक है क्योंकि वहाँ एक ही है, ब्रह्मेतर कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं जिससे प्रयुक्त भेद ब्रह्ममें आ सके। इस प्रकार यह एवकार इतर-व्यावर्तक है, और इससे माया, प्रकृति, परमाणु आदि सभीका व्यावर्तन हो जाता है। 'अद्वितीयम्' या 'अद्वैत' विशेष्य-पद है। विशेष्यको अन्य-योग-व्यवच्छेदककी अपेक्षा नहीं होती यह एक सामान्य नियम है। उदाहरणार्थ यदि 'दाशरथि' कहें तो अन्य-योग-व्यावर्तनकी अपेक्षा नहीं होती किन्तु यदि 'दाशरथि'के एकसे अधिक होनेका प्रसङ्ग हो तो 'कौसल्या-तनय' आदि विशेषणोंद्वारा अन्ययोग-व्यवच्छेदकी अपेक्षा होती है, जिससे 'सुमित्रातनय' आदिका व्यावर्तन हो सके। इसी प्रकार यहाँ 'अद्वैत' पदके विशेषणके रूपमें 'शुद्ध' पदका सन्निवेश कर केवलाद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत आदिका, तथा प्रकृति, परमाणु, माया आदि उन सभीका व्यावर्तन किया गया है जिनका उल्लेख श्रीवल्लभा-

चार्यने 'अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणु-जन्यः, नापि विवर्तात्मा, नापि अदृष्टद्वारा जातः, नापि असतः सत्तारूपः, किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्न-वस्तु-कृति-साध्यः। तादृशोऽपि भगवद्रूपः। अन्यथा असतः सत्ता स्यात्'''। वैदिकस्तु एतावानेव सिद्धान्तः।' (तत्त्वा० प्र० १.२३) इत्यादि कह कर किया है। 'शुद्धाद्वैत' पदकी इस व्याख्यासे इस पदकी श्रीवल्लभाचार्यके समग्र वेदान्त सिद्धान्तके अन्वर्थ अभिधानके रूपमें उपयुक्तता स्पष्ट होती है।

* ३.१.६ * इसी प्रकार वाल्लभ-वेदान्तिका एक अन्य अन्वर्थ अभिधान 'साकार-ब्रह्मवाद' है जिसका 'स्थापक[1]' विद्वन्मण्डनकार श्रीवल्लभाचार्यको बताते हैं। यहाँ भी 'साकार' विशेषण-पद है और 'ब्रह्मवाद' विशेष्य-पद। हम कह चुके हैं कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश की ब्रह्म और केवल ब्रह्म से ही व्याख्या करनेवाला सिद्धान्त ब्रह्मवाद कहा गया है। इस ब्रह्मके भी निराकार एवं साकार दो रूप सम्भव हैं। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश की व्याख्याके लिए केवल ब्रह्मका ही आश्रय लेकर अर्थात् ब्रह्मवाद स्वीकार करके भी ब्रह्मको निराकार माना जा सकता है। किन्तु ऐसी स्थितिमें ब्रह्मके निराकार होनेपर जगत्में उपलभ्यमान आकारको आगन्तुक, औपाधिक या मायिक मानना होगा और उसकी व्याख्या करनेके लिए किसी अन्य तत्त्वका अभ्युपगम करना होगा। इस अनिष्टप्रसङ्गकी व्यावृत्ति 'साकार' विशेषणसे की जाती है। इस प्रकार 'साकार-ब्रह्मवाद' का अर्थ यही है कि ब्रह्म साकार है और यह साकार ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। गो० श्रीविट्ठलनाथकृत सर्वोत्तमस्तोत्रके मङ्गलाचरणरूप,

'प्राकृत-धर्मानाश्रयमप्राकृत-निखिल-धर्मरूपमिति।
निगम-प्रतिपाद्यं यत्तच्छुद्धं साकृति स्तौमि॥'

इस पद्यमें इसी साकार ब्रह्मकी स्तुति की गयी है। अणुभाष्यके उपसंहारमें भी, ब्रह्मके साकार होनेका निरूपण करके, गो० श्रीविट्ठलनाथने कहा है,

'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः॥'

इस साकार-ब्रह्मवादके सम्बन्धमें यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि यदि ब्रह्म 'प्राकृतधर्मानाश्रय' (सर्वो० १) एवं 'निश्चेतनात्मक-शरीर-गुणैश्च हीनः।' (तत्त्वा० १.४४) अर्थात् जड शरीर तथा उसके धर्मों से रहित है, तो उसके साकार होनेका क्या अर्थ है? उसके साकार होनेकी प्रतीति कैसे होती है? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीवल्लभाचार्यने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध-प्रकाशमें कहा है कि 'आकार शब्दसे भगवान्के

---

१. साकार-ब्रह्मवादैक-स्थापकः। (सर्वो० ८)।

चतुर्भुजत्वादि आकारका निर्वचन अभिप्रेत है[1]।' "भगवान् 'आनन्दमात्र-कर-पाद-मुखोदरादिः' हैं अर्थात् उनके हस्त, पाद, मुख एवं उदर आदि सभी आनन्दमात्र, आनन्दैकस्वरूप या आनन्दमय हैं। उनका चतुर्भुजत्वादिरूप आकार आनन्दरूप ही है क्योंकि ब्रह्मवादमें आनन्दको ही आकार-समर्पक माना गया है। यह आनन्दमय साकार तत्त्व सर्वात्मक है और जड, जीव एवं अन्तर्यामी में भी अनुस्यूत है क्योंकि यह इनका कारण है। इस प्रकार इस साकार ब्रह्मकी कारणताका निरूपण किया गया[2]।" इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यने स्पष्ट शब्दोंमें साकार-ब्रह्मकी जगत्कारणताका प्रतिपादन किया है, अतः उनके अभिमत वेदान्तसिद्धान्तका 'साकार ब्रह्मवाद' अभिधान उपयुक्त ही है और इसी कारण गो० श्रीविट्ठलनाथने उन्हें 'साकार-ब्रह्मवादैक-स्थापकः' (सर्वो० ८) कहा है।

* ३.१.७ * वाल्लभ-सिद्धान्तके एक अन्य अभिधान 'अखण्ड-ब्रह्मवाद' के स्वरूपकी व्याख्या भी गो० श्रीपुरुषोत्तमके अनुसार तत्त्वार्थदीपनिबन्धके उपर्युक्त प्रकरणमें मिल जाती है। शास्त्रार्थप्रकरणकी अपनी आवरणभङ्ग-व्याख्यामें वे लिखते हैं कि 'श्रीवल्लभाचार्यके उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट है कि आकारका निरूपण करनेवाले सारे श्रुतिवाक्य विभिन्न प्रकारके आकारोंका निरूपण करते हुए भी पूर्वोल्लिखित भगवत्तत्त्वका ही निरूपण करते हैं और इस प्रकार उन सबमें एकवाक्यता है। इस प्रकारसे यहाँ अखण्ड-ब्रह्मवादके स्वरूपका निरूपण किया गया है। यह अखण्ड ब्रह्मवाद श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें (पचासीवें अध्यायमें) भगवान् श्रीकृष्ण एवं वसुदेव के संवादमें स्फुटतया निरूपित हुआ है[3]।' श्रीवल्लभाचार्यके तत्त्वार्थदीपनिबन्धकी,

'अखण्डाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथा।
ज्ञानाद्विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः॥' (तत्त्वा० १.९१)। इस कारिकाकी अपनी योजना-व्याख्यामें श्रीबालकृष्णभट्ट कहते हैं कि अद्वैतका निरूपण उपनिषदोंमें सखण्डा-

---

१. भगवदाकारश्चतुर्भुजत्वादिः आकार-शब्देन उच्यते। (तत्त्वा० शा० पृ० १००)।

२. तर्हि कथमाकार-प्रतीतिः? तत्राह, 'आनन्द-मात्र-कर-पाद-मुखोदरादिः' (तत्त्वा० १.४४) इति। आनन्दो ब्रह्मवादे आकार-समर्पकः। अत एव पुरुषेष्वपि सर्वान्तर आनन्दमयो निरूपितः। तद्वस्तु सर्वात्मकम्···जीव-जडान्तर्यामिषु सर्वत्रैव अनुस्यूतं कारणत्वाद्, इति तस्य कारणता च निरूपिता। (तत्त्वा० शा० पृ० १३९–१४०)।

३. तेन यावत्यः आकार-निरूपिकाः श्रुतयः ताः सर्वाः नाना-प्रकारकमाकारं निरूपयन्त्योऽपि एतादृशमेव प्रतिपादयन्ति इति एकवाक्यता इत्यर्थः। एतेन अखण्ड-ब्रह्मवाद-स्वरूपम् उक्तम्। इदं च दशमे भगवद्वसुदेव-संवादे स्फुटम्। (तत्त्वा० प्र० आ० १.४४)।

द्वैत एवं अखण्डाद्वैत इन दो रूपोंमें हुआ है। इस प्रकार वेदान्त-सिद्ध ब्रह्मवाद द्विविध है और श्रीवल्लभाचार्यने इस कारिकामें एवं इसकी प्रकाशव्याख्यामें[1] इस द्विविध ब्रह्मवादका निरूपण किया है। श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में अद्वैतके एक अन्य प्रकार 'आधिदैविकाद्वैत' का भी निरूपण मिलता है। वहाँ क्षर, अक्षर एवं पुरुषोत्तम के भेदसे ब्रह्मकी जिस त्रिरूपताका उल्लेख है उसका विवरण श्रीवल्लभाचार्यने अपनी 'सिद्धान्त-मुक्तावली' में गङ्गाका दृष्टान्त देकर किया है। इस प्रकार श्रीबालकृष्णभट्टके अनुसार श्रीवल्लभाचार्यने ब्रह्मवादके सखण्डाद्वैत, अखण्डाद्वैत एवं आधिदैविकाद्वैत ये तीन रूप माने हैं। सखण्डाद्वैतके मूल आधार 'बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६.२.३ तथा तै० २.६) आदि श्रुतिवाक्य हैं तथा अखण्डाद्वैतके मूल आधार 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (छा० ६.१.४) आदि श्रुतिवाक्य हैं। इनका विशेष विवरण हमने तत्त्वार्थ-दीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणकी अपनी 'स्नेहप्रपूरणो' व्याख्यामें (पृष्ठ ३०६-३१२ पर) किया है, अतः यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं कर रहे हैं।

* ३.१.८ * धार्मिक दृष्टिसे श्रीवल्लभाचार्य एवं गो० श्रीविट्ठलनाथ द्वारा प्रतिपादित मत 'पुष्टिमार्ग' के नामसे प्रसिद्ध है। इस मतका स्वरूप 'पुष्टि' अर्थात् भगवत्कर्तृक अनुग्रह—जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवतके 'पोषणं तदनुग्रहः' (भाग० २.१०.४) इत्यादि वाक्योंमें हुआ है—के मार्गका आश्रय ग्रहण करना है। 'पुष्टि' पदका प्रयोग एवं 'पुष्टि' के स्वरूपका निरूपण स्वयं श्रीवल्लभाचार्य एवं गो० श्रीविट्ठल-नाथ की कृतियोंमें[2] उपलब्ध होता है। श्रीवल्लभाचार्यने तो 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेदः' नामक एक लघुग्रन्थ – जो अपूर्ण ही मिलता है और जिसे वे सम्भवतः पूरा नहीं कर सके – भी लिखा है। इसके प्रारम्भमें पुष्टि, प्रवाह एवं मर्यादा का पृथक्-पृथक् विशद विवेचन कर उनमें परस्पर जो भेद है उसे स्पष्ट करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए वे कहते हैं,

'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादाः विशेषेण पृथक् पृथक्।

---

१. द्वेधा हि वेदान्तानां बोधन-प्रकारः। (तत्त्वा० प्र० १.९१)।

२. भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः॥ (पुष्टिप्र० २)।
कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते। (तत्त्वा० ३.५.२६)।
पुष्टि कायेन निश्चयः॥ (पुष्टिप्र० ९)। कायेन तु फलं पुष्टौ॥ पुष्टिप्र० १०)।
पुष्टया विमिश्राः सर्वज्ञाः। (पुष्टिप्र० १५)।
मर्यादा-पुष्टि-भेदेन वरणं द्विधोच्यते। तत्र सहकार्यन्तरविधिस्तु मर्यादापक्षेणोच्यते, पुष्टौ तु नान्यापेक्षा। (अ० ३.४.४६)।
वरणे चास्ति प्रकारद्वयं मर्यादा-पुष्टि-भेदेन। (भक्तिहं०, पृ० २८)।

....वक्ष्यामि सर्वसन्देहाः न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।' (पुष्टिप्र० १–२)।
स्वयं श्रीवल्लभाचार्यने इस स्वाभिप्रेत मार्गके लिए 'पुष्टिमार्ग' शब्दका प्रयोग अनेकशः किया है[1] और अपने ग्रन्थोंमें इसका स्वरूप स्पष्ट किया है। गो० श्रीविट्ठलनाथने न केवल पुष्टिमार्ग शब्दका अनेकशः प्रयोग किया है[2] अपितु पुष्टिमार्गके स्वरूपका विशद

---

१. प्रमाणभेदाद् भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः । (पुष्टिप्र० ८)।
'' तद्वत् पुष्टिमार्गे'' । (पुष्टि प्र० ७)।
तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ।। (पुष्टिप्र० १२)।
अनवद्येन चरित्रेण सर्वानेव पुष्टिमार्गस्थितान् भक्तान् यदूंश्च सुतरां रमयामास । (सुबो० ३.३.२८–२१)।
सेवा च पुष्टिमार्गे सस्नेहा, कृपाफलञ्चैतत् । (सुबो० १.५.२५)।
स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वम । (सुबो० १०.२१.५)।
एतेषां पुष्टिमार्गनिष्ठत्वान्न मर्यादाविरोधो दोषाय । (सुबो० २.७.४)।
जनकश्चोद्धवश्चैव सात्त्विको राजसस्तथा ।
पुष्टिमार्गस्य मुख्यत्वाद् विपरीता गतिर्गुणैः ।। (सुबो० ११.१.१)।
मर्यादामार्गेण, निषिद्धमार्गेण, पुष्टिमार्गेण, प्रवर्तकमार्गेण वा ये भगवदुपासकास्ते सर्वे भगवद्विचारेण समा एव । (सुबो० १०.८७.२३)।

२. गतेः=ज्ञानस्य, अर्थवत्त्वं=फलजनकत्वम्, उभयथा=मर्यादापुष्टिभेदेन इत्यर्थः ।...' ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिः मर्यादा, तद्रहितानामपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरुच्यते ।...अतएव पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादि-नैरपेक्ष्यं मर्यादायामङ्गीकृतस्य तदपेक्षित्वञ्च युक्तमेव इति भावः । (अ० ३.३.२९)।

साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा, विहितसाधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा ।...एवमेव, अनुपोष्य=व्रतमकृत्वा, अमृतत्वम् अपि पुष्टिमार्गे समानमित्यर्थः । अत्र उपोषण-पदमशेषमुक्तिसाधनोपलक्षकम् । (अ० ४.२.७)।

तदा=नित्यलीलान्तःपातलक्षण-पुष्टिमार्गीय-मुक्तिदशायां, मर्यादामार्गीयाया अपीतेः =मुक्तेः, संसारत्वाभावेऽपि पुरुषोत्तमभजनानन्दानुभवाभावात् संसार इत्येव पुष्टिमार्गे व्यपदेशो यतः क्रियतेऽतः तदभिसन्धाय तया रीत्या निरूपणम् । (अ० ४.२.८)।

ननु ' तादृशं चेत्पुष्टिमार्गीयतत्त्वं तदा मुक्तेः पुरुषार्थत्वबोधिकायाः श्रुतेः प्रतारकत्वमापततीति...आह, पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं सूक्ष्मं=दुर्ज्ञेयमित्यर्थः । (अ० ४.२.९)।
मर्यादामार्गात् पुष्टिमार्गोऽतिविलक्षणः । (टिप्प० १०.३.७, पृ० १३)।
द्र०, हमारे द्वारा अनूदित एवं व्याख्यात 'भक्तिहंस', पृष्ठ २८–२९, ४९–५८.

विवेचन करते हुए पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग के भेदको भी विस्तारसे स्पष्ट किया है। श्रीबालकृष्णभट्ट एवं गो० श्रीहरिराय की कृतियोंमें पुष्टि एवं पुष्टिमार्ग का सुव्यवस्थित एवं विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है[1] जिसका हमने 'प्रमेयरत्नार्णवः' की अपनी व्याख्यामें विस्तारसे विवेचन किया है। उसके पिष्टपेषणको यहाँ अनपेक्षित समझ कर हम उससे विरत होते हैं।

* ३.२.० * आजकल वाल्लभ-सम्प्रदायके अधिकांश अनुयायियोंमें शास्त्र-चर्चा दुर्दृश्य हो गयी है और उनके अनेक उपदेशक सरलमति वैष्णवोंको ज्ञानलाभके लिए किये जानेवाले प्रयत्नोंको दुःसाध्य एवं अनावश्यक बताकर भगवत्स्वरूप-सेवामें ही संलग्न रहनेकी सलाह देते देखे जाते हैं, जिससे कुछ लोगोंकी यह धारणा बन गयी है कि इस सम्प्रदायमें ज्ञान या शास्त्रों पर नहीं प्रत्युत श्रद्धा एवं भगवत्सेवा पर ही बल दिया गया है। अतएव कुछ विद्वान् भी इस भ्रमके शिकार हो गये लगते हैं कि 'श्रीशङ्कराचार्यने ज्ञान एवं तर्क का आश्रय लेकर उपनिषद्वाक्योंकी सहायतासे अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है किन्तु श्रीवल्लभाचार्य एवं गो० श्रीविट्ठलनाथ आदिने श्रद्धाभक्तिका आश्रय लेकर पुराणादिके श्रद्धाविजृम्भित एवं भक्तिभावित विवरणोंकी सहायतासे ही अपने मतका पोषण किया है, अतः आजके प्रबुद्ध विचारकोंको प्रभावित करनेकी क्षमता इन वैष्णव-सिद्धान्तोंमें नहीं है।' इस भ्रमके निरासका अमोघ उपाय तत्तत् सम्प्रदायोंकी विपुल ग्रन्थराशिका सम्यक् अध्ययन ही है। जहाँ तक वाल्लभ-सम्प्रदायके आचार्योंकी बात है श्रीवल्लभाचार्य शास्त्रोंका प्रमुख प्रयोजन सन्देहोंका निराकरण करना मानते हैं[2] और उन्होंने सन्देहनिराकरण-पूर्वक अपने अभीष्ट सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके उद्देश्यसे ही अपने विभिन्न ग्रन्थोंकी रचना की है[3]। उनके अनुसार सर्वमुक्त्यर्थ अवतीर्ण भगवान् भी शास्त्रद्वारा ही मुक्ति प्रदान करते हैं[4]। उनकी दृष्टिमें भगव-

---

१. द्र०, हमारे द्वारा व्याख्यात 'प्रमेयरत्नार्णवः', पृ० ७४-१४३, १५६-२१०; तथा श्रीहरिराय-वाङ्मुक्तावली, भाग १, पृष्ठ १-१३९, १४८-१५७, १७०-१७७ आदि।

२. सन्देह-वारकं शास्त्रम्। (अ० १.१.१ श्लोक ३)।

३. एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।
एतद् बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्॥ (सि० मु० २१)।
वक्ष्यामि सर्वसन्देहाः न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः। (पुष्टिप्र० २)।

४. कल्पेऽस्मिन् सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णस्तु सर्वतः।
सर्वतत्त्वं सर्वगूढं प्रसङ्गादाह पाण्डवे॥ (तत्त्वा० २.५९)।
अर्जुनार्थं प्रसङ्गाद् गीतामाह, अतो ज्ञायते शास्त्रद्वारैव मोचकः इति। (तत्त्वा० प्र० २.५९)।

सेवाकी सच्ची योग्यता उन्हींमें है जो ब्रह्मविद्या-विशारद हैं[1]। भगवत्सेवाके रसका पूर्ण स्वाद ज्ञानपूर्वक पान करने पर ही मिल पाता है[2]। इसीलिए वे शास्त्रोंको हृदयङ्गम करके, ब्रह्मवादका अनुसरण करते हुए कृष्णनिष्ठा अर्जित कर मन, वाणी एवं शरीर से कृष्णसेवा करनेको प्रेरित करते हैं[3]।

* ३.१.१ * श्रीवल्लभाचार्य जब अपने दार्शनिक-धार्मिक चिन्तनको ब्रह्मवाद कहते हैं तो ब्रह्मवादसे उनका तात्पर्य ब्रह्मका निरूपण करनेवाले वीतराग तत्त्वजिज्ञासु द्वारा सुव्यवस्थित प्रकारसे किये जाने वाले विचारसे है[4]। उनका एकमात्र प्रतिपाद्य ब्रह्म है। इस प्रकार शुद्धाद्वैतमें प्रमेय केवल एक ही है। इसी एक प्रमेयका बुद्धिसौकर्यकी दृष्टिसे विभिन्न रूपोंमें निरूपण किया गया है[5]। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार इसे ही यज्ञ, ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् आदि शब्दोंसे अभिहित किया गया है[6]।

---

१. शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः।
भगवत्सेवने योग्या नान्य इत्यर्थतः फलम्॥ (सुबो० १.१.३)।
ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु। (सि० मु० १७)।

२. ज्ञात्वा पाने महान् रसः। (सुबो० १०.२१.५)।

३. शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्य इत्यर्थः (तत्त्वा० प्र० १.४)।
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्। (सि० मु० १२)।

४. द्र० 'ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुवयो यत्र शेरते।' (भाग० १०.८७.१०)।
'ब्रह्मनिरूपणार्थं वादो वीतरागा कथा यत्र तादृशो विचारः सम्यङ् निष्पन्न इत्यर्थः।' (सुबो० १०.८७.१०)।
'वीतरागा कथा इति। तत्त्वबुभुत्सोः कथा वाद इत्युक्तेः।' (उपर्युक्त पर श्रीवल्लभकृतलेख)।

५. प्रमेयं हरिरेवैकः सगुणो निर्गुणश्च सः।
गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयश्च सः॥ (तत्त्वा० २.८४)।
बुद्धिसौकर्यसिद्धयर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते।
कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः॥ (तत्त्वा० २.८५)।
हरिरेव प्रमेयं सर्वभावापन्नमिति।...क्रिया उत्पत्त्यादयश्च स हरिरेव।...यथा बुद्धिः सर्वं प्रमेयजातं क्रोडीकरोति तदर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते। (तत्त्वा० प्र० २.८४–८५)।

६. यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे।
अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्यते॥ (तत्त्वा० १.११)।
'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः' इति श्रुतेः ज्ञान-क्रियोभय-युतः सर्वेषामर्थः। तत्र क्रियायां प्रविष्टः क्रियारूपो यज्ञात्मा पूर्वकाण्डार्थः। ज्ञाने प्रविष्टो ज्ञानात्मा ब्रह्मरूप उत्तर-

वेदके पूर्वकाण्ड अर्थात् कर्मकाण्ड में क्रियामें प्रविष्ट, क्रियारूप अर्थात् यज्ञरूप या यज्ञात्मा, हरिका निरूपण है; तथा उत्तरकाण्ड अर्थात् ज्ञानकाण्ड में ज्ञानमें प्रविष्ट, ज्ञानात्मा, साकारब्रह्मरूप हरिका निरूपण है; और श्रीमद्भागवतमें क्रिया एवं ज्ञान दोनोंको प्रकट कर अवतीर्ण हुए विशिष्ट-स्वरूपवाले अवतारी हरि श्रीकृष्णका निरूपण किया गया है। अन्य पुराणोंमें भी तत्तद्रूप हरिका ही निरूपण है[1]। अन्य सभी कुछ, अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रमेयके रूपमें प्रतिपादित प्रत्येक पदार्थ, ब्रह्मगत ही है[2]; और इसी एक प्रमेयका निरूपण सारे शास्त्रोंका मुख्य प्रतिपाद्य है, 'आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते।' यह केवल प्रमेय ही नहीं प्रमाण[3], फल एवं उसकी प्राप्तिका साधन सभी कुछ स्वयं ही है[4]।

काण्डार्थः। तनुशब्दः साकार-ब्रह्म-प्रतिपादनाय। परे=उत्तरस्मिन् काण्डे। क्रिया ज्ञानं च द्वयं प्रकटीकृत्य योऽवतीर्णः कृष्णः सः श्रीभागवते विशिष्टो निरूप्यते। (तत्त्वा० प्र० १.११)।

वेदान्ते च स्मृतो ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ (तत्त्वा० १.६)।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते। (भाग० १.२.११)।
अयमेव भगवान् शास्त्रान्तरे नामान्तरेण व्यपदिश्यते इति सर्वसमन्वयार्थं नामान्तरमाह। परं ब्रह्म इति वेदे, परमात्मा इति स्मृतौ। शब्द्यत एव। शब्दमात्रं भिद्यते। अर्थः तु एक एव। (सुबो० २.१०.७)।

१. पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिस्तथा। (तत्त्वा० १.१२)।
द्रष्टव्य, तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणकी स्नेहप्रपूरणीव्याख्या, पृ० ३८–४२.

२. वेदो हि ब्रह्मगतमेव सर्वमाह, लोकः परं भ्राम्यति। (सुबो० १०.८७.३६ पृ० ११३)।

३. यतोऽभवद् विश्वमिदं विचित्रं संस्थाप्यते यत्र च वावतिष्ठते।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं परं प्रमाणं भगवाननन्तः॥ (भाग० ३.२२.२०)।
भगवानेव प्रमाणम्।
'सर्वथाऽऽदरणीयो यः स प्रमाणमिहोच्यते। तत्सम्बन्धात्कृतिस्तस्य प्रमाणं वाक्यमेव च॥'
वेदानां प्रामाण्यं भगवद्वाक्यत्वात्।···वेदात् स्वतन्त्रादपि भगवान् महान्। (सुबो० ३.२२.२०)।
प्रमाणं च त्रिविधं श्रुति-स्मृति-पुराणाख्यम्···। तत्त्रितयरूपोऽपि भगवानेव। (सुबो० २.४.९)।

४. भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादि-चतुष्टयम्। (सुबो० १०.२.३८)।
साधनं च फलं चैव हरिर्वेदे निरूप्यते। (तत्त्वा० २.१७)।

* ३.२.२ * इस प्रकारके इस अलौकिक प्रमेयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए लौकिक प्रत्यक्ष एवं युक्तियों को प्रमाण मानकर चलना अकिञ्चित्कर ही सिद्ध होगा। इसे तो तप, वैदिक युक्तियों और स्वयं इस प्रमेयरूप परमात्माके प्रसाद से ही जाना जा सकता है[1]। इसीलिए स्वाभिमत ब्रह्मवादकी प्रमाणमीमांसाकी चर्चाके प्रारम्भमें ही श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि शब्द ही एकमात्र प्रमाण है, 'शब्द एव प्रमाणम्' (तत्त्वा० प्र० १.७)। अपने पूर्ववर्ती वेदान्त-विचारकोंकी ही भांति 'साकार-ब्रह्म-वादैक स्थापक' श्रीवल्लभाचार्य भी सन्दिग्ध वेदान्तवाक्योंके अर्थका निर्णय कर, उन्हें हृदयङ्गम कर, उनके प्रतिपाद्य प्रमेयका निरूपण करनेमें ही प्रवृत्त हुए हैं, अतएव उनके लिए कई बातोंमें अपने पूर्ववर्ती वेदान्तविचारकोंका अनुसरण करना स्वाभाविक है। स्वयं ब्रह्मसूत्रकार व्यास – जिन्हें श्रीवल्लभाचार्य सारे वेदान्तविचारकोंका गुरु कहते हैं[2] – ने अपने सूत्रोंमें वेद-प्रामाण्यका विचार नहीं किया है, प्रत्युत वेदकी प्रामाणिकताको सिद्धवत् मानकर उसके आधारपर वेद-प्रतिपाद्य ब्रह्मका विचार किया है। श्रीशङ्कराचार्य उन्हींका अनुसरण करते हुए कहते हैं, 'आम्नातस्यार्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामः, नाम्नातं पर्यनुयोक्तुम्।' (ब्र० भा० १.४.३)। इसीलिए श्रीवल्लभाचार्य भी कहते हैं कि जिस सन्दर्भमें वे साकार-ब्रह्मवादका उपस्थापन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं उसमें वेदकी प्रामाणिकता सभी वेदान्त-विचारक ब्रह्मवादियोंको मान्य है अतः ब्रह्म-सूत्रकार एवं श्रीशङ्कराचार्य आदिकी ही भांति वे भी वेदप्रामाण्यको सिद्ध मानकर चल रहे हैं और उसको विचार या विवेचन का विषय नहीं बना रहे हैं, 'वेदप्रामाण्यं तु प्रतितन्त्रसिद्धत्वान्न विचार्यते[3]।' (अ० १.१.१)।

उनके अनुसार ब्रह्म औपनिषद पुरुष होनेके कारण केवल उपनिषद्वेद्य है और उसके स्वरूपका विचार उपनिषदादि शास्त्रोंके आधार पर ही किया जाना चाहिए, (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि) शास्त्रान्तरोंके आधार पर या स्वतन्त्रतया नहीं, क्योंकि यदि हम शास्त्रान्तरोंके या स्वतन्त्र विचारके आधारपर किसी निष्कर्ष

---

१. अलौकिकं तत्प्रमेयं न युक्त्या प्रतिपद्यते ॥
तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात्परमात्मनः। (तत्त्वा० १.६२–६३)।
लौकिकं हि लोकयुक्त्या अवगम्यते। ब्रह्म तु वैदिकम्।·· तपः पूर्वाङ्गम्, वेदयुक्तिः सहकारिणी, भगवत्प्रसादो मुख्यं कारणम्। (तत्त्वा० प्र० १.६२–६३)।
द्र०, अ० १.१.१ श्लोक २ तथा तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी व्याख्या पृ० २००-२०४.

२. व्यासोऽस्माकं गुरुः। (तत्त्वा० प्र० १.८३)। द्र०, तत्त्वा० प्र० आ० १.८३.

३. न हि नास्तिक-निग्रहाय आचार्यस्य विचारे प्रवृत्तिः, किन्तु आस्तिक-शिक्षणाय। ते तु सर्वे वेदप्रामाण्ये निर्विचिकित्सा इति प्रयोजनाभावान्न विचार्यते। (अ० प्र० १.१.१)।

पर पहुँचेंगे तो वह ज्ञान अपने आपमें एक स्वतन्त्र विचार ही कहा जा सकेगा, वेदान्त-सिद्धान्त या ब्रह्मज्ञान नहीं। अतः वेदार्थरूप ब्रह्मका विचार वेदानुकूल ही होना चाहिए। इसीलिए ब्रह्मवादमें उपनिषदादि रूप शब्दको ही प्रमाण माना जाता है[1]।

● ३.२.३ ● इस शब्दप्रमाणका स्वरूप ब्रह्मवादकी परम्परामें बहुत कुछ एक सा ही माना गया है। उपनिषदोंके 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि निश्वसितानि।' (बृ० २.४.१०) एवं 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणम्...।' (छा० ७.१.२) इत्यादि वाक्य इस शब्दप्रमाणके स्वरूपके निरूपक माने जा सकते हैं। ब्रह्मसूत्रकारने इसमें स्मृतियोंका भी समाहार कर लिया है। ब्रह्मवादी विचारक उत्प्रेक्षावादी नहीं प्रत्युत व्याख्यावादी, साम्प्रदायिक (अर्थात् परम्परा-प्राप्त उपदेशके व्याख्याता)[2] एवं प्रामाणिक (अर्थात् शब्दप्रमाणानुसारी चिन्तन करने-

---

१. 'त त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३.९.२६) इति केवलोपनिषद्वेद्यं ब्रह्म, न शास्त्रान्तर-वेद्यम्। तद्यदि मीमांसा स्वतन्त्रा स्यात् तज्जनितं ज्ञानं न ब्रह्मज्ञानं भवेत्।... वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूल-विचार इति। (अ० १.१.१)।
तस्मात्प्रमाणमेवानुसर्तव्यं, न युक्तिः।...युक्तिगम्या तु अब्रह्मविद्या। (अ० १.२.२३)।
न हि ब्रह्मवादः श्रुतिव्यतिरिक्ते सिद्धोऽस्ति। (अ० १.३.३)।
अलौकिकेषु धर्मेषु प्रमाणमेवानुसर्तव्यम्, न तु लौकिकी युक्तिः। (तत्त्वा० प्र० १.४१)।
तु०, 'न लोकवदिह भवितव्यम्। न ह्ययमनुमानगम्योऽर्थः। शब्दगम्यत्वात्त्वस्यार्थस्य यथाशब्दमिह भवितव्यम्।' (ब्र० शा० १.४.२७)।
'यत्तूक्तं परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयुः इति, तदपि मनोरथ-मात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम्। आगममात्र-समधिगम्य एव त्वयमर्थः धर्मवत्।' (ब्र० शा० २.१.६)।
'न हीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यम्... आगममन्तरेण उत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्। रूपाद्य-भावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनामिति चावोचाम। (ब्र० शा० २.१.११)।
न चास्मिन्नागमैकसमधिगमनीये ब्रह्मणि प्रमाणान्तरस्यावकाशोऽस्ति। (ब्र० शा० भामती २ १.६)।

२. ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्या-सम्प्रदाय-कर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः। (बृ० शा० १.१ १)। द्र०, ऊपर पृष्ठ ३६ टिप्पणी २.
असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवद् एव उपेक्षणीयः। (गीता शा० १३.२)।
ब्रह्म चैवम् आचार्योपदेश-परम्परया एव अधिगन्तव्यम्। (के० शा० १.३)।

वाले) दार्शनिक हैं। अत एव उनकी परम्परामें शब्दप्रमाणके रूपमें गृहीत ग्रन्थोंकी संख्याके साथ ही उन ग्रन्थोंकी व्याख्या कर उनके प्रतिपाद्य सिद्धान्तोंका समन्वय करने अर्थात् उनकी एकार्थता प्रतिपादित करने का दायित्व उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहा है। अत एव भाष्यकारोंके लिए शब्दप्रमाणरूप उक्त ग्रन्थोंमें ब्रह्मसूत्र भी जुड़ जाता है। श्रीशङ्कराचार्यके, 'महतः ऋग्वेदादे शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य, योनिः=कारणं ब्रह्म' (ब्र० शा० १.१.३) एवं 'यथोक्तम् ऋग्वेदादिशास्त्रं, योनिः=कारणं=प्रमाणम्, अस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे' (ब्र० शा० १.१.३) इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट है कि वे ब्रह्मज्ञानमें न केवल प्रस्थानत्रयीके रूपमें प्रसिद्ध उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता का ही अपि तु सम्प्रदाय-परम्परा-प्राप्त सभी शास्त्रोंका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। उन्होंने 'तथा चाहुः पौराणिकाः' (ब्र० शा० २.१.२७) कह कर[1]

'अचिन्त्या खलु ये भावाः न तांस्तर्केण याजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥' (मत्स्यपु० ११२.६)। यह श्लोक उद्धृत करके पुराणोंकी प्रामाणिकता भी स्वीकार की ही है। श्रीशङ्कराचार्यके उपर्युक्त वाक्यका अद्वैती व्याख्याकारोंने जो अर्थ किया है[2] उससे भी यही सूचित होता है कि भाष्यकार,

'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥' में कही गयी परम्पराके पोषक थे। अद्वैतवेदान्तके परवर्ती पण्डितोंने वेदार्थकी पुराणों द्वारा रक्षा एवं व्याख्या करनेकी परम्पराको आगे बढ़ाया है। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामीका नाम तो उल्लेखनीय है ही, उनसे भी पहले श्रीमद्भागवतके प्राचीनतम दो व्याख्याकार चित्सुख एवं पुण्यारण्य—जिनकी श्रीमद्भागवत-व्याख्याका उल्लेख जीव-गोस्वामीने अपनी कृतियोंमें किया है—भी इसी परम्पराके अनुगामी थे। इनमेंसे

---

१. यद्यपि अन्यत्र (ब्र० शा० २.१.६) वे कहते हैं, 'स्मृतिरपि भवति, 'अचिन्त्या खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेद्' इति। इस विषयमें अवधेय है कि यह श्लोक महाभारत (६.५.१२) में भी मिलता है।

२. अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य,
'पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्ग-मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥'
इति याज्ञवल्क्य-वचन-सिद्ध-विद्यास्थानोपबृंहितस्य इत्यर्थः। (प्रदीप १.१.३)।
पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राणि चत्वारि, शिक्षा-कल्पौ, निरुक्तं, व्याकरणं, छन्दो, ज्यौतिषम् इति षडङ्गानि, चत्वारो वेदा इति चतुर्दश विद्यास्थानानि। (तत्त्वदीपनम्, १.१.३)। द्र०, ब्र० शा० भामती १.१.३.

पुण्यारण्यकी व्याख्याका श्रीमध्वाचार्यने अपने भागवत-तात्पर्य-निर्णयमें खण्डन किया है[1]। भागवतविषयक ग्रन्थ एवं भागवतकी व्याख्या लिखनेवाले विभिन्न विद्वानों एवं उनकी कृतियों से सुपरिचित जीवगोस्वामीने उनका उल्लेख[2] करनेके साथ ही अनेकशः (उदाहरणार्थं, भाग० ४.४.१३;४.७.३७ एवं ४.२०.१३ की अपनी क्रम-सन्दर्भ-व्याख्यामें) 'इति चित्सुखः' कह कर प्रसिद्ध अद्वैती चित्सुखाचार्यका स्वतन्त्रतया तथा यदा-कदा 'अत्र चित्सुख-पुण्यारण्यौ' इत्यादि कह कर पुण्यारण्यके साथ भागवत-व्याख्याकारके रूपमें उल्लेख किया है[3]।

* ३ २.४ • श्रीमध्वाचार्यने उपनिषदोंके उपर्युक्त वाक्योंसे मिलते-जुलते कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत किये हैं जिनके अनुसार पञ्चरात्र-संहिताएँ एवं ब्रह्मसूत्र भी 'महतो भूतस्य निःश्वसितम्' की कोटिमें आ जाते हैं[4]। श्रीमध्वाचार्य 'विष्णुकी सर्वोत्तमताके साधक शास्त्र' को ही सच्छास्त्र, सदागम एवं शब्द प्रमाण मानते हैं और तदितर शास्त्रोंको दुःशास्त्र एवं अप्रमाण[5]। आगम ही एकमात्र उत्तमोत्तम प्रमाण

---

१. द्र०, हि० द्वै०, पृ० ७३, १२८.

२. यस्यैव श्रीमद्भागवतस्य · श्रीहनुमद्भाष्य-वासनाभाष्य-सम्बन्धोक्ति-विद्वत्कामधेनु-तत्त्व-दीपिका-भावार्थदीपिका-परमहंसप्रिया-शुकहृदयादयो व्याख्याग्रन्थाः तथा मुक्ताफल-हरिलीला-भक्तिरत्नावल्यादयो निबन्धाश्च विविधा एव तत्तन्मत-प्रसिद्ध-महानुभाव-कृता विराजन्ते। भाग० क्रमसन्दर्भ १.१.१)।

३. द्र०, हि० द्वै०, पृ० ७३–७४, १२८–१२९.

४. 'सर्वं विष्णौ स्थितं विष्णोर्जातं विष्णोर्वशे सदा।···
तस्माद् वेदाः समुत्पन्नाः विद्याख्या मूलिका श्रुतिः।
सर्वोपनिषदश्चैव पञ्चरात्राख्य-संहिताः॥
ब्रह्मसूत्राणि वेदानां व्याख्यास्तासां च विस्तरः।
सर्वमेतज्जगच्चैव निस्सृतं तुरगाननात्॥···' इति हयग्रीव संहितायाम्।
(सर्वमू०, बृ० भा० ४.४, पृ० २९४)।

५. 'विष्णोः सर्वोत्तमत्वस्य ज्ञानार्थं शास्त्रमिष्यते।
अतस्तत्साधकं शास्त्रं दुःशास्त्रं तद्विरोधि यत्॥' इति ब्रह्माण्डे। (सर्वमू०, बृ० भा० ३.५, पृ० २६८)।
'विष्णोः सर्वोत्तमत्वं च तद्भक्त्या मोक्ष एव च।
शास्त्रार्थं इति निर्दिष्टः सर्वशास्त्रार्थ-निर्णयात्॥' इति पाद्मे। (वहीं)।
उक्तं च भविष्यत्पर्वणि,
'···प्रामाण्यं स्वीकृतं यैस्तु वेदानामागमा हि ते।····
सर्वाधिक्यं यत्र विष्णोस्तात्पर्यात्समुदीर्यते।' (वही, पृ० २६८-२६९)।

है[१] अतः तत्त्वनिर्णय आगमसे ही किया जाना चाहिए[२]। इस आगमके पद्मपुराणोक्त स्वरूपका उल्लेख उन्होंने,

'ऋग्यजुःसामाथर्वाश्च इतिहास-पुराणकौ।
स्वागमा इति सम्प्रोक्ता मीमांसा धर्म एव च॥' इति पाद्मे। (सर्वमू० बृ० भा० ३.५, पृ० २६८) इत्यादि कह कर किया है। इस सन्दर्भमें व्यासस्मृतिकी सरणिका अनुसरण करते हुए[३] उन्होंने चारों संहिताओं, पञ्चरात्र, महाभारत, मूलरामायण एवं ब्रह्मसूत्र को मूल प्रमाण—जो स्वतः प्रमाण हैं—स्वीकार किया है और ऐसे अन्य ग्रन्थोंको भी जो इनके विरोधी अर्थका प्रतिपादन नहीं करते एव जिनमें विष्णुकी ही सर्वातिशायिताका निरूपण हुआ है प्रमाण माना है। उनकी दृष्टिमें किसी शास्त्रकी ग्राह्यताका मुख्य निकष इसमें विष्णुकी सर्वातिशायिताकी स्वीकृति होना है। उनका आग्रह है कि विष्ण्वाधिक्य-विरोधी वेदवाक्योंकी व्याख्या भी विष्ण्वाधिक्यानुकूल अर्थके निरूपकके रूपमें करनी चाहिए[४]।

---

१. 'तस्मादागम एवैको मानानामुत्तमोत्तमः।
धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां साक्षादेव प्रदायकः॥' इति वायुप्रोक्तवचनात्।
(सर्वमू०, बृ० भा० ३.५, पृ० २६८)।

२. 'निर्णयस्त्वागमेनैव नानुमाऽऽगमवर्जिता।
क्वचिन्निर्णीतिहेतुः स्यादतः शास्त्राद् विनिर्णयः॥' इति भारते।
(सर्वमू०, बृ० भा० ३.५, पृ० २६८)।

३. 'वेदाश्चैवेतिहासाश्च पुराणं भागवतं तथा (?)।
मूलप्रमाणमुद्दिष्टं मीमांसा च तथोत्तरा॥
एतेषामविरोधे तु मानमन्यदुदीरितम्।
एतेषां तु विरुद्धं यदप्रमाणं विदो विदुः॥' इति व्यासस्मृतौ।
(सर्वमू० बृ० भा० ३.५, पृ० २६८)।

४. 'ऋगादयश्च चत्वारः पञ्चरात्रं च भारतम्। मूलरामायणं ब्रह्मसूत्रं मानं स्वतः स्मृतम्॥
अविरुद्धं तु यत्तस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा। एतद्विरुद्धं यत्तु स्यान्न तन्मानं कथञ्चन॥
वैष्णवानि पुराणानि पञ्चरात्रात्मकत्वतः। प्रमाणान्येव मन्वाद्याः स्मृतयोऽप्यनुकूलतः॥
एतेषु विष्णोराधिक्यमुच्यतेऽन्यस्य न क्वचित्। अतस्तदेव मन्तव्यं नान्यथा तु कथञ्चन॥
मोहार्थान्यन्यशास्त्राणि कृतान्येवाज्ञया हरेः। अतस्तेषूक्तमग्राह्यमसुराणां तमोगतेः॥
यस्मात्कृतानि तानीह विष्णुनोक्तैः शिवादिभिः।
एषां यन्न विरोधि स्यात् तत्रोक्तं तन्न वार्यते॥

* ३.२.५ * श्रीवल्लभाचार्य पर श्रीमध्वाचार्यकी प्रमाणसम्बन्धी अवधारणाका प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने इस सन्दर्भमें श्रीमध्वाचार्य द्वारा उद्धृत एवं प्रणीत वाक्योंका सन्निवेश अपनी कृतियोंमें किया है। स्वाभीष्ट शब्दप्रमाणका स्वरूप बताते हुए वे श्रीमध्वाचार्यके मूल एवं तदनुसारी प्रमाणके भेदका अनुसरण करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण वेद, श्रीमद्भगवद्गीता, व्याससूत्र एवं व्यासकी समाधिभाषा (अर्थात् श्रीमद्भागवत) मूल प्रमाण हैं और जो आर्ष या अनार्ष वाक्य या ग्रन्थ इन चारों मूल प्रमाणोंके अविरोधी हैं वे भी प्रमाण हैं किन्तु जो इन चारोंके विरोधी हैं वे कथमपि प्रमाण नहीं माने जा सकते[1]। अपने इस कथन की व्याख्या करते हुए वे स्वयं कहते हैं कि शब्द ही एकमात्र प्रमाण है। और शब्दमें भी केवल अलौकिक अर्थके ज्ञापक वेदादिरूप शब्द ही प्रमाण हैं। ये शब्द स्वतःसिद्ध प्रमाण हैं अर्थात् इनकी प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध, निरपेक्ष एवं नित्य है[2]। इन शब्दोंकी प्रामाणिकता शब्द होने मात्रसे नहीं अपि तु अलौकिक अर्थके ज्ञापक शब्द होनेके कारण है[3]। इसीलिए श्रीवल्लभाचार्य इसमें श्रीमद्भागवतके केवल उतने ही अंशका समाहार करते हैं जो व्यासकी 'समाधिभाषा' है[4]; और गीतामें केवल भगवद्वाक्योंको ही शास्त्र मानते हैं[5]। श्रीवल्लभाचार्यने यहाँ एक

विष्ण्वाधिक्य-विरोधीनि यानि वेदवचांस्यपि ।
तानि योज्यान्यानुकूल्याद् विष्ण्वाधिक्यस्य सर्वशः ॥'
(सर्वमू०, म० ता० नि० १.३०-३६, पृ० ३-४)।

१. वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्यास-सूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥
···अविरुद्धं तु यत्तस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा ।
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन ॥ (तत्त्वा० १.७-८)।

२. शब्द एव प्रमाणम् । तत्रापि अलौकिक-ज्ञापकमेव । तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं प्रमाणम् । (तत्त्वा० प्र० १.७)।
तु०, 'वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये ।' (ब्र० शा० २.१.१)।

३. तु०, 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥'

४. व्यासस्य समाधिभाषा=भागवतम् । तत्रापि यन्न लौकिकरीत्या वदति, यथा 'अथोषस्युपवृत्तायाम्' (भाग० १०.७०.१) इत्यादि । नापि परमतरीत्या, 'श्रुतं द्वैपायनमुखात्' (भाग० ६.१४.९) इत्यादि । यावत् समाधौ स्वयमनुभूय निरूपितं सा समाधिभाषा । (तत्त्वा० प्र० १.७)। द्र०, तत्त्वा० शा० पृ० २८.

५. देवकीपुत्रेण गीतं गीता । गीतायां भगवद्वाक्यान्येव शास्त्रम् इत्यर्थः । (तत्त्वा०प्र० १.४)।

बहुत महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि उपर्युक्त चारों (स्वतन्त्रतया प्रमाण नहीं हैं अपितु) एकवाक्यतापन्न होने अर्थात् एकार्थबोधक होने पर प्रामाणिक ज्ञानको जन्म देते हैं[1]।

पहले केवल श्रुति ही प्रमाण थी। कालान्तरमें स्मृतियों, सन्देहनिवारक ब्रह्मसूत्रादि शास्त्रों एवं श्रुतिप्रतिपाद्य प्रमेयके निरूपक श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों की प्रतिष्ठा हो जाने पर उनके साथ श्रुत्यर्थका समन्वय आवश्यक हो गया। इस समन्वयकी सिद्धि उनकी एकार्थ-बोधकता दिखाने पर ही होती है। अत एव श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि उक्त चारों एकवाक्य-समन्वित होकर ही प्रमाण बनते हैं। श्रीमध्वाचार्यकी ही भाँति श्रीवल्लभाचार्य भी ब्रह्मसूत्रोंको सन्देहनिवारक शास्त्र ही मानते हैं (यह हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं)। वे श्रीमद्भागवतको गीतोक्त अर्थका विस्तारसे प्रतिपादक ग्रन्थ (तद्-विस्तारो भागवतम्) मानते हैं[2]। उन्हें इस बातका भी अहसास है कि श्रुति एवं ब्रह्मसूत्र एक परम्पराके ग्रन्थ हैं तथा गीता एवं भागवत दूसरी परम्पराके[3]। इन दोनों परम्पराओंमें समन्वय स्थापित करनेकी दृष्टिसे वे कहते हैं कि वेदार्थका निर्णय भी गीतोक्त प्रकारसे ही करना चाहिए[4]। उन्होंने वैदिक एवं वैष्णव परम्पराओंके सिद्धान्तों-को विविक्त रूपमें हृदयङ्गम कर उन्हें समन्वित रूपमें उपस्थापित किया है और इसका उन्हें अवबोध एवं अहसास भी है यह उनकी ऐसी उक्तियोंसे स्पष्टतया सूचित होता है जिनमें उन्होंने कहा है कि 'वैदिक सिद्धान्त तो बस इतना ही है, अब इसके बाद वैष्णव-सिद्धान्तके अनुसार हम कुछ अधिक साधन बता रहे हैं[5]।' इस समन्वयकी दृष्टिसे ही वे यह कहते हैं कि उपर्युक्त चारों एकवाक्यतापन्न होकर सन्देहनिराकरणपूर्वक प्रमोत्पत्ति करते हैं। उन्होंने इनमेंसे उत्तरोत्तरवर्तीको पूर्वपूर्ववर्तीका सन्देहवारक बताया है[6]।

* ३.२.६ * श्रीवल्लभाचार्यकी दृष्टिमें मूल शास्त्र तो भगवन्निःश्वासरूप

---

१. एतच्चतुष्टयमेकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकमित्यर्थः। (तत्त्वा० प्र० १.७)।

२. द्र०, 'शास्त्रार्थो गीतार्थः।...शास्त्रार्थस्य संक्षेपरूपत्वात् तद्विस्तारार्थं भागवतरूपं तृतीयं प्रकरणम्, यत्र भागवतं निरूप्यते। (तत्त्वा० प्र० १.५)। द्र०, तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी, पृ० २३.

३. अत्र प्रमाण-चतुष्टये श्रुतिः सूत्राण्येका कोटिः, गीता भागवतं चापरा स्पष्टैव। (तत्त्वा० प्र० १.१०)।

४. देवकीपुत्रेण गीतं गीता। गीतायां भगवद्वाक्यानि एव शास्त्रम् इत्यर्थः। वेदानामपि तदुक्तप्रकारेण एव अर्थ-निर्णयः। (तत्त्वा० प्र० १.४)।

५. वैदिकस्तु एतावानेव सिद्धान्तः। वैष्णवानुसारेण किञ्चित् साधनमधिकमाह। (तत्त्वा० प्र० १.२३) द्र०, तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी, पृ० ७६-७७.

६. द्र०, तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी, पृ० २९-३२.

वेद ही हैं[१]। वे स्वार्थमें निरपेक्ष प्रमाण हैं[२]। कर्म-काण्ड-ज्ञानकाण्ड-अर्थवादोपाख्यानादि-घटित सम्पूर्ण वेदका प्रत्यक्षर प्रमाण है[३]। अर्थवाद एवं उपाख्यानों को भी मिथ्यार्थ-प्रतिपादक नहीं माना जा सकता अन्यथा वेदमात्रको अप्रामाणिक मानना पड़ेगा[४]। वस्तुतः वेद परम आप्त है एवं अक्षरमात्र भी अन्यथा नहीं कहता[५]। उसमें एक भी बाधितार्थ वचन नहीं है[६]।

किंतु वेद-प्रतिपादित अर्थका बोध शब्द-साधारण-विद्यासे नहीं हो सकता अर्थात् जिस प्रकार सामान्य लौकिक ग्रन्थों या वाक्यों का तात्पर्य लौकिक उपायों द्वारा कोष, व्याकरण, युक्ति, अनुमान या लाक्षणिक वृत्तियों की सहायतासे समझ लिया जाता है उसी प्रकार वेदका अर्थ या तात्पर्य हम स्वतः नहीं समझ सकते। वेदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जिस साधनकी अपेक्षा है उसका उल्लेख करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि तप, वेदयुक्ति, भगवदनुग्रह तथा उपयुक्त देश एवं काल के सम्पादित हो जाने पर वेदवाक्योंके अर्थका अवबोध होता है[७]। इन पाँच साधनोंमें तप पूर्वाङ्ग है

---

१. शास्तीति शास्त्रं, वेदः। (अ० १.१.२)।

२. अतो निरपेक्षा एव भगवन्निःश्वासरूपवेदा एव प्रमाणम्। (अ० १.१.४)।
द्र०, ऊपर पृ० १०१ टि० २.

३. वेदाः सर्व एव काण्ड-द्वयस्थिता अर्थवादादिरूपा अपि। (तत्त्वा० प्र० १.७)।
प्रमाणं च सर्वोऽपि वेदः स्वार्थे। (अ० १.१.२)।
'वेदः स्वार्थे च सम्मतः।' (अ० १.१.३ श्लोक ११)।

४. न च उपाख्यानानां मिथ्यात्वं, तथा सति सर्वत्र एव मिथ्यात्वं भवेत्, विशेषाभावात्। न हि अप्रामाणिकोक्तौ विधौ वा उपाख्याने वा ब्रह्मस्वरूपे वा कस्यचिदपि विश्वासो यथा लोके। तस्माद् वेदे अक्षरमात्रस्य अपि असत्यार्थ-ज्ञानस्य अभावाद् वैदिकानां न सन्देहोऽपि किं पुनर्विरुद्धार्थकल्पना। (अ० १.१.१)।
न हि उपाख्यानानां मिथ्यार्थत्वं बुद्ध-जन्मनः पुरा उक्तं युक्तं वा। तथा सति वेदानाम् अप्रामाण्यम् एव स्यात्, मिथ्योपाख्यान-प्रतिपादक-लोकवत्। (अ० १.१.३)।

५. वेदश्च परमाप्तोऽक्षरमात्रमप्यन्यथा न वदति, अन्यथा सर्वत्रैव तदविश्वासप्रसङ्गात्। (अ० १.१.२)।

६. बाधितार्थवचनं वेदे नास्तीत्यवोचाम। (अ० १.१.२)।

७. वेदप्रतिपादितार्थबोधो न शब्दसाधारणविद्यया भवति, किन्त्वन्यत्साधनमस्तीत्याह,
'तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात्परमात्मनः।
विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः क्वचित्सत्ययुगे पुमान्॥'
(तत्त्वा० शा०, पृ० २००–२०१)।

जिसका उल्लेख श्रुतिमें 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' (तै० ३ २.१। इत्यादि वाक्योंमें मिलता है। वेदयुक्ति सहकारिणी है। 'वेदयुक्ति' से तात्पर्य श्वेतकेतु आदिके उपाख्यानमें 'न्यग्रोधफलमत आहर' (छा० ६.१२.१) इत्यादि वाक्योंमें निरूपित युक्तियोंसे है। भगवदनुग्रह मुख्य कारण है। इसके मुख्य कारण होनेकी सिद्धि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य.' (क० १.२.२३; मु० ३.२.३) एवं 'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमीशम्' (क० १.२.२०) इत्यादि वाक्योंसे होती है। इस प्रकार ये तीन श्रौत साधन हैं और शेष दो साधन पौराणिक हैं[1]।

इस प्रकार वेदप्रतिपाद्य अलौकिक प्रमेयके स्वरूप आदिका निर्णय वैदिक युक्तियोंका आश्रय लेकर सूत्रोंका अनुसरण करते हुए ही करना चाहिए[2]। अपनी स्वतन्त्र उत्प्रेक्षाके आधार पर वेदके अर्थ या वस्तुस्वरूप की परिकल्पना करके उसके साथ वैदिक-वाक्योंकी सङ्गति बैठाना श्रीवल्लभाचार्यकी दृष्टिमें दुस्साहसमात्र है[3]। अतएव वेदार्थका विचार करते समय यदि वेदके किन्हीं दो या अधिक वाक्योंमें परस्पर विरोध दिखलायी पड़ता हो तो स्वोत्प्रेक्षित, स्वबुद्धि-परिकल्पित वेदार्थका अनुसरण करते हुए उन वेद-वचनोंका खींचतानकर अर्थ निकालकर उनमें समन्वय करना या उनमेंसे किसी एकको गौण एवं दूसरेको मुख्य घोषित करना उचित नहीं होगा। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अविषय पदार्थका वर्णन करने वाले श्रुतिके परस्पर-विरुद्ध वाक्य भी एक-दूसरे की अपेक्षामें निर्बल या प्रबल नहीं माने जा सकते क्योंकि जब वे दोनों या सभी वाक्य वेद ही हैं तो हमारे पास कोई ऐसा निर्णायक या नियामक नहीं है जिसके आधार पर हम उनमेंसे किसी एकको प्रबल एवं अन्यको निर्बल घोषित कर सकें[4]। अपनी विचार-शक्तिकी दुहाई देकर अप्रतिष्ठित-तर्कके बलसे हम श्रुतिका मनमाना अर्थ नहीं कर सकते क्योंकि जिस अर्थको श्रुतिका बल प्राप्त न हो या जो श्रुति-वाक्योंका विरोधी हो उसे निर्मूल या मूल-विरोधी होनेके कारण निर्बल ही माना जायेगा। अत एव श्रुतिके अर्थ-निर्धारणकी उपयुक्त पद्धति वही है जिसमें सभी श्रुतिवचनोंका अविरोध चरितार्थ

---

१. 'तपः पूर्वाङ्गम्, वेदयुक्तिः सहकारिणी, भगवत्प्रसादो मुख्यं कारणम्। क्वचिद्=देशविशेषे। सत्ययुगे=काले। पञ्चाङ्ग-सम्पत्तौ वाक्यार्थबोधो भवति।' (तत्त्वा० प्र० १.६३)। द्र०, तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी, पृ० २००-२०२.

२. अलौकिकप्रमेये सूत्रानुसारेणैव निर्णय उचितः न स्वतन्त्रतया किञ्चित्परिकल्पनम्। (अ० २.१.१४)।

३. स्वबुद्धया शास्त्रार्थं परिकल्प्य तत्र वेदं योजयन्तो महासाहसिकाः सद्भिरुपेक्ष्याः। (अ० १.१.३)।

४. उभयोरपि प्रामाणिकत्वेन एकतर-निर्धारस्य अशक्यत्वात्। (अ० १.१.१)।

हो सके। इसीलिए श्रीवल्लभाचार्य परस्पर-विरुद्धार्थ-प्रतिपादक श्रुति-वचनोंके आधारपर वेदैकप्रतिपाद्य प्रमेय ब्रह्मको विरुद्ध-धर्माश्रय एवं सर्वसमर्थ मानते हैं। ब्रह्मको सर्वरूप-समर्थ एवं विरुद्ध-धर्माश्रय मान लेनेपर विभिन्न परस्पर-विरुद्धार्थक श्रुति-वाक्योंमें अविरोध हो जाता है क्योंकि उनके प्रतिपाद्य अर्थका स्वरूप ही परस्पर-विरोधी गुणों या धर्मोंसे घटित स्वीकार कर लिया जाता है[1]।

* ३.२.७ * इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार अलौकिकार्थज्ञापकत्वेन प्रथम एवं मूलप्रमाण वेद हैं तथा सन्देहवारकत्वेन अर्थज्ञापकता गीता, ब्रह्मसूत्र एवं भागवत में भी है। वे इनका अनुवादकत्वेन अप्रामाण्य नहीं स्वीकार करते प्रत्युत इनकी सन्देहवारकताका उल्लेख करते हुए 'एतच्चतुष्टयमेकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्' (तत्त्वा० प्र० १.७) कह कर इनके समन्वय पर बल देते हैं। इस प्रकार, जब तक पूर्णज्ञान नहीं उत्पन्न हो जाता तब तक विचार-प्रक्रियाके अनुशासनके लिए वे वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र एवं भागवत के समन्वित तात्पर्यको अथवा उसके अविरोधी मन्तव्यको ही प्रमाणके रूपमें उपादेय मानते हैं, किन्तु पूर्णज्ञान हो जानेपर उनके अनुसार ब्रह्म इतना सर्वरूपसमर्थ एवं विरुद्धधर्माश्रय दिखाई देने लगता है कि जो भी वाक्य कहे जाते हैं वे प्रामाणिक लगने हैं, क्योंकि तब विभिन्न परस्पर-विरुद्ध रूपोंमें ब्रह्मकी एक ऐसी अविरुद्ध उपस्थितिका अवबोध होता है कि विभिन्न वचनोंकी परस्पर-विरुद्धार्थकता स्वतः समाहित हो जाती है।

* ३.२.८ * इसे स्पष्ट करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि पूर्णज्ञान हो जाने पर नामलीलाके भेदसे सारे वाक्योंके रूपमें भगवान्‌के ही प्रकाशित होनेके कारण, विरुद्ध अंशका परित्याग कर देने पर, प्रत्येक वाक्य अर्थात् वाङ्मय-मात्र प्रमाण हो जाता है। उनके अनुसार रूपलीलाके भेदोंकी ही भाँति नामलीलाके भेदोंके भी वर्णनीय होनेके कारण नानाप्रकारके वाक्य प्रवृत्त हुए हैं। इन सभीका वाच्य अर्थ भगवद्रूप है अतः ये सभी प्रमाण हैं। परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले वाक्योंमें अविरोधका निर्वाह विरुद्ध अंशका परित्याग कर देनेसे होता है। इसके दो रूप हैं, भगवत्सामर्थ्यरूप अलौकिक प्रकारसे विरुद्ध अंशका परित्याग अथवा भगवान्‌के सर्वरूप होनेसे विरुद्ध अंशका परित्याग[2]।

---

१. प्रत्यक्षादृविषये पदार्थाः श्रुति-बोधिताः। परस्परं विरुद्धास्ते नैकशेषं भजन्ति हि॥
उभयोर्वैदिकत्वेन कः स्यादत्र नियामकः। विचारकाणां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा।....
यथा सर्वाविरोधः स्यात्तथैवाऽत्र विचारणम्। सर्वरूप-समर्थत्वमतो ब्रह्मणि गीयते।
विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभते। (सुबो० २.९.३२)।

२. पूर्णज्ञानोदयावधि यद् ग्राह्यं प्रमाणत्वेन तन्निरूप्य, तदनन्तरं यत्प्रमाणं तदाह,

श्रीवल्लभाचार्यके उपर्युक्त कथनका आशय यह है कि पूर्णज्ञान हो जानेपर सारे पदार्थ भगवद्रूप ही दिखाई देने लगते हैं। इस दशामें, 'सारे पदार्थोंके वाचक वाक्य ब्रह्मके ही वाचक हैं, ओङ्कारकी ही विकृति हैं', इस प्रकार अवबोध होता है। भगवान् ही एकमात्र तत्त्व है। किन्तु वे स्वेच्छया शक्तिसङ्कोचसे, प्रतिनियत रूपसे, सर्वत्र अशतः ही प्रकट होते हैं। उनका जो अंश जहाँ प्रकट होता है वहाँ उस पदार्थकी प्रतीति होती है। उनके सर्वरूप होनेका यही अर्थ है और यही रूपलीला है। इसी प्रकार, सारे शब्द सारे अर्थोंके वाचक हैं (सर्वे सर्वार्थ-वाचकाः), क्योंकि सारे शब्द भगवान्के ही वाचक हैं और भगवान् ही सब कुछ हैं। किन्तु भगवान्की इच्छासे, वाचक-शक्तिके सङ्कोचके कारण, एक शब्दमें एक ही अर्थ प्रकट होता है, फलतः शब्दविशेष अर्थविशेषके ही वाचक हो पाते हैं। यही नामलीला है। भगवान्की इस नामलीलाके कारण ही विभिन्न अर्थोंके वाचक विभिन्न वाक्य व्यवहारमें आते हैं। इनमेंसे जो वाक्य परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं उनमें भी पूर्णज्ञान हो जानेपर विरुद्धांशपरित्यागपूर्वक अविरोधका अवबोध होता है। यह कैसे होता है इसे अधोलिखित प्रकारसे समझा जा सकता है। श्रीमद्भागवतमे कहा गया है कि एक ही भगवान् श्रीकृष्ण, कंसकी सभामें अपने अग्रज बलरामके साथ प्रवेश करनेपर, वहाँ उपस्थित कंसके पहलवानोंको वज्रस्वरूप (अर्थात् वज्रके समान शरीर वाले), साधारण मनुष्योंको नरश्रेष्ठ, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक, अपनी माता देवकी एवं पिता वसुदेवको शिशु, भोजराज कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट्, योगियोंको परमतत्त्व और भक्तशिरोमणि वृष्णिवंशियोंको अपने इष्टदेव जान पड़े[1]। एक ही भगवान्का विभिन्न लोगोंको ऐसे विभिन्न रूपोंमें दिखाई पड़ना जो रूप परस्पर-विरोधी हैं, भगवान्के

अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीला-विभेदतः।
विरुद्धांश-परित्यागात्प्रमाणं सर्वमेव हि ॥ (तत्त्वा० १.९)।
वाङ्मात्रमेव प्रमाणम्, अर्थस्य भगवद्रूपत्वात्।'' ''रूपलीलावत नामलीलाया विभेदानां वक्तव्यत्वात् नानाविधानि वाक्यानि प्रवृत्तानि। विरुद्धवाक्यत्वेन एव परस्परं भासमानेषु अविरोध-प्रकारम् आह, विरुद्धांश-परित्यागाद् इति। विरुद्धांश-परित्यागो द्वेधा वक्तव्यः, भगवत्सामर्थ्येन अलौकिक-प्रकारेण भगवतः सर्वरूपत्वेन वा। (तत्त्वा० प्र० १.९)।

१. मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता, स्वपित्रोः शिशुः ॥
मृत्युर्भोजपतेः, विराडविदुषां, तत्त्वं परं योगिनाम्।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो, रङ्गं गतः साग्रजः ॥ (भाग० १०.४३.१७)।

अलौकिक सामर्थ्यसे ही सम्भव हुआ[1]। 'भगवान् अपने अलौकिक सामर्थ्यसे एकही समयमें विभिन्न परस्पर-विरोधी रूपोंमें प्रकट हो सकते हैं, क्योंकि वे सभी विरोधी धर्मोंके आश्रय हैं', इस ज्ञानसे, अथवा 'परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वाक्य विरुद्ध-धर्माश्रय, सर्वरूपात्मक भगवान्के ही विभिन्न रूपोंके वाचक हैं' इस ज्ञानसे परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले श्रुतिवाक्योंमें भी अविरोधका निर्वाह होता है।

इस प्रकार पूर्णज्ञानोदयानन्तर सखण्डाद्वैतकी स्थितिमें[2] उपर्युक्त प्रकारसे वाङ्मात्र प्रमाण है और अखण्डाद्वैतकी स्थितिमें तो प्रमाणचर्चा ही अनावश्यक हो जाती है[3]।

* ३.२.९ * श्रीवल्लभाचार्यकी प्रमाणसम्बन्धी पूर्वोक्त अवधारणासे तर्कमूलक या अनुमानाश्रित एवं शब्दमूलक या प्रमाणाश्रित आस्तिक दर्शनोंका भेद स्पष्ट हो जाता है। जहाँ तर्कमूलक दर्शनके प्रतिपादक अपने सिद्धान्तोंको अनुमानके आधारपर उपन्यस्त करके 'श्रुतिरप्यत्रानुसन्धेया' कहनेका मार्ग अपनाते हैं वहीं प्रमाणाश्रित शब्दमूलक सिद्धान्तोंके प्रतिपादक अपनी श्रुतिनिरूपित मान्यताओंका उपस्थापन कर 'अनुमान-प्रयोगश्चात्रैवं भवति' कहनेकी विधा अपनाते हैं।

श्रीशङ्कराचार्यने शास्त्रैकसमधिगम्य औपनिषद तत्त्वके यथावत्स्वरूपके अधिगममें ऋग्वेदादिशास्त्रोंको ही मूल प्रमाण माना था[4] और उनसे सिद्ध अर्थको समझने एवं पुष्ट करने के लिए वेदाविरोधी अनुमानके प्रयोगका, श्रुत्यभ्युपेत होनेके कारण, निषेध नहीं किया था[5]। श्रीवल्लभाचार्यने वेदार्थावबोधके लिए पञ्चसाधनसम्पन्न होने पर

---

१. प्रमेयेण निरोधोऽत्र कर्तव्यो हरिणा भृशम्।
लोकाश्च दशधा भिन्नास्ततो दशविधोऽभवत्॥ (सुबो० १०.४३.१७ श्लोक १)।
·· एतान् दर्शयितुं भावान् हरिरेवं बभौ महान्।
अतस्तस्मिन् गुणा एव सर्वे भावा न चान्यथा॥ (वही, श्लोक ६)।
भगवांस्तु यादृशस्तादृश एव सर्वविलक्षणः सर्वरूपश्चेति। (सुबो० १०.४३.१७)।

२. द्र०, ऊपर पृ० ९०–९१ तथा तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी, पृ० ३०६–३१२.

३. ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचित्।
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः॥ (पत्रा० ३)।

४. यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्र····प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यते इत्यभिप्रायः। (ब्र० शा० १.१.३)।

५. सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतः जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। (ब्र० शा० १.१.२)।

बल दिया एवं इस सन्दर्भमें वेदयुक्तिको सहकारी माना[1]। इसी परम्पराको आगे बढ़ाते हुए गो० श्रीविट्ठलनाथने अपने 'श्रुतिसूत्रादि-मणिभिः जटितम्' और 'युक्तिमौक्तिकैः ग्रथितम्' विद्वन्मण्डनम्में[2] अपने शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके सुदृढ भवनको श्रुतिवाक्यरूप विविध महामणियोंकी ईंटों तथा युक्तिरूप स्वर्णचूर्णात्मक सीमेन्ट से निर्मित बताया है[3]।

* ३.३.० * अखण्डाद्वैत-ब्रह्मवादकी दृष्टिसे श्रुतियोंके प्रतिपाद्य इस प्रमेयका ज्ञान या स्वरूप-निरूपण कर सकना मानवके अपने सामर्थ्यसे अतीत है[4]। मानवीय मन, वाणी[5] एवं चक्षुरादि इन्द्रियाँ उसका ग्रहण एवं वर्णन नहीं कर सकतीं। वह विदित एवं अविदित दोनोंसे अतीत है[6]। इसीलिए श्रुति कहती है,

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ (के० २.३)।

किन्तु उसके ज्ञानसे ही परम पुरुषार्थकी सिद्धि सम्भव है[7] और उसका अज्ञान[8] अथवा अन्यथा-ज्ञान[9] विनाशका पथ प्रशस्त करता है। अत एव श्रुति हमें उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रेरित करती है[10] तथा उसका विविध प्रकारसे निरूपण करती हुई कहती है कि वह साकार भी है और निराकार भी, सावयव भी है और निरवयव भी, पूर्ण भी है और परिच्छिन्न भी[11], एक भी है और अनेक भी[12], जगत्का निमित्त कारण भी है

---

१. द्र०, ऊपर पृ० १०३–१०४. २. द्र०, ऊपर पृ० ९६ टिप्पणी १.

३. युक्ति-कनकपङ्क-सङ्घट्टित-विविध-निगम-महामणि-विरचित-ब्रह्मवाद-भवनं मम।
(विद्व०, पृ० १०५–६)।

४. इन्द्रियाणां तु सामर्थ्याददृश्यम्। (तत्त्वा० १.७२)।

५. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (तै० २.४.१)।

६. न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो यथैतदनुशिष्याद्, अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। (के० १.३)।

७. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति। (श्वे० ३.८;६.१५)।

८. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः। (के० २.५)।

९. योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥
(महा० १.७४.२७)।

१०. तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ। (मु० २.२.५)।

११. वेदेन हि प्रकारद्वयेन"। साकारो निराकारः सावयवो निरवयवः, पूर्णः परिच्छिन्नः इत्यादि-प्रकारेण। तदुभयमपि यथा विषयो भवति तदर्थमिदमारभ्यते। अन्यथा एकपक्षः विषयता स्यात्। तथा सति वेदानामंशतः अप्रामाण्यं भवेत्। अतः सर्ववेदप्रमाणसिद्धये उभयविधो विषयो निरूप्यते। (सुबो० २.९.३४)।

१२. यदेकं चाप्यनेकं च साञ्जनं च निरञ्जनम्। (अन्नपू० ३.२३)।

और समवायिकारण भी[1]।

* ३.३.१ * इस प्रकार श्रुति उसे परस्पर-विरुद्ध गुणों, क्रियाओं एवं धर्मों का आश्रय बताती है[2]। ऐसी स्थितिमें, उसे विरुद्धधर्माश्रय न मानने पर वेदका सर्वांशमें प्रामाण्य सुरक्षित न रह सकेगा। अतः वेदके प्रत्यक्षरको समान रूपसे प्रमाण माननेवालेके लिए अनेक श्रुतिवाक्योंको निरर्थक या मिथ्यार्थप्रतिपादक माननेसे बचनेके लिए एवं वेदके सर्वांशकी प्रामाणिकताको अक्षुण्ण रखनेके लिए वेदके प्रतिपाद्य प्रमेय—ब्रह्म—को विरुद्धधर्माश्रय मानना पड़ता है। स्वयं श्रुतिके ही,

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ (ई० ४)।
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ (ई० ५)।
आसीना दूरं व्रजति शयानो याति दूरतः।
कस्तं मदामद देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ (क० १.२.२१)।
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ (श्वे० ३.१९)।

एवं 'अणोरणीयान्महतो महीयान्।' (क० १.२.२०; श्वे० ३.२०)। इत्यादि अनेक वाक्योंमें इस विरुद्धधर्माश्रयताका स्पष्टतया उल्लेख किया गया है। पुराणोंमें भी,

शृणोष्यकर्णः परिपश्यसि त्वमचक्षुरेको बहुरूपरूपः।
अपादहस्तो जवनो ग्रहीता त्वं वेत्सि सर्वं न च सर्ववेद्यः ॥ (विष्णुपु० ५.१.४०)।
यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात्।
तद् ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्यमानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ॥
(भाग० ४.९.१६)।

---

१. जगतः समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकम्। (तत्त्वा० १.६८)।
सर्वोपनिषत्समाधानार्थं प्रवृत्तः सूत्रकारः। तद्यदि ब्रह्मणः समवायित्वं न ब्रूयाद् भूयानुपनिषद्भागो व्यर्थः स्यात्। (अ० १.१.३)।

२. अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च। विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम् ॥
(तत्त्वा० १.१)।

ब्रह्मणि विरुद्धधर्माः सन्ति इति ज्ञापनार्थमाह, 'अनन्तमूर्ति' इति। अनन्ता मूर्तयो यस्य। ब्रह्म एकं व्यापकञ्च, तेन अनेकत्वम् एकत्वं च निरूपितम्। एवं गुणविरोधम् उक्त्वा क्रिया-विरोधम् आह, 'कूटस्थं चलमेव च' इति। 'एव'-कारः सगुणादि-भेद-विज्ञापनार्थः। 'च'-कारः अनुक्त-धर्म-संग्रहार्थः। 'ब्रह्मैव हि सर्वाधारम्। (तत्त्वा० प्र० १.७१)।

आनन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत् । (भाग० ८.१२.७) ।
एकस्त्वमेव सदसद् द्वयमद्वयं च । (भाग० ८.१२.८) ।
करोत्यकर्तैव निहत्यहन्ता चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या । (भाग० ४.११.१८)।
कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।
कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः स्वात्मन्रतेर्खिद्यति धीर्विदामिह ॥
(भाग० ३ ४.१६) ।
अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् । (भाग० ३.१.४०) ।
एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ।
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥ (भाग० १.३.३५)
इत्यादि वाक्योंमें उसीका अनुसरण करते हुए ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रयताका निरूपण किया गया है ।

* ३.३.२ * श्रीशङ्कराचार्य ब्रह्मके इस श्रुतिप्रतिपादित विरुद्धधर्मसमवायित्वका एवं इसके प्रकाशक मन्त्रोंका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मवादका यह सिद्धान्त अल्पबुद्धि एवं शास्त्र तथा गुरु की कृपासे विरहित पुरुषों द्वारा अगम्य और तार्किक चाट-भटराजोंके लिए दुर्भेद्य एवं अप्रवेश्य अभय दुर्ग है[1] । इसी प्रकार विद्वन्मण्डनमें भी इस ब्रह्मवादको सुदृढ भवन कहा गया है इसका उल्लेख तो हम ऊपर (पृष्ठ १०८ पर) कर ही चुके हैं ।

३.३.३ श्रीवल्लभाचार्यने ब्रह्मके इस विरुद्धधर्माश्रयत्वको उसके माहात्म्यका सूचक वैशिष्ट्य[2] एवं उसका आभूषण[3] कहा है तथा अपने शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादकी आधारशिला ब्रह्मके इसी श्रुतिसिद्ध सर्वधर्माश्रयत्व एवं सर्वभवनसमर्थत्व पर रखी है और विद्वन्मण्डनकारने इसे ही शुद्धाद्वैतका आधारभूत सिद्धान्त माना है ।

---

१. तस्मात् तार्किक-चाट-भटराजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गमिदम् अल्पबुद्धिगम्यं शास्त्र-गुरु-प्रसाद-रहितैश्च, 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति' (क० १.२.२१), ... 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' (ई० ५) इत्यादि-विरुद्ध-धर्म-समवायित्व-प्रकाशक-मन्त्रवर्णेभ्यश्च । (बृ० शा० २.१.२०) ।

२. अजनस्य जन्मानि अकर्तुः कर्माणि इति विरुद्ध-धर्माश्रयत्वेन माहात्म्यं विशेषः, 'एतावानस्य महिमा' (ऋ० १०.९०.३) इतिवचनात् । एवमेव हि कवयो वर्णयन्ति विरुद्धधर्माश्रयत्वेन । ...वस्तुतस्तु सर्वभवन-समर्थे ब्रह्मणि विरोध एव नास्ति । (सुबो० १.३.३५) । द्र० सुबो० २.६.१७.

३. अस्थूलादिगुणयुक्त एव अविक्रियमाण एव आत्मानं करोति इति...। विरुद्ध-सर्वधर्माश्रयत्वं तु ब्रह्मणो भूषणाय । (अ० १.१.३) ।

* ३.४० * विरुद्धधर्माश्रयतया ब्रह्म साकार तथा अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द-रूप है। सम्पूर्ण जगत्में अस्ति (सत्), भाति (चित्) और प्रियम् (आनन्द) के रूपमें ब्रह्मका अन्वय है। वह सत्ता, चैतन्य और प्रियत्व के रूपमें सर्वत्र व्याप्त भी है और सर्वातीत भी है[1]। वह वृहत् एव व्यापक है अत एव ब्रह्म कहा जाता है[2]। वह सच्चिदानन्दरूप, अव्यय, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र, प्राकृतगुणरहित, सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैत-वर्जित, शुद्ध अद्वैत एवं सत्य, शौच, दया आदि अनन्त औत्पत्तिक गुणोंसे सदा सम्पन्न है[3]।

* ३.४.१ * ब्रह्म समग्र जगत्का आधार, मायाको वशमें रखने वाला, आनन्दाकार, उत्तम, सभी प्रापञ्चिक पदार्थोंसे विलक्षण तथा प्रपञ्चके पदार्थमात्रका अभिन्न-निमित्तोपादान कारण एवं कर्ता है[4]। वह स्वयं अपनेमें ही रमण करता है और स्वात्मक प्रपञ्चमें भी। जब वह स्वयं अपनेमें ही रमण करता है तो प्रपञ्चको उपसंहृत कर लेता है और जब प्रपञ्चमें रमण करता तो जगत्को आविर्भूत करता है। इस प्रकार उसकी क्रीडेच्छासे जगत् उसीमें प्रकट एवं लीन होता है[5], 'रूप-नाम-

---

१. विश्वोद्भव-स्थान-निरोध-कर्म ते ह्यकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुतः॥ (भाग० ५.१८.५)।
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा। (भाग० २.९.३५)।
'सर्वं भगवान् कथम्', इत्याकाङ्क्षायाम्, 'अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्' इति। सर्वत्र भवतोऽन्वयोऽस्ति। घटः सन् पटः सन् भासत इति प्रियम् इति च सर्वत्र एव एकस्य अन्वयः।...विशेषेणातिरिच्यत इति व्यतिरेकः।...एवं सर्वत्र यत् सत् सर्वस्मादतिरिच्यते तद् ब्रह्म एव। (सुबो० २.९.३५)। अस्ति भाति प्रियम् इति त्रयं भगवत्कार्यं, तत्कारणत्वेन आश्रयः। एतदेव तस्य अधिष्ठानत्वम्। (सुबो० २.१०.७)।

२. ब्रह्मणो व्यापकत्वं बृहत्त्वात्, अन्यथा 'ब्रह्म'-पद-प्रयोगो नोपपद्यते। (तत्त्वा० प्र० १.२५)। द्र०, मु० ३.१.१; श्वे० ३.७ तथा नृ० उ० ता० ९ एवं तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी, पृ० ८८-९२, २०५-२०६.

३. सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्। सर्वशक्ति स्वतन्त्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितम्॥
सजातीय-विजातीय-स्वगतद्वैत-वर्जितम्। सत्यादि-गुण-साहस्रैर्युक्तमौत्पत्तिकैः सदा॥
(तत्त्वा० १.६५-६६)।
द्र०, तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी, पृ० २०५-२१०.

४. सर्वाधारं वशयमायमानन्दाकारमुत्तमम्। प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद् विलक्षणम्॥
जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम्। (तत्त्वा० १.६७-६८)।

५. कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम्। (तत्त्वा० १.६०)।

विभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः' (तत्त्वा० १.१)। जहाँ भी, जिस समय भी, जिससे भी, जिस रूपमें भी, जो कुछ भी होता है या रहता है, वह सब वही है। इस प्रकार सभी कारकों एवं विभक्तियों द्वारा बोध्य अर्थ वही है[1]। सभी नाम उसीके हैं और सभी रूप भी उसीके हैं[2]। प्रकृति, पुरुष एवं काल रूप भी वह स्वयं ही है[3]। वह सभी पदार्थोंके अन्दर स्थित है तथा स्वयं ही आधार एवं आधेय दोनों है तथापि उन पदार्थोंसे निर्लिप्त है, उनका स्पर्श नहीं करता। वह सभी पदार्थोंको अपना शरीर मानता है और अन्तर्यामीके रूपमें उनमें प्रविष्ट होकर प्रकाशित होता है किन्तु शरीर उसे इस रूपमें नहीं जानता[4]।

* ३ ४.२ * वह श्रुत्यादिरूप प्रमाणवाक्योंमें कहे गये सभी धर्मोंसे युक्त है और उसे उन विभिन्न मतों या वादों से नहीं समझा जा सकता जो उसमें कुछ श्रुत्युक्त धर्मोंके न होने एवं कुछके होने का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार वह प्रमाणागम्य या वाक्यागम्य न होते हुए भी किसी वादसे ज्ञेय नहीं है। विभिन्न वाद या मत अपने प्रतिपादकोंकी भ्रान्त धारणाओंपर आधारित परिकल्पना मात्र होनेसे उसका सम्यङ् निरूपण नहीं कर पाते हैं और उस 'सर्ववादानवसर' ब्रह्मके ज्ञानमें निरवकाश एवं अनुपयोगी ही सिद्ध होते हैं। किन्तु सरस्वतीरूप या ज्ञानराशि मात्र होनेके कारण एक-एक वाद ब्रह्मके एक-एक धर्मके प्रतिपादक श्रुतिवाक्यका शेष अर्थात् अङ्गभूत है अतः 'नानावादानुरोधि तद्' ब्रह्म उन सभी वादोंका अनुसरण करता है[5]।

द्र०, बृ० १.४.३; भाग० ३.८.१० तथा ८.२२.२०; एवं तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी पृ० २१५-२१६.

१. यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै यद् यो यथा कुरुते कार्यते च ।
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं तद् ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ॥ (भाग० ६.४.३०)।
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद् यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधान-पुरुषेश्वरः ॥ (भाग० १०.८५.४)।

२. स सर्वनामा स च विश्वरूपः। (भाग० ३.४.२८)।

३. प्रकृति-पुरुषौ कालश्च स एव। (तत्त्वा० प्र० १.६९)।

४. यः सर्वत्रैव सन्तिष्ठन्नन्तरः संस्पृशेन्न तत् ।
शरीरं तं न वेदेत्थं योऽनुविश्य प्रकाशते ॥ (तत्त्वा० १.७०)।
यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः ।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत् त नतोऽस्म्यहम् ॥ (भाग० ६.१६.२३)।

५. द्र०, तत्त्वा० शा० पृ० २१८-२२२.

• ३.४.३ • ब्रह्म सर्वभवन-समर्थ होनेसे विरुद्धधर्माश्रय है और इसीलिए विभिन्न श्रुतिवाक्योंमें उसके विभिन्न, परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्मोंका प्रतिपादन मिलता है[1]। इनमेंसे कुछ श्रुतिवाक्योंका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। पुराणोंमें भी उसे अनेकगुण एवं अगुण[2], उरुरूप एवं अरूप[3] आदि कह कर उसकी विरुद्धधर्माश्रयता[4] एवं सर्वभवनसमर्थता का निरूपण किया गया है और इसके उदाहरण भी हमने ऊपर भी दिये ही हैं। वस्तुतः यह शुद्धाद्वैतका मूल आधार है।

श्रीवल्लभाचार्यका तात्पर्य यह है कि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २.४.६; ४.५.७), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७.२५.२) एवं 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २.७) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मको जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादानकारण होनेसे जगद्रूप माना गया है, और 'अस्थूलमनणु · ·' (बृ० ३.८.८),
'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।' (मु० २.१.२) एवं
'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्· ·॥' (क० १.३.१५) आदि वाक्योंमें जगत् एवं जागतिक गुणधर्मों से विलक्षण भी। ऐसी दशामें दो ही विकल्प हैं। या तो इन वाक्योंमें अन्योऽन्यविरोधकी कल्पना कर इनमेंसे किसी एक प्रकारकी वाक्यराशिको बाधितार्थ मान लिया जाये, या फिर, 'बाधितार्थ-वचन वेदे नास्ति' (अ० १ १.२) की परम्पराको स्वीकार कर स्वयं ब्रह्मको ही उभयविध मान लिया जाये। ब्रह्मका जगत्में अन्वय भी है और उससे व्यतिरेक भी है, अतः श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि श्रुत्युक्त अस्थूलत्वादि गुणोंसे युक्त ब्रह्म ही अविकृत रहते हुए अपनेको प्रपञ्चके रूपमें अभिव्यक्त करता है (अ० १.१.३; द्र०, ऊपर पृ० ११० टि० ३) यह मान लेने पर पूर्वोक्त श्रुति-वाक्य परस्पर असङ्गत नहीं रह जाते हैं, अन्यथा वेदके प्रत्यक्षरको प्रमाण माननेवाले वेदानुयायी दार्शनिकोंको इन वाक्योंमें प्रतीयमान विरोधका उपशम करनेवाला कोई अन्य आधार खोज कर इस विरोधका समाधान करना पड़ेगा। वह आधार यदि ब्रह्मसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ—जैसे शाङ्कर अद्वैतको अभिमत माया आदि—हुआ तो पुनः श्रुतिविरोधका ही प्रसङ्ग उपस्थित होगा और 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' की कहावतको ही चरितार्थ करेगा। अतः उक्त माया आदिके सदृश अनौपनिषद पदार्थको तर्कबलसे विरुद्धधर्माश्रय मान कर समाधान खोजनेकी अपेक्षा स्वयं सर्वभवन-

---

१. द्र०, तत्त्वा० शा०, पृ० २१९-२२०.

२. असाविहानेकगुणोऽगुणः ··। (भाग० ४.२१.३४)।

३. अरूपायोरुरूपाय ···। (भाग० ८.३.९)।

४. अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयोरेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः।
अवेक्षितं किञ्चन योगसाङ्ख्ययोः समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत् ॥ (भाग० ६.४.३२)।

समर्थ एवं सर्वरूप ब्रह्मको ही उन श्रुतिवाक्योंके ही बलसे विरुद्धधर्माश्रय स्वीकार कर लेना ही अधिक सङ्गत एवं ब्रह्मको अलौकिकताका आपादक होगा। अन्यथा जगत्की उत्पत्ति ब्रह्मसे भिन्न किसी अन्य पदार्थसे मानने और ब्रह्मको केवल निमित्त कारण स्वीकार करने पर न केवल ब्रह्म पर वैषम्य एवं नैर्घृण्य का आरोप वज्रलेपायित हो जायेगा अपि तु ईश्वरके अनीश्वरत्व, कर्तृत्वभङ्ग एवं सर्वमाहात्म्यनाश का अनिष्टप्रसङ्ग भी उपस्थित होगा। (द्र०, अ० १.१.३)।

* ३.४.४ * यह ब्रह्म नाना नहीं है प्रत्युत वस्तुमात्रका एकमेव तत्त्व है। द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव तथा जीव से घटित यह ब्रह्माण्ड पञ्चाङ्ग है। इसके इन पाँचों अङ्गोंमें कोई भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। ये सभी ब्रह्मात्मक ही हैं। जब इन पाँचोंके तत्त्व (तत्+त्व=मूलरूप) भगवान् ही हैं तो इनके कार्योंके तत्त्व तो सुतरां भगवान् ही होंगे[1]। अत एव इन्हें —विशेष कर जीवको —अपने स्वरूप-निर्वाहार्थ भगवदनुग्रहकी अपेक्षा है। भगवान्की उपेक्षामात्रसे अव्यक्त इनका उपसंहार कर सकता है।[2] श्रीवल्लभाचार्यने भागवतको अपनी सुबोधिनीव्याख्यामें इनके स्वरूपका निरूपण करते हुए[3] ऊर्णनाभिके श्रौत दृष्टान्त द्वारा[4] यह समझाया है कि एक ही तत्त्व ये अनेक रूप कैसे ग्रहण कर लेता है। जिस प्रकार मकड़ी अन्यसाधन-निरपेक्ष होकर स्वयं अपनी स्वरूपभूता ऊर्णामें क्रीडा करती है उसका उत्पादन करती है, उसे स्थापित करती है तथा खा जाती है; उसी प्रकार भगवान् भी स्वयं अपनेको प्रकट करते हैं अर्थात् स्वात्मभूत जगत्की सृष्टि करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं तथा उसका उपसंहार भी करते हैं।

ऊर्णनाभिका यह दृष्टान्त कृतिमात्रमें है। ब्रह्मका स्वरूप तो अज्ञात ही रहता है केवल उसकी कृतिका ही ज्ञान होता है। पुनश्च। दृष्टान्तमें सृज्यादिभावकी प्राप्ति ऊर्णाको ही होती है, ऊर्णनाभिको नहीं, मकड़ीको जाला बनानेके लिए आश्रयकी अपेक्षा

---

१. द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥ (भाग० २.५.१४)।
इदं हि तत्त्वं न नाना, किन्तु सर्वेषामेकमेव तत्त्वम्। तत्र सर्वं पञ्चाङ्गम्। तेषां पञ्चानां यदि भगवानेव तत्त्वं तदा तत्कार्याणां सुतरामेव तदेव तत्त्वं भवति।
(सुबो० २.५.१४)।

२. द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥ (भाग० २.१०.१२)।
एवकारेण जीवानां विशेषाकारेण भगवत्कृपाधीनत्वं बोधितम्। ··उपेक्षामात्रेणाऽव्यक्तस्तानुपसंहरति। (सुबो० २.१० १२)।

३. द्र०, सुबो० २.५.१४ आदि। ४. द्र०, सुबो० २.९.२७.

रहती है और उसके द्वारा उत्पादित जाला खराब भी हो जाता है; किन्तु ब्रह्म स्वय स्रष्टा होते हुए भी सृज्यभावको प्राप्त करता है तथा 'स्वाश्रयाश्रयः'[1] (भाग० २.१०.९) होनेसे उसे सृष्टि करनेके लिए आश्रयकी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार यह दृष्टान्त अन्यानपेक्ष-कृतित्वमात्रमें है, और वह भी पूर्णांशमें नहीं, क्योंकि अन्ततः मकड़ीको देश आदिकी अपेक्षा तो रहती ही है। अतः न तो 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वे० ६.८) की पदावलीसे स्तुत ब्रह्मका कोई पूर्ण दृष्टान्त ही हो सकता है और न दृष्टान्तमात्रसे उसका पूर्णबोध ही।

* ३.४.५ * यह शुद्ध ब्रह्म ही जगत्का कर्ता है। जिन गुणाभिमानी देवताओंको स्मृति-पुराणादिमें स्रष्टा आदि कहा गया है वे इस ब्रह्मके अंश हैं। यह स्वयं सगुण नहीं है। सगुण या गुणपरतन्त्र पदार्थ स्वतन्त्र न होनेके कारण कर्ता नहीं हो सकता[2]। माया आदिका कर्तृत्व[3] श्रुतिवाक्यों एव ब्रह्मसूत्रों आदिसे बाधित होनेके कारण[4] स्वीकार नहीं किया जा सकता। शास्त्रोंमें जहाँ कहीं ब्रह्मके अकर्तृत्वका उल्लेख है[5] उसका उद्देश्य ब्रह्मके माहात्म्यका बोध करानेके लिए उसके विरुद्धधर्माश्रय होनेका प्रतिपादन करना है[6], अतः युक्तिके बलसे ब्रह्मके प्रमाण-सिद्ध कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व में से किसी एकका निषेध नहीं किया जा सकता।[7]

* ३.४.६ * पुराण मित्र-सम्मित उपदेश देते हैं अतः वे लौकिक रीतिसे समझाते हुए कभी-कभी प्रपञ्चके मायिक होनेकी बात भी कहते हैं किन्तु अवान्तर प्रकरणोंके विचारसे स्पष्ट हो जाता है कि वे ऐसा श्रोताकी प्रपञ्चमें अनावश्यक आसक्तिको निवृत्त करनेके प्रयोजनसे उसकी विरागवृत्तिको उद्दीप्त करनेके लिए ही कहते हैं[8]।

---

१. स तु स्वात्मानमेवाश्रित्य तिष्ठति। न तस्य आश्रयान्तराऽपेक्षा। (सुबो० २.१०.९)।

२. स एव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो न हि।
गुणाभिमानिनो ये हि तदंशाः सगुणाः स्मृताः॥
कर्ता स्वतन्त्र एव स्यात् सगुणत्वे विरुद्धयते॥ (तत्त्वा० १.७७)।

३. कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते। (विवेकचू० ११०)।

४. मायादीनां च कर्तृत्वं श्रुतिसूत्रैर्विबाध्यते। (तत्त्वा० १.८७)।

५. उदाहरणार्थं द्रष्टव्य भागवत १.३.३५; ३.१.४०; ३.४.१६; ४.११.१८; तथा ५.१८.५ आदि।

६. द्र०, ऊपर पृ० १११ टि० १ में उद्धृत भाग० ५.१८.५.

७. अकर्तृत्वञ्च यत्तस्य माहात्म्यज्ञापनाय हि।
विरुद्धधर्मबोधाय न युक्त्यैकस्य वारणम्॥ (तत्त्वा० १.८८)।

८. मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते। (तत्त्वा० १.८९)।
द्र०, तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी, पृ० ३०३-१०५.

इस बातकी पुष्टि इससे भी होती है कि आजकल वेदकी जो ग्यारह शाखाएँ प्रचलित हैं उनमेंसे किसीमें भी कहीं भी जगत्के मायिक होनेका उल्लेख नहीं मिलता है[1] जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत्के मायिक होनेका मत श्रुतियोंका अभिप्रेत सिद्धान्त नहीं है।

* ३.४.७ * वस्तुतः जगत् भगवत्कार्य एवं भगवद्रूप है। इसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का सर्वविध कारण ब्रह्म ही है अतः यह ब्रह्मसे अभिन्न या शुद्ध ब्रह्म ही है[2]। जगत् एवं ब्रह्म का सम्बन्ध भेदघटित या अभेदघटित नहीं प्रत्युत तादात्म्यघटित है, यह वाल्लभ मत ही तादात्म्यवाद कहलाता है जो शुद्धाद्वैत तत्त्वमीमांसाका मुख्य सिद्धान्त है। इस तादात्म्यका तात्पर्य यही है कि जगत्के ब्रह्मात्मक होते हुए भी, अर्थात् जगत्में ब्रह्मका सच्चिदानन्दरूपमें अन्वय होते हुए भी, ब्रह्मका इससे व्यतिरेक भी है[3]। नामरूपात्मक कार्य-जगत्में अस्ति-भाति-प्रियत्वेन (सच्चिदानन्द-रूपेण) ब्रह्मका अन्वय ब्रह्मकी सामर्थ्य या इच्छा के कारण ऐच्छिक है और व्यतिरेक स्वाभाविक है[4]। जगत् कार्य है, ब्रह्म उपादान कारण है। उपादान कारण और कार्य में तादात्म्य-सम्बन्ध होता है, कार्यके मिथ्या होने का नहीं,[5] क्योंकि जगत् सत्य होनेके कारण त्रैकालिक है और त्रैकालिक होनेके कारण ब्रह्मात्मक है, जैसा कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।' (छा० ६.२.१) एवं 'यदिदं किञ्च तत् सत्यमित्याचक्षते,' (तै० २.६) आदि वाक्योंमें कहा गया है[6], जगत् अपने आविर्भावसे पूर्व भी सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मरूप ही था और अभी भी ब्रह्मात्मक ही है क्योंकि यह जगत् न तो प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, न परमाणुओं-से, न मायासे और न जीवके अदृष्टवशात् ही। जगत् अपने प्रागभावमेंसे भी पैदा नहीं हुआ है। यह तो परमकाष्ठापन्न वस्तु—ब्रह्म—की कृति है और उससे भिन्न नहीं प्रत्युत ब्रह्मात्मक ही है[7]। जगत्सृष्ट्यर्थ यह अनितर-सहायता ही ब्रह्मकी शुद्धता है।

---

१. नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासु कुत्रचित् ॥ (तत्त्वा० १.८२)।

२. द्र०, ऊपर पृ० ८३-८४.

३. तत् (=ब्रह्म) पुनर्जीवाज्जगतश्चाधिकम्। कुतः ? भेदनिर्देशात्। (अ० २.१.२२)।

४. सम्यगन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वाद् अस्ति-भाति-प्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात्। नामरूपयोः कार्यत्वात्...। नानात्वं त्वैच्छिकमेव। (अ० १.१.३)।

५. कार्यस्य कारणानन्यत्व, न मिथ्यात्वम्। (अ० २.१.१४)।

६. "अवरस्य=प्रपञ्चस्य, सत्त्वात्=त्रैकालिकत्वाद्, ब्रह्मत्वम्। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६.२.१), 'यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते' (तै० २.६) इतिश्रुतेः।" (अ० २.१.१६)।

७ अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणुजन्यः, नापि विवर्तात्मा, नापि अदृष्ट-द्वारा

ब्रह्म न केवल अद्वैत है किन्तु शुद्ध अद्वैत है। जगत्के जड पदार्थ और जीव भी यथार्थतः शुद्ध हैं और ब्रह्मसे तादात्म्य-सम्बन्ध-वाले हैं। किसी अन्य पदार्थको बीचमें लाये विना कार्य और कारण के बीच जो सहज तादात्म्य (भेदसहिष्णु अभेद)[1] सम्बन्ध है वही शुद्धाद्वैत है[2]।

* ३.४.८ * अतएव शुद्धाद्वैत न भेदवाद है, न अभेद-वाद ही। यदि उसे कभी अभेद कहा जाता है तो भेदाभावके अर्थमें नहीं, किन्तु भेदविरोधी-सम्पत्तिके अर्थमें ही। जैसे 'अमित्र' का अर्थ न मित्र होता है, न मित्राभाव, प्रत्युत इस पदका प्रयोग इन दोनोंके अलावा एक तीसरे ही अर्थमें होता है। जिस प्रकार 'अविद्या' न विद्या है और न विद्याभाव, प्रत्युत इस पदका प्रयोग भावरूप अज्ञानके अर्थमें ही होता है, उसी प्रकार अभेद भी इसी तीसरे 'भेद-विरोधी सम्पत्ति' के अर्थमें शुद्धाद्वैतका पर्याय है।[3] यह भावात्मक अद्वैत है जबकि शाङ्करमतमें अभावात्मक अद्वैत है।[4]

* ३.४.९ * शुद्धाद्वैतके इस स्वरूपके कारण, अथवा ब्रह्मके सच्चिदानन्द-रूपेण जगत्में अन्वित होने पर भी व्यतिरेकके कारण, ब्रह्मकी सत्ता स्वतः भी है और जगद्रूपेण भी; किन्तु जगत्की सत्ता स्वतः नहीं ब्रह्मत्वेन ही है; क्योंकि ब्रह्मरूपेण सत्य जगत्का समवायी या उपादान कारण ब्रह्म ही है[5], 'क्योंकि ब्रह्मने स्वयं अपने आपको,

---

जातः, नापि असतः सत्तारूपः, किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः। तादृशोऽपि भगवद्रूपः। (तत्त्वा० प्र० १.२३)।

१. सत्कार्यवादे सृष्टिदशायामपि जगज्जीवयोस्सत्त्वाद् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इत्याद्युक्तो भेदस्तदभिन्नतया जगज्जीवप्रतीत्यभावे पर्यवस्यन् भेदसहनक्षममेवाभेदं साधयतीति सृष्टिदशायां जगद्ब्रह्मणोः कार्यकारणभावाज्जगज्जीवयोरंशांशिभावाच्चोपचारिको भवन्नपि न वास्तवाऽभेदं निहन्ति। तेनेदानीमपि भेदसहिष्णुरेवाऽभेदः।
(वादावलिः पृ० २०)।

२. शुद्धाद्वैतस्य ··लक्षणम्···'इतरसम्बन्धानवच्छिन्न-कार्यकारणादिरूप-द्वित्वप्रकारक-ज्ञान-प्रतियोगिताकाभाववत्त्वम्' इति। (शुद्धाद्वैतपरिष्कारः, पृ० ३९-४०)।

३. यथा अमित्रो न मित्रम्, न मित्राभावः, किन्तु मित्र-विरुद्धसम्पत्। यथा चाविद्या न विद्या, न विद्याभावः, किन्तु विद्या-विरुद्धं भावरूपमज्ञानम्, एवं प्रकाश-तदाश्रययोर-भेदोऽपि न भेदः, न भेदाभावः, किन्तु भेद-विरुद्ध-सम्पदेव भाव-रूप इति विभाव-नीयम्। (अ० प्र० ३.२.२८)।

४. न खलु अनन्यत्वमिति अभेदं ब्रूमः, किन्तु भेदं व्यासेधामः।
(ब्र० शा० भामती २.१.१४)।

५. ब्रह्मत्वेनैव जगतः सत्यत्वं नान्यथेति···अतो ब्रह्म-रूपेण सत्यस्य जगतो ब्रह्मैव समवायि-कारणम्। (अ० १.४.२३)।

किसी अन्यकी सहायताके विना, जडजीवात्मक जगत्के रूपमें ढाला है। इस सृष्टि-प्रक्रियामें ब्रह्म स्वय कर्ता भी है और कर्म भी, कारण भी है और कार्य भी। जिस प्रकार सुवर्ण और उससे बने हुए आभूषणों में सुवर्णत्व कारणदशा तथा कार्यदशा दोनोंमें अव्याहत है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मत्व भी जगत्की कारणदशा तथा कार्यदशा में समानरूपेण उपस्थित है क्योंकि जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि विविध स्वर्णाभूषण शुद्ध सुवर्णके अविकृत-परिणाम होते हैं उसी प्रकार विविध नामरूपात्मक जगत् भी ब्रह्मका अविकृत परिणाम है[1]।

* ३.५.० * श्रुतिमें 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६.८.७) इस पञ्चदशपदात्मक महावाक्यमें जड एवं जीव दोनोंके ही ब्रह्मात्मक होनेका उपदेश दिया गया है। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र० ४.१.१) इस व्याससूत्रमें इसे उपदेश कहा गया है, अतः यह मानना ही उचित है कि श्वेतकेतुको अनेकशः[2] उपदिष्ट यह पञ्चदशपदात्मक सम्पूर्ण महावाक्य ही उपदेश है और 'तत्त्वमसि' इस चतुरक्षर उपदेशांशको या 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६.८.७) इस अष्टपदात्मक वाक्यांशको महावाक्य मानना ठीक नहीं है। इस वाक्यमें पहले 'इदं सर्वं' पदोंसे जडका एवं तदनन्तर 'त्वं' पदसे जीवका सदात्मक या ब्रह्मात्मक होना तथा इस प्रकार ब्रह्मका सर्वरूप होना[3] प्रतिपादित किया गया है। जड और जीव दोनोंके सदात्मक होनेका हेतु 'स आत्मा' (अर्थात् वह सत् तत्त्व या ब्रह्म ही जड एवं जीव दोनोंकी आत्मा है) कह कर बताया गया है।[4] ब्रह्मके सभी पदार्थोंकी आत्मा होनेके इस सिद्धान्तका श्रीमद्भागवत आदिमें विशदतया निरूपण हुआ है[5]।

* ३.५.१ * श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार भक्तिके दो अंश हैं, भजनीयका

---

१. 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २.७) इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्'' अविकृतमेव परिणमते सुवर्णं सर्वाणि च तैजसानि'''तस्माद् ब्रह्म-परिणाम-लक्षणं कार्यमिति जगत्समवायिकारणत्वं ब्रह्मण एवेति सिद्धम्। (अ० १.४.२६)। अविकृत एव भगवान् सर्वं करोति। तादृशमेव भगवत्स्वरूपं, श्रुतिप्रामाण्यात्। (सुबो० ३.७.८)।

२. छा० ६.८.७; ६.९.४; ६.१०.३; ६.११.३; ६.१२.३; ६.१३.३; ६.१४.३ एवं ६.१५.३.

३. ब्रह्मणः सर्वरूपत्वमवयुज्य निरूपितम्। (तत्त्वा० १.६२)।

४. द्र०, तत्त्वा० शा० पृ० १९२-१९९.

५. सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः। (भाग० ८.१२.४)।
द्र०, भाग० २.१०.९; ५.११.१३, १४ आदि।

माहात्म्य एवं भजनीयका आत्मत्वेन ज्ञान। श्रुति ब्रह्मकर्तृक सृष्टिका निरूपण करके भक्तिके प्रथम अंशका, तथा 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा भजनीयके आत्मत्वेन ज्ञानका उपपादन कर भक्तिके द्वितीय अंशका प्रतिपादन करती है[1]। श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीकृष्णकी ब्रह्मासे यह उक्ति[2] कि 'हे विधातः! मैं आत्माओंका भी आत्मा और (स्त्री-पुत्रादि) प्रियोंका भी प्रिय हूँ। देहादि भी मेरे ही लिए प्रिय हैं। अतः मुझसे ही प्रेम करना चाहिए।' (भाग० ३.९.४२) इस सिद्धान्तको स्पष्टतया उपस्थापित कर देती है। इसीलिए, 'त्वयि धृतासवः त्वां विचिन्वते' (भाग० १०.३१.१) की सुबोधिनीमें श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि गोपियोंको अपने प्राण भी भगवान्‌के लिए ही प्रिय है[3]।

• ३.५.२ • भक्तिके पूर्वोक्त प्रथम अंश—भजनीयके माहात्म्य - की सिद्धिके लिए, सृष्टिके भगवत्कर्तृकत्व-निरूपणके माहात्म्यबोधमें उपयोगी होनेसे, श्रुतिमें सृष्टिके विविध प्रकार बताये गये हैं। अपने छः गुणों द्वारा भगवान् जो छः प्रकारकी लीला करते हैं उसका श्रुतिमें छः प्रकारसे होनेवाली सृष्टिके रूपमें उल्लेख है। अचिन्त्यानन्त-शक्तिसम्पन्न भगवान्‌के लिए अनेक प्रकारसे सृष्टि करना उपपन्न ही है[4]। सृष्टिके इन

---

१. द्र०, तत्त्वा० शा० पृ० १२२-१२३.

२ अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः॥ (भाग० ३.९.४२)।

३. त्वदर्थमेव धृता असवः प्राणा यैः। यदैव त्वदनुपयोगं ज्ञास्यन्ति, तदैव त्यक्ष्यन्ति इति भावः। अत एव त्वां विचिन्वते, प्राणान् आश्वसयितुम्। अल्पविलम्बेऽपि प्राणा गमिष्यन्तीति। (सुबो० १०.३१.१)।

४. बहु स्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती।
तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांश-चेतनाः॥ (तत्त्वा० १.२७)।
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया।
विस्फुलिङ्गा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि॥ (तत्त्वा० १.२८)।
आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः। (तत्त्वा० १.२९)।
जडो जीवोऽन्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मतः॥ (तत्त्वा० १.३०)॥
एवं कदाचिद् भगवान् साक्षात्सर्वं करोत्यजः॥
कदाचित्पुरुषद्वारा कदाचित्पुनरन्यथा। कदाचित्सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः॥
महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्मायया ऽसृजत्।
विषयादि जगत्सृष्ट्वा तदाविश्य स्वरूपतः। जीवान्तर्यामिभेदेन क्रीडति स्म हरिः क्वचित्॥
अचिन्त्यानन्तशक्तेस्तद् यदेतदुपपद्यते। अत एव श्रुतौ भेदाः सृष्टेरुक्ता ह्यनेकधा॥
(तत्त्वा० १.३९-४०)।

छः प्रकारोंका विवेचन हमने अपनी स्नेहप्रपूरणी व्याख्यामें किया है[1]। श्रुतियोंमें विविध प्रकारसे निरूपित यह सारी सृष्टि भगवत्कर्तृक, भगवदुपादानक एवं भगवद्रूप है।

• ३.५.३ • इस जडजीवाद्यात्मक जगत् एवं ब्रह्म की प्रतीतिके उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ तीन प्रकारोंका श्रीमद्भागवतमें[2] उल्लेख है जिसे स्पष्ट करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि उत्तम प्रतीति 'इदं विश्वं भगवान्' की है जिसमें विश्वको उद्देश्य बनाकर भगवत्त्वका विधान होता है। मध्यम प्रतीति 'इदं विश्वं भगवानिव' की है, जिसके अनुसार विश्व भगवद्रूप तो नहीं किन्तु भगवत्सदृश है और इसीलिए इसकी सम्माननादिक उचित है परन्तु इसमें आसक्ति रखना ठीक नहीं है। तीसरे प्रकारकी प्रतीति 'इदं विश्वं, भगवानितरः' अर्थात् 'यह विश्व है; भगवान् इससे भिन्न है' इत्याकारिका होती है। इस निकृष्ट-कोटिकी प्रतीतिवाला प्रपञ्चदर्शी जगत्को भगवदितर मानकर बहिर्मुख एवं भ्रष्ट हो जाता है[3]।

* ३.६.० * अपने मूलरूपमें ब्रह्म अनिर्वचनीय है[4] और इन्द्रियाँ अपने स्वरूप-सामर्थ्यसे उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकतीं, किन्तु जब वह स्वेच्छासे इन्द्रियोंके ग्रहणका विषय बन कर आविर्भूत हो जाता है तो दृश्य अर्थात् इन्द्रियग्राह्य हो जाता है[5]।

* ३.६.१ * उस सच्चिदानन्दात्मक तत्त्वको श्रुतिके,

---

१. द्र०, तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी, पृ० ९५-१२२.

२. इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थान-निरोध-सम्भवाः। (भाग० १.२.२०)।

३. 'इदं विश्वं भगवान्।' विश्वमनूद्य भगवत्त्वं विधीयते। तथा सति सर्वत्र भगवद्-दृष्टिश्चेत्कृतार्थो भवतीति कार्यं भगवत्त्वेन निरूपितम्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छा० ३.१४.१) इतिश्रुतिः 'हि' शब्देन सूचिता। उत्तम-मध्यमाधमाधिकारिभेदेन त्रैधाऽत्र निरूपणम्। तत्र उत्तमे निरूपितम्। मध्यमे त्वेवम्। 'इदं विश्वं भगवानिव,' न तु भगवान्। तेनाऽत्र सम्माननादिकं कर्तव्यं नाऽऽसक्तिरिति। निकृष्टे तु 'इदं विश्वं, भगवानितरः,' अस्मादन्यः। अतः प्रपञ्चदर्शी बहिर्मुखो भ्रष्टो भवतीति। (सुबो० १.५.२०)।

४. न यस्य साक्षाद् भव-पद्मजादिभी रूपं क्रिया वस्तुतयोपवर्णितम्।
मौनेन भक्त्युपशमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥ (भाग० ७.१०.५०)।

५. इन्द्रियाणां तु सामर्थ्याददृश्यं स्वेच्छया तु तत्॥ (तत्त्वा० १.७२)।
चक्षुः न स्वसामर्थ्येन भगवन्तं विषयीकरोति, किन्तु भगवदिच्छयैव 'मां सर्वे पश्यन्तु' इत्येतद्रूपया तद् दृश्यम्। (तत्त्वा० प्र० १.७२)।
द्र०, तत्त्वा० शा० पृ० २२६-२४४.

'कृषिर्भूवाचकः प्रोक्तो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥
ॐ तत्सत् । परं ब्रह्म कृष्णात्मको नित्यानन्दैकस्वरूपः सोऽहम् ।
ॐ तद् गोपाल एवं परं सत्यमवाधितम् ।' (गोपालोत्तरता० १), तथा
'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे' (गोपालपूर्वता० २) इत्यादि वाक्योंमें कृष्ण कहा गया है, अत एव श्रीवल्लभाचार्यने भी कहा है कि 'कृष्ण निश्चय ही परब्रह्म हैं' ('परं ब्रह्म तु कृष्णो हि'—सि० मु० ३)। वह प्राकृतपाणिपादादिरहित एवं अप्राकृत धर्मोंके आधार हैं। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार ब्रह्ममें धर्मों या गुणों के होनेका निषेध करने वाले वाक्योंका अभिप्राय उसमें लोकमें प्रतीत या उपलब्ध होनेवाले (अर्थात् लौकिक या प्राकृत स्थूलत्वादि) गुणोंका ही निषेध करना है, न कि अप्रतीत (अर्थात् लोकमें उपलब्ध न होनेवाले, अलौकिक, दिव्य) गुणोंका या श्रुतिप्रतीत (अर्थात् श्रुतिमें ब्रह्मके धर्मके रूपमें प्रतिपादित) धर्मों या गुणों का निषेध करना[1]। क्षर एवं अक्षर दोनोंसे अतीत, परमकाष्ठापन्न कृष्ण पुरुषोत्तमपदवाच्य हैं[2]। उनके सभी अलौकिक धर्म एवं लीलाएँ नित्य हैं। जैसा कि ब्रह्मवैवर्त-पुराणके 'श्रीकृष्ण वैकुण्ठ और गोकुलमें परिपूर्णतम अर्थात् अपने पूर्णपुरुषोतम रूपमें विद्यमान हैं। वे वैकुण्ठमें चतुर्भुज-रूपमें और गोकुलमें द्विभुज-रूपमें विद्यमान हैं',[3] इत्यादि वाक्योंमें कहा गया है, वे भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज, चतुर्भुज आदि रूपोंमें बृहद्वन, वृन्दावन एवं व्यापिवैकुण्ठ आदिमें अपने भक्तोंके साथ सदा विराजमान रहते हैं[4]। श्रीवल्लभाचार्य हमें आत्मानन्द (अर्थात् सच्चिदानन्दविग्रह भगवान्के अपने भगवदीय आनन्द) के समुद्रमें स्थित इन श्रीकृष्णका ही चिन्तन करनेका उपदेश देते हैं[5]। भगवान्की सर्वरूपताका निरूपण[6] करनेके बाद वे कहते हैं कि भगवान्के किसी भी रूपका भजन करनेसे फलप्राप्ति होती है किन्तु 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २.१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें उल्लिखित मुख्यफलकी प्राप्तिके इच्छुक व्यक्तिको मूलरूप अर्थात् आदिमूर्ति कृष्ण की ही भक्ति करनी चाहिए[7]।

---

१. प्रतीतं च निषेध्यम्; नाप्रतीतं, न श्रुति-प्रतीतम्। (अ० १.१.२)।
२. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (गीता १५.१८)।
३. परिपूर्णतम कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयम् । चतुर्भुजश्च वैकुण्ठे गोकुले द्विभुजः स्वयम्॥
४. द्र०, प्र० र०, पृ० ५२-५३.
५. आत्मानन्द-समुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् । (सि० मु० १५)।
६. द्र०, ऊपर पृ० ९४-९५ तथा तत्त्वा० शा० पृ० ३८-४२.
७. भजनं सर्वरूपेषु फल-सिद्धयै तथापि तु ।
आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया ॥ (तत्त्वा० १.१३)।

* ३.६.२ * कृष्णकी भक्तिसे निर्गुण मुक्ति प्राप्त होती है और अन्य देवताओंकी भक्तिसे सगुण मुक्ति मिलती है[1]। ज्ञान-मार्गसे होनेवाली मुक्ति और जीवन्मुक्ति भी सगुण ही है क्योंकि ज्ञानमार्ग सगुण है[2]। अतएव श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि जो साधक ज्ञानमार्गमें प्रवृत्त होकर, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेके बाद ज्ञाननिष्ठाका परित्याग कर कृष्णभक्तिमें प्रयत्नशील हो जाते हैं उनसे बढ़कर कोई अन्य साधक नहीं है। उनके अनुसार यद्यपि ज्ञानमार्गमें भी विषय तो निर्गुण (अक्षर ब्रह्म) ही होता है तथापि ज्ञानके सत्त्वगुणजन्य होनेके कारण मार्ग सगुण ही है।

* ३.६.३ * इसीलिए निर्गुण भक्तिमार्ग ज्ञानमार्गकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। ज्ञानमार्गमें एक अन्य न्यूनता यह है कि उसमें साधककी क्रियाशक्तिका और उसकी इन्द्रियोंका उपयुक्त उपयोग नहीं होता जबकि भक्तिमार्गमें उनका पूर्ण उपयोग होता है। अतः कृतकृत्यता भक्तिमार्गका अनुसरण करते हुए कृष्णकी सेवा करनेमें ही है[3]।

* ३.७.० * श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार यह ब्रह्म आविर्भाव एवं तिरोभाव—जो उसकी शक्तियाँ हैं[4] – के द्वारा विभिन्न रूपोंमें मोहन करता है[5]। इस आविर्भाव

विभूतिरूपेषु साधनानि फलानि च व्यवस्थया कृतानि, पूर्णफलदानं च स्वस्मिन्। अतो भजनं मूलरूप एव कर्तव्यम्। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २.१) इत्यत्र यत्सायुज्यं मुख्यतया निरूपितं तत्कामनायां सत्यां कृष्ण एव सेव्यः। कृष्णपदेन च बहिर्भजनमेव मुख्यमिति निरूपितम्। 'यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै० २.१) इति तु ज्ञान-मार्गे। (तत्त्वा० प्र० १.१३)। द्र०, तत्त्वा० शा० स्नेहप्रपूरणी, पृ० ४२-४६.

१. निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा साऽन्यसेवया। (तत्त्वा० १.१४)।
सायुज्य मुक्तिः। निर्गुणे सायुज्ये निर्गुणा भवति, सगुणे सगुणा। भगवद्व्यतिरिक्ताः सर्व एव ···सगुणाः···। ···'तं भजन्निर्गुणो भवेद्' (भाग० १०.८८.५) इतिवाक्यात् कृष्णसायुज्यम् एव निर्गुणा मुक्तिः। (तत्त्वा० प्र० १.१४)।

२. ज्ञानेऽपि सात्त्विकी मुक्तिः जीवन्मुक्तिरथापि वा। (तत्त्वा० १.१४)।
ज्ञानमार्गः सगुण एव, 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्' (गीता १४.१७) इतिवाक्यात्। अत एव ज्ञानिनो भीताः संसाराद् विरक्ता भवन्ति। (तत्त्वा० प्र० १.१४)।

३. ज्ञानी चेद् भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः॥ (तत्त्वा० १.१४)।
यस्तु ज्ञानमार्गे प्रवृत्तः प्राप्तज्ञानः कृष्णसेवार्थं यतते तन्निष्ठां परित्यज्य, स महान्। ···यद्यपि ज्ञानमार्गेऽपि विषयो निर्गुणः तथापि मार्गः सगुणः इति भक्तिमार्गस्य उत्कर्षः। क्रियाशक्तेरिन्द्रियाणां च वैफल्यं ज्ञानमार्गे। तस्माद् भक्तिमार्गानुसारेण कृष्ण एव सर्वेषां सेव्यः। (तत्त्वा० प्र० १.१४)।

४. आविर्भाव-तिरोभावौ शक्ती वे मुर-वैरिणः। (तत्त्वा० २.१४०)।

५. आविर्भाव-तिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः। (तत्त्वा० १.७२)।

एवं तिरोभाव का शब्दतः उल्लेख 'आत्मत आविर्भाव-तिरोभावौ' (छा० ७.२६.१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें (तथा ब्रह्मसूत्रों[1] में) और इस सिद्धान्तका प्रतिपादन 'तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत, असौनामायम् इदंरूप इति' (बृ० १ ४ ७) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें हुआ है। पौराणिक-परम्परामें[2] भी इसका निरूपण मिलता है। श्रीवल्लभाचार्यने इस सिद्धान्तका विस्तारसे प्रतिपादन किया है[3]।

* ३ ७.१ * 'बहु स्यां प्रजायेय' अर्थात् 'मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ' (तै० २.६; छा० ६ २.३) इत्यादि श्रुति-वाक्योंमें निरूपित उस ब्रह्मकी इच्छासे उसके एक अन्य रूपका आविर्भाव होता है जो सभी कारणोंका कारण होता है[4]। ब्रह्मके इस रूपमें आनन्दांश तिरोहित सा हो जाता है। इसे अक्षर-ब्रह्म कहा गया है। भगवद्गीता (८ २१) एवं श्रीमद्भागवत (३.११.४१) में इसको भगवान्का परमधाम कहा गया है। यह अधिकारि-भेदसे दो रूपोंमें स्फुरित होता है। भक्तोंको इसकी प्रतीति पुरुषोत्तम-धाम, व्यापि-वैकुण्ठ लोक आदिके रूपमें होती है[5]। ज्ञानियोंको यह सच्चिदानन्द, देशकालापरिच्छिन्न, स्वयंप्रकाश एवं गुणातीत रूपमें प्रतीत होता है[6]। भक्तोंको अक्षरके जिस रूपकी प्रतीति होती है उसमें भगवान्के कुछ गुण प्रकट रहते हैं एवं अन्य गुण तिरोहित रहते हैं किन्तु ज्ञानियोंको अक्षरकी जिस रूपमें प्रतीति होती है उस रूपमें सभी भगवदीय धर्मोंका तिरोभाव रहता है और केवल तिरोधान-शक्ति

---

१. द्र०, ब्र० १.३.१९ एवं ४.४.१ और उनपर अणुभाष्य।

२. तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भाव तिरोभाव-जन्म-नाश-विकल्पवत् ॥ (विष्णु० १.२२.६०)।

३. सर्वाकार-स्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः। वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यजः ॥
मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम्। मूलेच्छातस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तदा ॥
तिरोभावस्तथैव स्याद् रूपान्तर-विभेदतः ॥ (तत्त्वा० २.१४१-१४२)।
द्र०, तत्त्वा० प्र० २.१४०-१४२ एवं उसकी आवरणभङ्ग-व्याख्या।

४. तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्। विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः ॥
(भाग० ३.११.४१)।

५. प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः। (तत्त्वा० २.१०२)।
यदा भगवान् ईश्वरत्वेन तेषां हृदये जातः तदा अक्षरमपि लोकत्वेनाविर्भूतम्।
(सुबो० १०.२८.१४)। द्र०, भाग० १०.२८.१४-१५.

६. सच्चिदानन्दत्व-देशकालापरिच्छेद-स्वयंप्रकाशत्व-गुणातीतत्वादि-धर्मत्वेन एव ज्ञानि-नामक्षरविज्ञानं, भक्तानामेव पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन तथेति ज्ञेयम्, 'मल्लानामशनिः' (भाग० १०.४३.१७) इति-श्लोकोक्तरीत्या पुरुषोत्तमस्य इव। (अ० ३.३.५४)।

ही प्रकट रहती है। इसीलिए ज्ञानियोंके प्रतीति-विषय इस अक्षर-ब्रह्मको निर्धर्मक कहा जाता है। अक्षर-ब्रह्मके इसी निर्धर्मक स्वरूपका निरूपण करते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि 'ज्ञानी पुरुष उस मूलभूत पदको संसुप्तके समान, शून्यके समान और तर्कागम्य मानते हैं[1]' (भाग० १२.४.२१) तथा 'परम पुरुष भगवान्का वह पद जिसे ज्ञानी लोग ब्रह्मके रूपमें जानते हैं किसी भी शब्द, कारक, क्रिया, धातु या प्रत्यय का अर्थ या विषय नहीं है। माया उससे लज्जित होकर दूर भागती है। वह परमानन्दरूप एवं दुःखाभावरूप है।' (भाग० २.७.४७-४८)[2]। इस प्रकार ब्रह्मका यह रूप सर्वव्यवहारातीत है जिसकी सारी शक्तियाँ तिरोहित हैं। श्रीमद्भगवद्गीताके 'जो लोग अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रगामी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव अक्षर-तत्त्वकी उपासना करते हैं' (गीता १२.३) इस वाक्यमें ब्रह्मके इसी स्वरूपका उल्लेख या निरूपण किया गया है।

* २.७.२ * उपर्युक्त पुरुषोत्तमके ही स्वरूप-नियमन आदि कार्योंकी सिद्धिके लिए सूर्यमण्डल आदि तथा पृथिवीके अधिदैव आदि में स्थित रूपको 'अन्तर्यामी' शब्दसे अभिहित किया जाता है[3]। इस अन्तर्यामीका अभिधान 'पुरुष' शब्दसे भी किया जाता है[4]। यह मत्स्यादि सभी लीलावतारों[5]का मूल है। 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' अर्थात् 'ये उस पुरुषके अंश एवं उसकी कलाएँ हैं। कृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं' (भाग० १.३.२८) इत्यादि वाक्योंमें 'पुरुष' शब्दसे इसी अन्तर्यामीका उल्लेख किया गया है[6]। 'य आदित्ये तिष्ठन् ·· ·· एष त आत्मान्तर्या-

---

१. संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति। (भाग० १२.४.२१)।

२. शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम्॥ (भाग० २.७.४७-४८)। द्र०, सुबो० २.७.४७-४८.

३. द्र०, बृ० ३.७.१-९; ब्र० १.१.२०; १.२.१८; अ० १.१.२०, १.२.१८; तथा प्र० र० पृ० ६२-६४.

४. 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
प्रथमं महतः स्रष्टृ, द्वितीयं त्वण्ड-संस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥' द्र०, प्र० र०, पृ० ६४.

५. यद्यपि 'भगवत्सृष्टौ सर्वमेव अवताररूपम्' इति मुख्यः पक्षः, तथापि तादृशस्य अवतारत्वेन लोकप्रसिद्ध्यभावाल्लोके यान् अवतारान् प्राधान्येन मुख्यतया वदन्ति तेषां लीलावतारेति नाम। (सुबो० २.६.४५)।

६. पुंसो=नारायणस्य ब्रह्माण्डमूर्तेः अंशाः कलाश्च। (सुबो० १.३.२८)।

म्यमृतः' (बृ० ३.७.९) इत्यादि वाक्योंमें निरूपित इसी अन्तर्यामीकी आदित्यहृदयके,
'ध्येयः सदा सवितृ-मण्डल-मध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन-सन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुः धृतशङ्खचक्रः॥'
इस श्लोकमें 'नारायण' पदसे अभिहित किया गया है। इस प्रकार पुरुषोत्तमका एक रूपान्तर अन्तर्यामी है। सभी अवतार इस अन्तर्यामीके ही हैं[1]।

इस मुख्य अन्तर्यामीके अंशरूप, आनन्दप्रधान, प्रतिशरीरभिन्न, नियत-नियामक अन्तर्यामी उन जीवोंके नियामक होते हैं जिनमें वे अन्तर्यामी होते हैं। इनके अक्षरसे निर्गमनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है[2]।

* ३.७.३ * श्रीमद्भागवतके 'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः' अर्थात् 'सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन निर्गुण पुरुषके तीन गुण हैं' (भाग० २.५.१८) इत्यादि वाक्योंमें जिन सत्त्व आदिका उल्लेख है वे निर्गुण भगवान्के गुण हैं[3], प्राकृत गुण नहीं[4]। उनका स्वरूप प्राकृत गुणोंसे भिन्न है। इस अप्राकृतिक सत्त्वको ही शुद्ध सत्त्व या विशुद्ध सत्त्व कहा गया है[5]। प्राकृत सत्त्वका रूप सांख्य दर्शनमें श्वेत माना

---

१. एतन्नानावतारागां निधानं बीजमव्ययम्। (भाग० १.३.५)।
ते च पुनरवतारा: कस्य इत्यपेक्षायां यस्तु भूमा पुरुषो ब्रह्माण्डादधिकः अन्तर्यामिरूपः··· तस्य अवतारा:। (सुबो० २.६.४५)।
अन्तर्यामि-स्वरूपे 'प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्' (भाग० २.२.२८) इत्यादि-पदैः यन्निरूपितं भगवत्स्वरूपं तस्य अत्र अवतारा उच्यन्ते। (सुबो० २.७.१)।

२. द्र०, ऊपर पृ० ११९ टि० ४ तथा प्र० र० पृ० ६८.

३. यथा ऊर्णनाभिः सृष्ट्यर्थम् एकाम् ऊर्णाम् उद्वमते तथा भगवानपि त्रिविध-सृष्ट्यर्थं त्रीन् गुणान् उद्वमते। गुणरूपत्वाच्च गुण-शब्द-व्यवहारः। सद्रूपेण निर्गतं सत्त्वम् इत्युच्यते। केवल-चिद्रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानत्वात् सदानन्दभावाच्च रज इत्युच्यते। आनन्दांशाच्च तमः। ते भगवद्रूपा एव भगवता सृष्टाः। न च भगवति ते पूर्वं स्थिताः। तथा सति भगवदात्मकाः ते न भवेयुः। यथा कार्पासे न हि सूत्रम्। तदेव हि पश्चात् स्वावयवैः पौर्वापर्यमापद्यमानं सूत्रतामापद्यते। अत एव भगवान्निर्गुणः। (सुबो० २.५.१८)।

४. ते गुणाश्च अप्राकृताः सच्चिदानन्द-धर्म-रूपाः प्राकृतेभ्यो भिन्नाः। अन्यथा··· गुणावताराश्च भगवतो अप्राकृता न भवेयुः। (सुबो० १०.२७.४)।

५. विशुद्ध-सत्त्वं तव धाम शान्तम्। (भाग० १०.२७.४)।
सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ। (भाग० १०.२.३४)।
सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः। (भाग० १०.८९.१८)।
सत्त्वं विशुद्ध वसुदेव-शब्दितम्। (भाग० ४.३.२३)।

गया है किन्तु विशुद्ध सत्त्वपर यह बात लागू नहीं होती। श्रीमद्भागवतका अनुसरण करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि ये अप्राकृत सत्त्व, रजस् एवं तमस् क्रमशः श्याम, रक्त एवं श्वेत वर्णके है[1]।

* ३.७.४ * भगवान् जब मत्स्यादि रूपमें अवतरित होना चाहते हैं तो इसी अप्राकृत सत्त्वको अपनी अभिलषित मत्स्यादि आकृतिका करके उसमें लौह-पिण्डमें अग्निके समान आविर्भूत होकर उस अवतारके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्योंको करते हैं। इस विशुद्ध-सत्त्वात्मक विग्रहमें जगत्की स्थिति अर्थात् प्रपञ्चका पालन-पोषण करनेकी इच्छासे वह्नययोगोलक-न्यायसे प्रविष्ट होकर वे 'विष्णु' इस नामको धारण करते हैं। यह गुणावतार कहा जाता है। इसी प्रकार वे अन्य गुणावतार भी ग्रहण करते हैं। शरीराकारमें परिणत अप्राकृत रजोगुणमें वह्नयोगोलक-न्यायसे प्रविष्ट होकर भगवान् 'ब्रह्मा' इस नामको धारण करते हैं तथा देहाकारमें परिणत अप्राकृत तमोगुणमें उक्त न्यायसे प्रविष्ट होकर वे 'शिव' शब्दके वाच्य हो जाते हैं। इस प्रकार विष्णु, ब्रह्मा एवं शिव गुणावतार कहे जाते हैं। ये तीनों गुणावतार अप्राकृत शरीर वाले होते हुए भी (पूर्वोक्त भगवद्धर्मरूप सत्त्वादिसे भिन्न) प्राकृत सत्त्वादि-गुणोंके नियामक होनेके कारण सगुण कहलाते हैं। ये गुणावतार अपने अंशोंसे अभिन्न हैं। इसीलिए पुराणोंमें इनकी स्तुति परब्रह्मके धर्मोंसे सम्पन्नरूपमें उपलब्ध होती है। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार श्रेयोऽर्थी व्यक्तिको श्रीमद्भागवतके 'श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः' (भाग० १.२.२३) इत्यादि वाक्योंका अनुसरण करते हुए सत्त्वमूर्ति विष्णुको अन्य गुणावतारोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट समझना चाहिए।

* ३.७.५ * उपर्युक्त प्रकारसे वेदान्त-प्रतिपाद्य इस अलौकिक प्रमेयके मूल-रूपके श्रीकृष्णपदवाच्य पुरुषोत्तम, द्विप्रकारक अक्षर, एवं अन्तर्यामी इस चातुर्विध्यका निरूपण श्रीवल्लभाचार्यने किया है। उन्होंने श्रीमद्भागवतके 'न तत्र कालो विशते न वेदः' (भाग० ८.१३.४४) इत्यादि वाक्योंका अनुसरण करते हुए इसके कालातीत एवं लोकवेदातीत स्वरूपका प्रतिपादन भी किया है।

* ३.८.० * उक्त प्रकारसे प्रमेय ब्रह्मतत्त्वका निरूपण कर श्रीवल्लभाचार्यने पञ्चाङ्गयुक्त होकर उसकी भक्ति करते हुए सिद्धि प्राप्त करनेका उपदेश दिया है। वे

---

१. सत्त्वरजस्तमसां नील-रक्त-श्वेत-रूपता इति गुणावतार-वाक्यैर्निर्णीयते।
(तत्त्वा० प्र० १.७३)।

तु०, 'कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानी-सहितं नमामि॥'
द्र०, तत्त्वा० शा० पृ० २२९-२३३.

कहते हैं कि 'वैराग्य, ज्ञान, योग, प्रेम और तप, इन पाँच अङ्गोंसे युक्त होकर भगवद्-भजन करते हुए सिद्धि प्राप्त करे। इन पाँचोंमेंसे किसी एक दृढ अङ्गसे युक्त होकर भगवद्भजन करनेसे भी सिद्धि (अर्थात् मुक्ति) मिल जाती है।' 'वैराग्य' के अभावमें भगवदावेश नहीं होता और उसके अभावमें भजन सिद्ध नहीं होता अतः वह प्रथम अङ्ग है। द्वितीय अङ्ग 'ज्ञान' से तात्पर्य सभी पदार्थों एवं भगवान् के यथार्थ स्वरूपके सम्यक् अवबोधसे है। ज्ञानके अभावमें निश्चय नहीं होता और निश्चयके अभावमें भगवद्भजनमें प्रवृत्ति नहीं होती। चित्तवृत्ति-निरोधरूप योगके अभावमें मन चञ्चल बना रहता है और ऐसी स्थितिमें भगवद्भजन नहीं किया जा सकता, अतः वह तृतीय अङ्ग है। प्रेमके अभावमें रसाभिव्यक्ति न हो सकनेके कारण स्वतन्त्र-पुरुषार्थ मानी जानेवाली भक्ति नहीं हो सकती, अतः 'प्रेम' चतुर्थ अङ्ग है। तपके विना देहेन्द्रियादि अपरिपक्व अर्थात् अपरिष्कृत ही रहते हैं और उनके परिपक्व अर्थात् सुसंस्कृत हुए विना भगवद्भजन सम्भव नहीं है, अतः 'तप' को पाँचवाँ अङ्ग कहा गया है। इन पाँचों साधनोंका सम्पादन कर पाना दुःसाध्य है, अतः गौणपक्षका प्रतिपादन करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि इनमेंसे किसी एक अङ्गके द्वारा भी भगवद्भजन करनेसे मोक्षप्राप्ति हो सकती है, किन्तु वह साधन दृढत्व-रूप वैशिष्ट्यसे सम्पन्न होना चाहिए[1]।

* ३.८.१ * भगवद्भक्तिके प्रकारका विवेचन करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि सर्वोत्तम भक्ति तो शुद्ध एवं स्वतन्त्र होती है। यह अविहित, फलरूप या स्वतः-पुरुषार्थरूप होती है। इसका प्रादुर्भाव प्रमेयमर्यादासे होता है और यह अत्यन्त दुर्लभ है[2]। प्रमाणमर्यादाकी दृष्टिसे भक्तिका सर्वोत्तम रूप वह है जिसका उल्लेख, 'ज्ञानी चेद् भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः' (तत्त्वा० १.१४) इत्यादि वाक्यों द्वारा (ऊपर पृष्ठ १२२ पर) किया गया है। इसका स्वरूप 'सब कुछ भगवान्से ही उत्पन्न होता है' इस गौण वैदिक ज्ञान, तथा 'सब कुछ भगवान् ही हैं' इस मुख्य वैदिक ज्ञान से सम्पन्न होकर सुदृढ-स्नेहसहित श्रवणादि-साधनोंसे भगवत्सेवा करना है। उक्त ज्ञानके अभावमें उत्कट-स्नेहके साथ की जाने वाली भक्ति मध्यम कोटिकी है। इसी प्रकार सुदृढ-स्नेहके अभावमें ज्ञानपूर्वक की जानेवाली भक्ति भी मध्यम कोटिकी ही होती है। उक्त ज्ञान एवं उत्कट स्नेह, इन दोनोंसे रहित व्यक्तिके श्रवणकीर्तनादिको भक्तिमार्गीय नहीं स्वीकार किया जा सकता। उससे पापनाश या धर्म भले ही होता हो

---

१. वैराग्य-ज्ञान-योगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा। एकेनापि दृढेनेशं भजन् सिद्धिमवाप्नुयात्॥ (तत्त्वा० १.९५)। द्र०, तत्त्वा० प्र० १.९५.

२. 'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते॥' (तत्त्वा० २.१९६)।
स्वतः पुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः स्वतन्त्रा इत्युच्यते। - दुर्लभेति न सोच्यते। सन्ति ब्रह्मभावं प्राप्ताः, न तु एतादृशा भक्ता इति। (तत्त्वा० प्र० २.१९६)।

वह भक्ति नहीं है और उससे भक्तिमार्गीय फल प्राप्त होनेकी आशा नहीं की जा सकती।[1]

* ३.९.० * इस प्रकार इस अध्यायमें शुद्धाद्वैत-दर्शन एवं पुष्टिमार्ग के व्यावर्तक लक्षण माने जाने वाले उन सिद्धान्तोंका निरूपण एवं विवेचन करनेका प्रयत्न किया गया है जिन्हें आधार बना कर विद्वन्मण्डनका प्रणयन हुआ है। इन सिद्धान्तोंमें शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद, ब्रह्मको विरुद्ध-धर्माश्रय मानना, उसे अभिन्न-निमित्तोपादान कारण मानना, कारण एवं कार्य दोनोंको सत् मानना, प्रपञ्च एवं संसार में भेद मानना, ब्रह्मका आविर्भाव एवं तिरोभाव स्वीकार करना, कार्य और कारण तथा अंश और अंशी में तादात्म्य मानना, भक्तिको साधनमात्र न समझकर फलात्मिका मानना, एवं अविकृत-स्वरूप-परिणामवाद और लीलार्थ-सृष्टिवाद प्रमुख हैं। यद्यपि इन्हें वाल्लभमतका वैशिष्ट्य माना जाता है तथापि स्वयं श्रीवल्लभाचार्य इन सिद्धान्तोंके उद्भावक होनेका दावा नहीं करते। वे स्वयंको वैदिक एवं वैष्णव-तन्त्रकी परम्पराओंका संवाहक एवं व्याख्याकार ही मानते हैं। हमने अपने विवेचनमें उक्त सिद्धान्तोंके परम्पराप्राप्त होनेका निर्देश किया है। इस सन्दर्भमें अधिक विचार हम आगामी अध्यायोंमें तत्तत् सिद्धान्तोंके विवेचनके प्रसङ्गमें करेंगे।

---

१. एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः॥ (तत्त्वा० १.१०१)।
प्रेमाभावे मध्यमः स्यात् ज्ञानाभावे तथाऽऽदिमः।
उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो भवेत्॥ (तत्त्वा० १.१०२)।
ज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजने मध्यमः। प्रेमाभावे मध्यमः इति वा।...उभयोः अभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं धर्मत्वं वा, न तु भक्तिमार्गः।
(तत्त्वा० प्र० १.१०१–१०२)।

ब्रह्म-विचार

* ४.०.० * विद्वन्मण्डनकारने ग्रन्थके मङ्गलाचरणमें ही इस वल्लभ-सिद्धान्तका सङ्केत कर दिया है कि सच्चिदानन्दरसमय श्रीकृष्णका प्रकट हो जाना ही परम फल एवं चरम पुरुषार्थ की प्राप्ति है। (द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ ४८)।

* ४.१.० * यह श्रीकृष्ण तत्त्व वेदार्थरूप है इसका प्रतिपादन श्रीवल्लभाचार्यने अपने तत्त्वार्थ-दीपनिबन्धमें किया है। श्रीकृष्ण अग्निहोत्रादिभेदसे पञ्चात्मक या पञ्चरूप हैं और प्रकृति-विकृतिभेदसे द्विरूप। 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि श्रुतिवाक्यों एवं 'मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्' (भाग० ११.२१.४२) इत्यादि श्रीमद्भागवतके वाक्यों में यागोंके भगवत्त्वका उल्लेख उपलब्ध होता है। याग एवं तत्साधनभूत, तत्फलोपकारी या तत्स्वरूपोकारी जो कुछ भी है वह सब भी भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।[1] ब्रह्मके रूपमें वे उत्तरकाण्डके अर्थ हैं। इन रूपोंमें ब्रह्मरूप श्रेष्ठ है[2]।

* ४.१.१ * श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार साक्षात् पुरुषार्थ 'दुःखाभाव' एवं 'सुख' के भेदसे द्विविध है। पुरुषार्थ-पर्यवसायी वेदमें दुःखाभावका प्रतिपादन मोक्षके रूपमें एवं सुखका उपपादन स्वर्गादिके रूपमें हुआ है। धर्म—जिसकी सिद्धिमें अर्थ

---

१. तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत्। (तत्त्वा० २.३)।
साध्यरूप एव स हरिः साधनरूपोऽपि। चकारात् साध्यसाधनरूपोऽपि।··· यत्किञ्चित् तत्फलोपकारि स्वरूपोपकारि वा, नातोऽन्यदस्तीत्यर्थः। (तत्त्वा० प्र० २.३)।

२. पञ्चात्मकं द्विरूपञ्च साधनैर्बहुरूपकम्।
स्वानन्ददायकं कृष्णं ब्रह्मरूपं परं स्तुमः॥
अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा।
चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात्पञ्चविधो हरिः॥ (तत्त्वा० २.१-२)
वेदार्थरूपं भगवन्तं 'स्तौति। ··अग्निहोत्रादि-भेदेन पञ्चरूपत्वम्। तेषां प्रकृति-विकृति-भेदेन द्विरूपत्वम्।' 'धर्मरूपेणैव फलदानं भविष्यतीत्याशङ्क्य ईश्वररूपेणैव फलदानम् इत्याह 'कृष्णम्' इति। उत्तरकाण्डार्थमाह 'ब्रह्मरूपम्' इति।·· तयो रूपयोत्तरं श्रेष्ठम् इत्याह 'परम्' इति।·· एतेषां क्रियारूपत्वेन भगवत्प्रीतिसाधकत्वं, न भगवत्त्वम् इत्याशङ्क्याह 'पञ्चविधो हरिः' इति।
(तत्त्वा० प्र० २.१–२)।

साधक है – उनका अङ्ग है।[१] पश्वादिरूप अर्थ, यागादिरूप धर्मका साधन है। यागादिरूप धर्म, कामका साधन है; और ज्ञानसहित धर्म मोक्षका साधन है[२]। इस प्रकार परम्परया पुरुषार्थ चतुर्विध है। अवधेय है कि इन चार पुरुषार्थोंमें ज्ञानका उल्लेख नहीं है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २.४.५) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें आत्म-चिन्तन आदिको मोक्षका साधन बताया गया है; किन्तु जैसा कि याज्ञवल्क्य-स्मृतिके 'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मचिन्तनम्' इत्यादि वाक्योंमें कहा गया है, यह आत्म-चिन्तनादिरूप ज्ञान धर्मान्तःपाती ही है। अतएव चार पुरुषार्थोंमें धर्मको ही गिना गया है, ज्ञानको नहीं[३]।

भगवदानन्दरूप फल तो उन्हें ही प्राप्त होता है जो यागादिरूप कर्मको उपर्युक्त प्रकारसे ब्रह्मज्ञानयुक्त होकर करते हैं। ब्रह्मज्ञानरहित व्यक्ति द्वारा किया गया यज्ञ उसे केवल स्वर्गसुख ही प्रदान कर सकता है। स्वर्गसुख आत्मसुखरूप है, परमात्मसुखरूप नहीं[४]। ध्यानादि-सहित की गयी वेदबोधित आधानादि क्रियाओंसे यज्ञस्वरूप यज्ञमूर्ति भगवान्‌का प्राकट्य होता है और ध्यान-धारणादि द्वारा आनन्दरूप परमात्माकी भगवन्मूर्तिका प्राकट्य होता है[५]।

इस प्रकार श्रुति साधनरूप तथा फलरूप उभयात्मक एवं उभयविध श्रीहरिका निरूपण करती है। भगवान् स्वयं पुरुषार्थरूप हैं अतः उनके प्रकट हो जानेपर सारे पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं[६] और कृतकृत्यता हो जाती है।

---

१. दुःखाभाव सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतम्।
मोक्षः कामस्तयोरङ्गं धर्मो ह्यर्थेन साधितः॥ (तत्त्वा० २.१६)।
पुरुषार्थपर्यवसायी वेदः। पुरुषार्थाश्च चत्वारः। तत्र साक्षात्पुरुषार्थद्वयम्, सुखं दुःखाभावश्चेति। तत्र सुखं स्वर्गादिपदेनोच्यते। दुःखाभावो मोक्षपदेन। तयोः साक्षादङ्गं धर्मः। ·· धर्मस्य च साधनमर्थः। (तत्त्वा० प्र० २.१६)।
द्र०, भाग० १.२.९–१०.

२. पश्वादिरर्थो यागसाधनम्। यागश्च धर्मः कामसाधनम्, ज्ञानसहितो मोक्षसाधनञ्च। (तत्त्वा० प्र० २.१६)।

३. आत्मचिन्तनस्यापि धर्मत्वात् न ज्ञानस्य पुरुषार्थेषु गणना। (वहीं)।

४. द्र०, तत्त्वा० २.४–१२ एवं उसकी प्रकाशव्याख्या।

५. यथा ध्यान-धारणादिभिः भगवन्मूर्तेरानन्दरूपस्य अभिव्यक्तिः तथा आधानादि-सोमान्त-क्रियाभिः वेदबोधित-देहचेष्टारूपाभिः ध्यानादिसहिताभिः यज्ञस्वरूपिणोऽपि भगवतोऽभिव्यक्तिः। (तत्त्वा० प्र० २.१५)।

६. साधनं च फलं चैव हरिर्वेदे निरूप्यते।

* ४.१.२ * श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार 'सभी उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञानको ही परमपुरुषार्थका साधन बताया गया है, अतः ब्रह्मके स्वरूप आदिके निरूपक उपनिषद्वाक्योंके अर्थमें होनेवाले सन्देहके निराकरणके लिए व्यासदेवने ब्रह्मसूत्रोंकी रचना करके[1] सभी सन्देहास्पद वेदान्तवाक्योंकी अविरोध-निदर्शनपूर्वक योजना करते हुए समञ्जस व्याख्या की,[2] किन्तु ब्रह्मसूत्रोंकी अन्यथा व्याख्या करनेवालोंने उनके निर्णयों-को भ्रष्ट रूपमें उपस्थापित कर[3] उनके सारे किये कराये पर पानी फेर दिया। जब भगवदाज्ञासे अंशरूपमें अवतरित महादेवादिने वैदिकोंमें प्रवेश कर, उनमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिए वेदोंकी व्याख्या करते हुए, सदसद्विलक्षण अविद्या—जो असत्का ही पर्याय है—को समस्त प्रपञ्चका कारण स्वीकार कर, उसकी निवृत्तिके लिए जातिभ्रंशरूप संन्यासका पाषण्ड फैलाकर, सभीको मोहमें डाल दिया, तो भगवदाज्ञासे वैश्वानरावतार श्रीवल्लभाचार्यने श्रुतिवाक्यों तथा व्याससूत्रों की यथाश्रुत योजना कर शङ्करद्वारा फैलाये गये मोहका निराकरण किया[4]।

तदभिव्यक्तितः सर्वं पुरुषार्थ-स्वरूपतः ॥ (तत्त्वा० २.१७)।
उभयात्मको हरिः वेदे निरूप्यते। ···तदभिव्यक्तौ सत्यां सर्वं एव पुरुषार्थः सिद्धति यतो भगवान् पुरुषार्थ-स्वरूपः। (तत्त्वा० प्र० २.१७)।

१. सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मज्ञानं परम-पुरुषार्थ-साधनम् इति तन्निर्णयार्थं भगवान् व्यासः सूत्राणि चकार। (अ० २.३.२९)।
न हि श्रुति व्याख्यातुं प्रवृत्तः सूत्रकारः, किन्तु सन्देहं वारयितुम्। (अ० १.१.२)।

२. भगवान् व्यासः·· ब्रह्मसूत्रे सर्वान् वेदान्तान् अव्याकुलतया योजितवान्। (अ० २.३.२९)।

३. निर्णयो बहुभिर्नष्टः। (तत्त्वा० २.३१)।
बहुभिः ···अन्यथा-व्याख्यातृभिः श्रुति-सूत्रमविचार्य स्वेच्छया वदद्भिः। (तत्त्वा० प्र० २.३१)।
तु०, 'विनिर्णयो नास्त्यमुना विना यद् विप्रस्थितानामिव सर्ववाचाम्।
तद् ब्रह्मसूत्राणि चकार कृष्णो व्याख्याऽथ तेषामयथा-कृताऽन्यैः॥' (म० ता० नि० ३२.१५९–१६०)।

४. व्यासचरणैः वेदानामव्याकुलत्वे सम्पादितेऽपि ···व्यामोहनार्थं प्रवृत्तस्य भगवतः··· आज्ञया···महादेवादयः स्वांशेनावतीर्य वैदिकेषु प्रविश्य विश्वासार्थं वेदविभागान् यथार्थानपि व्याख्याय सदसद्विलक्षणाम् असदपर-पर्यायाम् अविद्यां सर्वकारणत्वेन स्वीकृत्य, तन्निवृत्त्यर्थं जातिभ्रंशरूपं संन्यास-पाषण्डं प्रसार्य सर्वमेव लोकं व्यामोहितवन्तः।···अग्निना मया सर्वतः सदुद्धारार्थं यथाश्रुतानि श्रुति-सूत्राणि योजयता सर्वो मोहो निराकृतो वेदितव्यः। (अ० २.२.२६)।

* ४.१.३ * विद्वन्मण्डनकार गो० श्रीविट्ठलनाथ अपने पूज्य पिताके मार्गका अनुसरण करते हुए कहते हैं कि इस प्रपञ्चमें विविध-प्रकारके पापोंसे जनित तापसे सन्तप्त हो रहे लोगोंके मोक्षके लिए श्रुतियों, स्मृतियों एवं पुराणों में मोक्षके साधनके रूपमें श्रवण, मनन एव निदिध्यासन का प्रतिपादन किया गया है। वहां इनका विषय ब्रह्मको ही बताया गया है। अतः मुमुक्षुओंको ब्रह्मके स्वरूपकी जिज्ञासा होती है। ब्रह्म श्रुति-प्रतिपादित तत्त्व है अतः उसके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान श्रुतिवाक्योंसे ही होगा। किन्तु कुछ श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मको निर्धर्मक बताया गया है एवं कुछ अन्य श्रुतिवाक्योंमें उसे सधर्मक बताया गया है; अतः मुमुक्षु जिज्ञासुओंको उसके स्वरूपके विषयमें 'ब्रह्म निर्धर्मक है या सधर्मक' इस प्रकारका संशय होता है। इस संशयका निराकरण कर ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करते हुए मुमुक्षुओंकी जिज्ञासा शान्त करना ही उनके इस ग्रन्थका प्रमुख प्रयोजन है।

* ४.२.० * इस प्रकार ब्रह्म-विचारमें सर्वप्रथम यह निर्णय करना है कि ब्रह्म निर्धर्मक या निर्विशेष है अथवा सधर्मक या सविशेष। यहां मुख्य प्रतिपक्षी निर्विशेष-ब्रह्मवादी शाङ्कर-वेदान्तानुयायी हैं और ब्रह्मके श्रुत्युक्त-सर्वधर्माश्रय होनेका प्रतिपादन करनेवाले सिद्धान्ती स्वयं गो० श्रीविट्ठलनाथ। निराकरणीय संशयके स्वरूपको ग्रन्थकारने अधोलिखित प्रकारसे स्पष्ट किया है।

* ४.२.१ * "अब इसके पश्चात् ब्रह्मविषयक आदेश (अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपका निर्देश) किया जा रहा है। वह आदेश (अर्थात् निर्देश) 'नेति-नेति' यह है।" (बृ० २.३.६); 'वह पाणि-पादरहित होते हुए भी तीव्र गतिसे चलने वाला और ग्रहण करने वाला है। वह नेत्र-रहित होते हुए भी देखता है एवं कर्ण-रहित होते हुए भी सुनता है।' (श्वे० ३.१९); "उन (महर्षि याज्ञवल्क्य) ने कहा, हे गार्गि ! (तुमने जिस तत्त्वके विषयमें 'आकाश किसमें ओतप्रोत है ?' इस प्रकारका प्रश्न करके जिज्ञासा की है) वह तत्त्व यह है, इसे ब्रह्मवेत्ता लोग अक्षर कहते हैं। यह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, दीर्घ नही है, लाल नही है, स्निग्ध नहीं है, छाया नहीं है, तम नहीं है, वायु नहीं है, आकाश नहीं है, वह असङ्ग, अस्पर्श, अगन्ध, अरस, अचक्षु, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अप्राण, अमुख, अनाम, अगोत्र, अजर, अमर, अभय, अमृत, अरज, अशब्द, अविदृत, असंदृत, अपूर्व एवं अनपर (अर्थात् पूर्वापरर'हित) है; वह अनन्तर है (अर्थात् उसमें अन्तर या छिद्र नहीं है), अबाह्य है (अर्थात् उसका बाह्य भी नहीं है), उसे

अथ तस्य विवेचितं न हि विभुर्वैश्वानराद्वापते–
रन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्रीपतिः।
दत्त्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोऽहं मुदा,
गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम् ॥ (सुबो० १.१.१ श्लोक ५) ।

कोई नहीं खाता, वह किसीको नहीं खाता।" (शतप० १४.५.६.८); 'वह दिव्य (द्योतनशील अथवा अलौकिक), अमूर्त (सर्वमूर्तिवर्जित), पुरुष (पूर्ण, अथवा शरीररूप पुरमें शयन करने वाला), बाह्य एवं आभ्यन्तर के सहित सर्वत्र वर्तमान और अजन्मा है।' (मु० २.१.२); 'अशरीर (अर्थात् स्वरूपतः आकाशके समान शरीर-रहित), नश्वर शरीरोंमें (अर्थात् देवताओं, पितरों एवं मनुष्यों आदिके अवस्थिति-रहित या अनित्य शरीरोंमें अवस्थित, महान् एवं विभु आत्माको जान लेने पर धीर (अर्थात् बुद्धिमान् आत्मवेत्ता) पुरुष शोक नहीं करता।' (क० १.२.२२); 'वह अप्राण, अमना और इसीलिए शुभ्र (अर्थात् प्राण एवं मन की उपाधियोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध) है।' (मु० २.१.२); तथा 'यह पुरुष असङ्ग है' (बृ० ४.३.१५, १६) इत्यादि श्रुति वाक्यों-द्वारा एवं 'यह आत्मतत्त्व अव्यक्त (अर्थात् इन्द्रियों का अविषय) और अचिन्त्य (अर्थात् मनका अविषय) है।' (गीता २.२५); 'वह ब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् कहा जाता है।' (गीता १३.१२;) तथा 'वह न देवता है, न असुर, न मनुष्य और न पशु-पक्षी, वह न स्त्री है, न नपुंसक और न पुरुष; वह जन्तु (अर्थात् कोई साधारण या असाधारण प्राणी) भी नहीं है। यह न तो गुण है, न कर्म; न सत् है न असत्। सबका निषेध हो जानेपर जो कुछ बचा रहता है वही उसका स्वरूप है तथा वही सब कुछ है। उसकी जय हो।' (भाग० ८.३.२४) इत्यादि पुराणवाक्योंद्वारा ब्रह्मके निर्विशेष होनेका प्रतिपादन होता है।

* ४.२.२ * इसके विपरीत 'जिससे निश्चय ही ये सब भूत (अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी) उत्पन्न होते हैं, और उत्पन्न होनेके अनन्तर, जिसके द्वारा अर्थात् जिसके आश्रयसे जीवित रहते हैं तथा विनाश काल उपस्थित होनेपर ये सभी प्राणी जिसमें लीन हो जाते हैं; उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करो, वह ब्रह्म है।' (तै० ३.१.१); 'क्योंकि ये सभी प्राणी निश्चय ही आनन्दसे ही उत्पन्न होते हैं।' (तै० ३.६.१) इत्यादि श्रुतिवाक्यों तथा 'उसने ईक्षण (विचार) किया' (प्र० ६.३); 'उसने अपनेको ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ।' (बृ० १.४.१०); 'वह सबको वशमें रखनेवाला और सबका ईशान अर्थात् शासन करनेवाला है।' (शतप० १४.७.२.२४; बृ० ४.४.२२); 'जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।'; 'वह सब ओर नेत्रोंवाला, सब ओर मुखोंवाला, सब ओर भुजाओंवाला और सब ओर पैरोंवाला है। वह एकमात्र देव (द्योतनशील परमात्मा) द्युलोक एवं पृथ्वी को उत्पन्न करता हुआ (मनुष्य, पक्षी आदि प्राणियोंको) दो भुजाओं एवं पतत्रों (पैरों अथवा पंखों) से युक्त करता है।' (ऋ० १०.८१.३; श्वे० ३.३); एवं 'वह (ब्रह्म) सर्वकाम, सर्वगन्ध और सर्वरस है।' (छा० ३.१४.२) इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा, तथा 'वह (ब्रह्म) सर्वत्र विद्यमान पाणि, पाद, नेत्र, शिर, मुख और श्रवण वाला है। वह लोकमें सबको आवृत अर्थात् व्याप्त करके स्थित है।' (गीता १३.१३); एवं 'निर्दोष और पूर्ण गुण उसके विग्रहरूप अर्थात्

स्वरूप हैं। वह आत्मतन्त्र अर्थात् स्वतन्त्र है। वह जड शरीर और उसके धर्मों एवं गुणों से रहित है। उसके हाथ, पैर, मुख एवं उदर आदि अङ्ग आनन्दमय या आनन्द-स्वरूप हैं। वह सर्वत्र जड, जीव एवं अन्तर्यामी के त्रिविध भेदसे रहित है तथा इन तीनोंके कारणके रूपमें इनमें अनुस्यूत है।' (नारदपञ्चरात्र) इत्यादि स्मृतिवाक्योंद्वारा ब्रह्मके सविशेष होनेका प्रतिपादन होता है।

* ४.२.३ * ऐसी स्थितिमें वेदानुयायी जिज्ञासुको यह संशय होना स्वाभाविक है कि ब्रह्मको निर्विशेष एवं सविशेष माननेके पूर्वोक्त दो मतोंमें प्रथम मत युक्तियुक्त और स्वीकरणीय है अथवा द्वितीय। 'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' (गीता ३.२) की इस जिज्ञासाके उत्तरमें शाङ्कर-वेदान्तके प्रतिपादक पूर्वपक्षीका कथन है कि निर्विशेष ब्रह्मके सविशेष ब्रह्मका उपजीव्य होनेसे, निर्विशेष ब्रह्मके निरूपक 'अस्थूलम्' (बृ० ३.८.८) इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा ब्रह्ममें धर्मों या विशेषों के होनेका निषेध किये जानेसे, सविशेष ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंके ब्रह्म-परक न होकर अन्यपरक (अर्थात् उपासनापरक) होनेसे, तथा निर्विशेष ब्रह्मके सविशेष ब्रह्मका अन्तरङ्ग होनेसे, श्रुतिमें निर्विशेष ब्रह्मका निरूपण हुआ मानना ही उचित है[1]।

पूर्वपक्षीका कथन है कि ब्रह्मको सविशेष माननेवाले विचारकको भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन विशेषोंका आधार ब्रह्म ही है, अन्यथा वह विशेषोंके किसमें होनेकी बात कहेगा ? ब्रह्मको सविशेष माननेपर, 'ब्रह्मके विशेष कहाँ रहते हैं ? उन विशेषोंका आधार क्या है ?' यह बताना होगा। विशेषोंका आधार अगत्या ब्रह्मके स्वरूपको ही मानना पड़ेगा। विशेष या गुण द्रव्योंमें रहते हैं अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सविशेष ब्रह्मके विशेषोंका आधार ब्रह्मका स्वरूप अर्थात् विशेष-रहित ब्रह्म ही है। उपर्युक्त प्रकारसे ब्रह्मके स्वरूप (अर्थात् विशेष-रहित ब्रह्म) को सविशेष ब्रह्मका आधार मानना अपरिहार्य है; क्योंकि ऐसा न मानने पर सविशेष ब्रह्म या ब्रह्मके धर्मों का आधार किसी अन्य तत्त्वको न कहा जा सकनेके कारण 'प्रत्येक गुण या धर्म का आधार कोई द्रव्य होता है (द्रव्याश्रिताः गुणाः)' इस नियमके बाधका अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा। इसलिए ब्रह्मके विशेषोंका अथवा सविशेष ब्रह्मका आधार निर्विशेष ब्रह्मको ही मानना पड़ेगा। आधार मुख्य होता है। आधारके विना आधेयकी स्थिति सम्भव नहीं हो सकती। निर्विशेष ब्रह्म सविशेष ब्रह्मका आधार है, अतः निर्विशेष ब्रह्मके विना सविशेष ब्रह्मकी स्थिति ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार सविशेष ब्रह्मका निर्वाह निर्विशेष ब्रह्मसे होता है; अतः निर्विशेष, निर्धर्मक एवं निर्गुण ब्रह्म, सविशेष, सधर्मक एवं सगुण ब्रह्मका उपजीव्य या निर्वाहक है। निर्वाहक प्रथम और मुख्य होता

---

१. द्र०, विद्व०, पृष्ठ १९.

है, अतः ब्रह्मका मूल स्वरूप निर्विशेष मानना ही युक्तियुक्त एवं उचित है।

विशेषों धर्मों या गुणों का निरूपण उनके आधारका निरूपण किये विना नहीं किया जा सकता अतः उनका निरूपण करनेमें उनके आधाररूप ब्रह्मका निरूपण निर्वाहक एवं उपजीव्य है। ब्रह्मके गुणोंका बोध करानेवाले 'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३.१४.२) इत्यादि श्रुतिवाक्योंको इन वाक्योंमें उल्लिखित गुणोंके ब्रह्ममें होनेका बोध करानेके लिए इन गुणोंके आधारभूत ब्रह्मका ज्ञान करानेकी अपेक्षा है और वह ज्ञान 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३.८.८) इत्यादि ब्रह्म-बोधक श्रुतिवाक्योंसे प्राप्त होता है; अतः आधेय गुणों या धर्मों का बोध करानेवाले पूर्वोक्त श्रुतिवाक्योंको उन धर्मोंके आधाररूप ब्रह्म या धर्मी का बोध करानेवाले उपर्युक्त श्रुतिवाक्योंका आश्रित या उपजीवी मानना चाहिए। आश्रित या उपजीवी वाक्य जिनके आश्रित होते हैं उन उपजीव्य वाक्योंकी अपेक्षा क्षीणबल होते हैं और उनका बाध नहीं कर सकते। इस प्रकार ब्रह्म-बोधक या धर्मि-बोधक श्रुतिवाक्य उपजीव्य हैं और ब्रह्मके गुणोंके बोधक (या धर्म-बोधक) श्रुतिवाक्य उपजीवी हैं तथा इन उपजीव्य वाक्योंका उपजीवी वाक्योंसे बाध नहीं हो सकता। अतः धर्मिबोधक श्रुतिवाक्योंके अनुरोधसे ब्रह्मको निर्विशेष मानना ही उचित है, अन्यथा वेदके प्रत्यक्षरको प्रमाण माननेवाले सविशेष-ब्रह्मवादीके सामने निर्विशेष-निरूपक वाक्योंके निरवकाश हो जानेका अनिष्ट-प्रसङ्ग आ उपस्थित होगा।

श्रुति निर्विशेष और सविशेष दोनों प्रकारके ब्रह्मका निरूपण करती है। किन्तु निर्विशेष और सविशेष के परस्पर-विरुद्ध होनेके कारण ब्रह्मको उभय-प्रकारक नहीं माना जा सकता। इन दोनों प्रकारोंमेंसे एक ही, ब्रह्मका सत्य एवं वास्तविक स्वरूप होना चाहिए। इन दोनों प्रकारोंमेंसे ब्रह्मका कौन सा प्रकार मुख्य माना जाये, उसका कौन सा स्वरूप सत्य एवं वास्तविक माना जाये, इस बातका निर्णय करनेके लिए यहाँ यह विचार किया गया कि उक्त दोनोंमेंसे कौन सा ब्रह्म आधार है। आधार निर्विशेष ब्रह्मके विना आधेय सविशेष ब्रह्म सम्भव नहीं है, अतः निर्विशेष ब्रह्मको ही ब्रह्मका सत्य स्वरूप मानना चाहिए। निर्विशेष ब्रह्मके सविशेष ब्रह्मका आधार होनेके कारण निर्विशेष ब्रह्मका निरूपण करनेवाली श्रुतियाँ मुख्य एवं प्राथमिक हैं तथा सविशेष ब्रह्मका निरूपण करनेवाली श्रुतियोंसे उनका बाध नहीं हो सकता। अतः निर्विशेष ब्रह्म ही मुख्य है और वस्तुतः ब्रह्म निर्विशेष ही है।

* ४.२.४ * इस विषयमें सविशेष-ब्रह्मवादीका कहना है कि उक्त प्रकारसे श्रुतिवाक्योंका अर्थ करनेपर सविशेष ब्रह्मका निरूपण करनेवाले श्रुतिवाक्य निरर्थक हो जाते हैं, अतः उक्त प्रकारसे अर्थ करना उचित नहीं है। श्रुतिवाक्योंका अर्थ इस प्रकार करना चाहिए कि दोनों प्रकारके (अर्थात् सविशेष और निर्विशेष दोनोंके प्रतिपादक)

वाक्योंकी सार्थकता स्पष्ट हो सके। 'निर्विशेष-निरूपक श्रुतियाँ धर्मीके स्वरूपका निरूपण करती हैं और सविशेष-निरूपक श्रुतियाँ उस धर्मीके धर्मोंका निरूपण करती हैं', यह मानकर अर्थ करनेपर दोनों प्रकारके श्रुतिवाक्य सावकाश एवं सार्थक हो जाते हैं, अतः इसी प्रकार अर्थ करना उचित है।

धर्मीका स्वरूप निर्विशेष है, ब्रह्म निर्गुण है; तथापि श्रुति-प्रतिपादित होनेसे यह भी मानना चाहिए कि उसमें श्रुत्युक्त विशेष अर्थात् धर्म या गुण हैं। ऐसा मान लेनेपर दोनों प्रकारके श्रुतिवाक्य सार्थक हो जाते हैं और ब्रह्मका स्वरूप विरुद्ध-धर्माश्रय है ऐसा सिद्ध हो जाता है। निर्गुण होते हुए भी ब्रह्मके गुण हैं, अतः वह विरुद्ध-धर्माश्रय है। इस प्रकारसे श्रुतिवाक्योंका अर्थ करके दोनों प्रकारके श्रुतिवाक्योंकी सार्थकता स्वीकार करनी चाहिए।

* ४.२.५ * निर्विशेष-ब्रह्मवादी पूर्वपक्षीका कथन है कि श्रुतिवाक्योंका उक्त प्रकारसे अर्थ करना युक्तियुक्त और उचित नहीं है। 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३ ८.८) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्ममें गुणोंका निषेध करती हुई यह प्रतिपादित करती हैं कि ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् उसमें गुण हैं ही नहीं। सविशेष-ब्रह्मवादी द्वारा प्रस्तावित किये गये प्रकारसे श्रुतिवाक्योंका अर्थ करनेपर यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्ममें गुण हैं ही नहीं; किन्तु श्रुति ब्रह्ममें गुणोंके होनेका निषेध करती है। यदि ब्रह्ममें विशेषों या गुणों का होना स्वीकार किया जायेगा तो ब्रह्ममें गुणोंके होनेका निषेध करने वाले श्रुति-वाक्योंको असत्य एवं मिथ्या माननेका अनिष्ट-प्रसङ्ग आ उपस्थित होगा। अतः ब्रह्ममें गुणोंके होनेका निषेध करने वाले श्रुतिवाक्योंके उपलब्ध होनेके कारण यह कहना ठीक नहीं होगा कि ब्रह्ममें धर्म या गुण हैं। अतः सिद्धान्ती द्वारा प्रस्तावित प्रकारसे श्रुति-वाक्योंका अर्थ करना तथा यह मानना उचित नहीं है कि 'निर्विशेष-ब्रह्म-निरूपक श्रुतिवाक्य धर्मीके स्वरूपका एवं सविशेष-ब्रह्म-निरूपक वाक्य उसके धर्मोंका निरूपण करते हैं और इस प्रकार दोनों प्रकारके श्रुतिवाक्य सावकाश एवं सार्थक हैं।' इस समाधानको स्वीकार कर सकना इसलिए सम्भव नहीं है कि निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्य – जो सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंके उपजीव्य हैं– ब्रह्ममें गुणोंके होनेका निषेध करते हैं और उनके इस प्रतिपाद्यका कि ब्रह्म निर्विशेष है उन सविशेष-निरूपक श्रुतिवाक्योंसे बाध नहीं हो सकता जो उनके उपजीवी होनेके कारण उनसे क्षीणबल हैं। अतः ब्रह्मको निर्विशेष मानना ही युक्तियुक्त है।

* ४.२.६ * निर्विशेष-ब्रह्मवादी निर्विशेष-निरूपक वाक्योंके उपजीव्यत्वका आश्रय लेकर अपने मतकी पुष्टि करते हैं, अतः सविशेष-ब्रह्मवादी उन वाक्योंके उपजीव्य हो सकनेमें ही सन्देह व्यक्त करते हुए उनका खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि निर्विशेष-ब्रह्म-निरूपक या धर्मि-निरूपक श्रुतिवाक्य विशेषोंके अभावमें अर्थात् धर्मोंको

पूर्वगृहीत किये विना धर्मीका निरूपण नहीं कर सकते क्योंकि पदार्थोंका निरूपण लक्षणोंके द्वारा किया जाता है और लक्षण असाधारणधर्मरूप होते हैं। जैसा कि 'असाधारण-धर्म-वचनं लक्षणम्' इत्यादि उक्तियोंसे ज्ञात होता है, पदार्थके असाधारण धर्मका निर्वचन करना ही उसका लक्षण बताना माना गया है। ऐसी दशामें निर्विशेष-ब्रह्मका निरूपण करनेके लिए श्रुतिवाक्यों द्वारा उसका लक्षण बताना चाहिए और लक्षण बतानेके लिए उसके असाधारण धर्मोंका निर्वचन करना चाहिए। किन्तु निर्विशेष एवं निर्धर्मक ब्रह्ममें कोई भी (साधारण या) असाधारण धर्म न होनेके कारण उसका लक्षण नहीं बताया जा सकता और फलतः उसका निरूपण नहीं किया जा सकता। अतः निर्विशेष-ब्रह्मका निरूपण करनेके लिए सविशेष-ब्रह्मके निरूपक या ब्रह्मके धर्मोंके निरूपक वाक्योंका ही आश्रय लेना पड़ता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निर्विशेष-निरूपक वाक्योंको उपजीव्य माननेके आधारपर सविशेष-निरूपक वाक्योंको क्षीणबल और इसीलिए बाधित कह देना सर्वश्रुति-प्रामाण्यवादीको स्वीकार नहीं हो सकता। अतएव इस हेतुको सत्प्रतिपक्षता दिखाते हुए सविशेष-ब्रह्मवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि सविशेष-निरूपक श्रुतिवाक्य निर्विशेष-निरूपक श्रुतिवाक्योंके निर्वाहक एवं उपजीव्य हैं, उपजीवी नहीं। उनके अनुसार निर्विशेष ब्रह्ममें धर्मोंका अभाव होनेके कारण, सविशेष एवं सधर्मक ब्रह्मका या ब्रह्मके धर्मोंका निरूपण करने वाले श्रुति-वाक्य, 'अस्थूलम्' (बृ० ३.८.८) इत्यादि वाक्यों द्वारा धर्म-निरूपण-पूर्वक अभाव-मुखसे निर्विशेष ब्रह्मका निरूपण करनेवाले श्रुति-वचनोंके उपजीव्य हैं क्योंकि अभावका निरूपण (जिसका अभाव होता है उस) प्रतियोगीके निरूपणके अधीन होता है।

सविशेष ब्रह्मवादीके कहनेका आशय यह है कि अज्ञात वस्तुका निषेध नहीं हो सकता। निर्विशेष-ब्रह्ममें किन विशेषों या धर्मों का अभाव है इस जिज्ञासा या आकाङ्क्षा की निवृत्ति तभी होती है जब उन विशेषों या धर्मों का ज्ञान हो। अतः विशेषों या धर्मों का निरूपण किये विना उन विशेषों या धर्मों के ब्रह्ममें अभावका या अभाव-मुखसे निर्विशेष-ब्रह्मका निरूपण कर सकना सम्भव नहीं है। इस प्रकार अज्ञात वस्तुका निषेध न हो सकनेके कारण निर्विशेष-ब्रह्मका निरूपण करनेवाले श्रुति-वाक्योंको भी ब्रह्ममें गुणों, धर्मों या विशेषों के होनेका निषेध करनेके लिए ब्रह्मके धर्मों या विशेषों का निरूपण करनेवाले श्रुति-वाक्योंका आश्रय लेना पड़ता है। निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्य सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंके विना ब्रह्मका निरूपण नहीं कर सकते, अतः सविशेष ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्य निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंके निर्वाहक या उपजीव्य हैं।

* ४.२.७ * इस प्रकार सविशेष-ब्रह्मवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि निर्विशेष-निरूपक एवं सविशेष-निरूपक उभयविध श्रुतिवाक्योंमें श्रौतस्वरूप धर्म तो

समान है ही उपजीव्यस्वरूप धर्म भी समान है क्योंकि यदि 'आधारके निरूपणके विना आधेय धर्मोंका या धर्मीका निरूपण नहीं हो सकता' यह तर्क देकर निर्विशेष-निरूपक श्रुतियोंको उपजीव्य कहा जा सकता है तो 'प्रतियोगीके निरूपणके विना अभावका निरूपण नहीं हो सकता (क्योंकि अभावका निरूपण प्रतियोगी—जिसका अभाव होता है— के निरूपणके अधीन होता है)' यह तर्क देकर सविशेष-निरूपक श्रुतियोंके उपजीव्य होनेकी बात भी कही जा सकती है। इस तरह दोनों प्रकारके वाक्योंके उपजीव्य होनेकी स्थितिमें वाक्योंके श्रौतत्व या उपजीव्यत्व को प्राबल्यका कारण माननेपर दोनों प्रकारके वाक्य समान-बल सिद्ध होंगे और उनमेंसे किसी एक प्रकारके वाक्योंसे अन्य प्रकारके वाक्योंका बाध होनेकी बात नहीं कही जा सकेगी तथा ब्रह्मको निर्विशेष एवं सविशेष माननेवाले पक्षोंमेंसे किसीको भी निश्चित एवं निर्णयात्मक रूपसे युक्तियुक्त न कहा जा सकेगा। और यदि उक्त दोनों प्रकारके वाक्योंमें परस्पर-विरोध होनेके कारण बाधको उपपन्न स्वीकार करना हो तो भी दोनों प्रकारके वाक्योंके श्रौत एवं उपजीव्य होनेसे समान-बल होनेके कारण किसी अन्य विनिगमकके अभावमें किसी एकका बाध स्वीकार न किया जा सकेगा तथा उभयविध वाक्योंसे उभयविध वाक्योंका बाध होनेकी प्रसक्ति होगी। और उभयविध वाक्योंका बाध स्वीकार कर लेनेपर भी समस्याका समाधान नहीं होगा क्योंकि इसका तात्पर्य यह स्वीकार कर लेना होगा कि श्रुतिमें न तो निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन है और न सविशेष-ब्रह्मका ही। यह मान लेना तो वृश्चिकके भयसे भाग रहे व्यक्तिके विषैले सर्पके मुखमें गिरनेके समान सुतराम् अनभिप्रेत बौद्धाभिमत शून्यवादको स्वीकार कर लेना होगा। वेदप्रामाण्यवादियोंके लिए यह कहना भी उचित न होगा कि 'उभयविध श्रुतिवाक्योंका बाध स्वीकार कर लेना चाहिए भले ही उसके कारण शून्यवादको स्वीकार करना पड़े' क्योंकि "यदि पुरुष 'ब्रह्म असत् है' ऐसा जानता है तो वह स्वयं भी असत् ही हो जाता है" (तै० २.६.१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मको असत् माननेके मतकी निन्दा उपलब्ध होती है और शून्यवाद ब्रह्मको असत् माननेका मत है।

• ४.२.८ • निर्विशेष-ब्रह्मवादी पूर्वोक्त सत्प्रतिपक्षत्वका निराकरण करते हुए सविशेष-निरूपक श्रुतिवाक्योंको उपजीव्य माननेके मतका खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि यदि निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्य, सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंमें निरूपित धर्मोंका निषेध करते होते तो सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंको निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंका निर्वाहक या उपजीव्य कहा जा सकता था, किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्य उन धर्मोंका निषेध नहीं करते हैं जिनका सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंमें उल्लेख है, प्रत्युत वे केवल लौकिक धर्मोंका ही ब्रह्ममें निषेध करते हैं, अतः वे सविशेष-ब्रह्मके निरूपक

श्रुतिवाक्योंके उपजीवी नहीं हैं। इस प्रकार सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्य निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंके उपजीव्य नहीं हैं; किन्तु निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्य सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंके पूर्वोक्त प्रकारसे उपजीव्य हैं। उपजीव्यत्वको प्राबल्यका हेतु मानकर निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंको, प्रबल होनेके कारण, सविशेष ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंका बाधक माना जा सकता है; किन्तु सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्य निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंके (उपर्युक्त प्रकारसे उपजीव्य न होनेके कारण उनसे प्रबल और उनके) बाधक नहीं माने जा सकते। अतः निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक वाक्योंके ही (सविशेष-ब्रह्मके निरूपक वाक्योंका) बाधक होनेसे ब्रह्मके निर्विशेष होनेकी ही सिद्धि होती है।

* ४.२.९ * इसके उत्तरमें सविशेष-ब्रह्मवादीका कथन है कि निर्विशेष-ब्रह्मवादी द्वारा पुरस्कृत उपर्युक्त समाधानको स्वीकार करनेसे तो सविशेष-ब्रह्मवादीको अभिप्रेत तथा निर्विशेष-ब्रह्मवादीको अनभिप्रेत निष्कर्ष ही निकलता है, क्योंकि उक्त समाधानमें यह माना गया है कि निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक जिन श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्ममें धर्मोंके न होनेकी बात कही गयी है उन वाक्योंमें जिन धर्मोंका उल्लेख है वे ब्रह्मके श्रुतिसिद्ध (अर्थात् सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंमें उल्लिखित) धर्म नहीं प्रत्युत लौकिक धर्म हैं। इस प्रकार निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंमें जिन धर्मोंके ब्रह्ममें होनेका निषेध किया गया है वे (अर्थात् निषेध-विषय-भूत) धर्म सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंमें उल्लिखित धर्मोंसे भिन्न हैं। तात्पर्य यह है कि निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंमें मिलनेवाले निषेधका विषय 'ब्रह्मका सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंमें उल्लिखित धर्मोंसे युक्त होना' अर्थात् 'श्रुति-सिद्ध-धर्मवत्त्व' नहीं प्रत्युत उससे भिन्न अर्थात् 'लौकिक धर्मोंसे युक्त होना' या 'लौकिकधर्मवत्त्व' है। अतः निषेधके भिन्न-विषयक होनेके कारण दोनों प्रकारके वाक्योंमें परस्पर-विरोध नहीं है। और जब दोनों प्रकारके वाक्योंमें विरोध ही नहीं है तो निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुति-वाक्यों द्वारा सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंका बाध होनेकी बात कहना भी युक्तियुक्त नहीं है। इस प्रकारका बाध अनुपपन्न है यह मान लेनेपर ब्रह्मके निरूपक दोनों प्रकारके वाक्य समानरूपसे प्रामाणिक एवं सार्थक हो जाते हैं तथा ब्रह्मका निर्विशेष और सविशेष दोनों होना सिद्ध हो जाता है। यह निष्कर्ष सविशेष-ब्रह्मवादीको इष्ट है किन्तु निर्विशेष-ब्रह्मवादीको ही अनभिप्रेत है। इस प्रकार निर्विशेष-ब्रह्मवादी विचारकों द्वारा पुरस्कृत पूर्वोक्त समाधान उनके सिद्धान्तके विरुद्ध और उनके लिए कठिनाई उत्पन्न करने वाला है और उन्हें स्वीकार्य न होगा।

* ४.३.० * इसपर निर्विशेष-ब्रह्म-वादीका कहना है कि 'उपर्युक्त प्रकारसे ब्रह्मका निर्विशेष और सविशेष दोनों होना सिद्ध हो जाता है' यह कथन उचित इसलिए

नहीं है कि 'जहाँसे वाणी उसे न पाकर लौट आती है' (तै० २.४.१) इत्यादि श्रुतिवाक्य श्रोतव्यत्व आदि श्रौत अर्थों अर्थात् धर्मों या गुणों के ब्रह्ममें होनेका भी निषेध करते हैं। तात्पर्य यह है कि निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुति-वाक्योंमें उपलभ्यमान निषेधका विषय सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंमें उल्लिखित श्रोतव्यत्व आदिरूप ब्रह्मके श्रुतिसिद्ध धर्मोंसे भिन्न नहीं है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त दोनों प्रकारके वाक्योंमें परस्पर-विरोध नहीं है।

* ४.३.१ * सविशेष ब्रह्मवादी आशङ्का उपस्थित करते हैं कि अभावका निरूपण (जिसका अभाव होता है उस) प्रतियोगीके निरूपणके अधीन होता है और इस प्रकार प्रतियोगी सदा अभावोंके उपजीव्य होते हैं। इस दृष्टिसे सविशेष-ब्रह्म या उसके धर्मों के निरूपक श्रुतिवाक्य निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंके उपजीव्य हैं। यदि निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंसे उनका बाध होनेका मत स्वीकार कर लिया जायेगा तो उपजीव्यत्वके बाधका अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा। इस आशङ्काका अपनोदन करते हुए निर्विशेष-ब्रह्मवादी कहते हैं कि इस प्रकारका उपजीव्यत्व अप्रयोजक है, अतः उपजीव्यत्वके बाधका दोष आनेकी बात कहना ठीक नहीं है। अन्यथा अभावके निरूपणके उच्छेदका अनिष्ट-प्रसङ्ग आ उपस्थित होता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रतियोगी अभावके उपजीव्य होते हैं तथापि उपजीव्यताके कारण प्रतियोगि-बोधक प्रमाण अभाव-बोधक प्रमाणकी अपेक्षा प्रबल नहीं माने जाते क्योंकि ऐसा न माननेपर अभावका बोध एवं निरूपण ही असम्भव हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृत प्रसङ्गमें भी सविशेष-ब्रह्म या ब्रह्मके धर्मों के निरूपक श्रुतिवाक्य उपजीव्यत्वके कारण निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक उपजीवी वाक्योंकी अपेक्षा प्रबल नहीं माने जा सकते।

* ४.३.२ * पहले ब्रह्ममें गुणोंके होनेका प्रतिपादन करना और फिर उसमें गुणोंके न होनेका प्रतिपादन करना असङ्गत है। लोकमें जिस पदार्थमें जब जिन धर्मोंके होनेका निरूपण किया जाता है तभी उसी पदार्थमें उन धर्मोंके न होनेका प्रतिपादन (अर्थात् उन धर्मोंका निषेध) नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करनेमें परस्पर-विरोध होता है। लौकिक पदार्थोंमें काल-भेदसे उन्हीं गुणों या धर्मों का निषेध अवश्य किया जा सकता है। उदाहरणार्थ मिट्टीके जिस घड़ेको कच्चा रहनेके समय मटमैला या काला कह कर निरूपित किया जाता है उसे ही पक जाने एवं रँग दिये जाने पर लाल कहकर निरूपित किया जा सकता है और उसमें बादमें अर्थात् पक जानेकी स्थितिमें मटमैलेपन या कालिमा का निषेध किया जा सकता है। किन्तु जिस पदार्थमें जिन धर्मोंके काल-विशेषमें होनेका विधान किया जाता है उसी पदार्थमें उन धर्मोंके कालान्तरमें होनेका निषेध केवल लौकिक पदार्थोंके सम्बन्धमें ही किया जा सकता है। ब्रह्मके सम्बन्धमें ऐसा किया जा सकना सम्भव नहीं है क्योंकि ब्रह्म नित्य एकरस तत्त्व है। ब्रह्ममें कालकृत

भेद सम्भव नहीं है अतः उसके विषयमें यह कह सकना सम्भव नहीं है कि वह पहले सधर्मक रहता है फिर निधर्मक हो जाता है। ऐसी दशामें 'श्रुति धर्मका निरूपण क्यों करती है और उन धर्मोंका निषेध क्यों करती है' इस बातकी व्याख्या निर्विशेष-ब्रह्म-वादका मत स्वीकार कर नहीं की जा सकती। सविशेष-ब्रह्मवादीके कथनका आशय यह है कि ब्रह्म सर्वदा एकरस है यह तो निर्विशेष-ब्रह्म-वादी भी मानता है, अतः वह यह नहीं कह सकता कि ब्रह्म पहले निर्गुण रहता है और बादमें सगुण हो जाता है, या पहले सगुण रहता है और बादमें निर्गुण हो जाता है। सविशेष-ब्रह्म-प्रतिपादक श्रुतिवाक्य ब्रह्ममें गुणोंके होनेका बोध कराते हैं और निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्य ब्रह्ममें गुणोंके होनेका निषेध करते हैं। ब्रह्ममें इस गुण-विधान एवं गुण-निषेध का निरूपण करनेमें श्रुतिका कुछ प्रयोजन अवश्य होना चाहिए। श्रुति ये निरूपण व्यर्थ या निष्प्रयोजन नहीं कर सकती। यदि श्रुतिका तात्पर्य यह प्रतिपादित करना होता कि ब्रह्ममें वस्तुतः गुण नहीं हैं और वह निर्गुण ही है तो वह उसमें गुणोंके होनेका बोध ही न कराती क्योंकि ऐसा करनेसे उसे 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' के न्यायसे उन गुणोंका निषेध न करना पड़ता। इस प्रकार जगत्को मिथ्या एवं ब्रह्मको निर्गुण मननेवाले निर्विशेष-ब्रह्मवादी दार्शनिक गुण-विधायक एवं गुण-निषेधक दोनों प्रकारके श्रुतिवाक्योंकी सङ्गति लगाते हुए उनकी युक्तियुक्त व्याख्या नहीं कर सकते।

* ४.३.३ * सविशेष-ब्रह्मवादीके उपर्युक्त आक्षेपके उत्तरमें निर्विशेष-ब्रह्मवादीका कथन है कि ब्रह्ममें धर्मोंके होनेका प्रतिपादन करने वाले श्रुति-वाक्य अन्यपरक हैं। उनका प्रयोजन ब्रह्मके सविशेष, सधर्मक एवं सगुण होने का प्रतिपादन करना नहीं प्रत्युत इससे भिन्न अधोलिखित है। चित्तके शुद्ध एवं स्थिर हुए विना निर्विशेष-ब्रह्मका साक्षात्कार सम्भव नहीं है, और चित्तशुद्धिमें सगुण-ब्रह्मकी उपासना सहायक है। अतः उपासना-द्वारा चित्तशुद्धि सम्पादित की जा सके इस उद्देश्यसे उपासनाको सम्भव बनानेके लिए श्रुति सविशेष एवं सधर्मक ब्रह्मका निरूपण करती है क्योंकि सगुण-ब्रह्मकी उपासनासे चित्त शुद्ध एवं स्थिर हो जानेपर साधकको निर्विशेष एवं निर्गुण ब्रह्मके साक्षात्कारमें सुकरता होती है। इस प्रकार ब्रह्ममें गुणोंके होनेका निरूपण करनेवाले श्रुतिवाक्य उपासनापरक होनेके कारण निर्विशेष एवं निर्गुण ब्रह्मके निरूपण एवं साक्षात्कार में उपयोगी हैं और यही उनकी सार्थकता है। इससे भिन्न उनका कोई अन्य तात्पर्य नहीं है। ब्रह्म स्वरूपतः निर्विशेष है और उसमें गुणोंका रांस्पर्श भी नहीं है। श्रुति जगत्कर्तृत्व आदि धर्मोंके ब्रह्ममें होनेका विधान, उपर्युक्त प्रयोजनकी सिद्धिके लिए अर्थात् उपासनार्थ, उन्हें अविद्याकल्पित स्वीकार करके ही करती है। इसीलिए अर्थात् जगत्कर्तृत्वादि धर्मोंको अविद्याकल्पित माननेके कारण ही वह बादमें उपासना द्वारा साधकके चित्तशुद्धि सम्पादित हो जानेपर, उसे निर्विशेष

ब्रह्मका अवबोध करानेके लिए, निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक वाक्योंद्वारा, उन धर्मोंके ब्रह्ममें होनेका निषेध कर देती है। इस प्रकार ब्रह्मके श्रुत्युक्त जगत्कर्तृत्वादि धर्म भी अन्ततः अविद्याकल्पित ही हैं और वे सगुण-ब्रह्ममें अविद्याके सम्बन्धसे ही रहते हैं। श्रुतिमें उनका निरूपण अध्यारोपापवाद-न्याय से अन्ततः उनका निषेध कर देनेके लिए ही किया गया है और वस्तुतः ब्रह्म निर्विशेष ही है[1]।

निर्विशेष-ब्रह्मवादीके अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे निर्विशेष-प्रतिपादक श्रुति-वाक्य प्रधान हैं और सविशेष-प्रतिपादक श्रुतिवाक्य उपासनार्थ ब्रह्मका तत्तद् रूपोंमें निरूपण करनेसे सावकाश हैं यह मत स्वीकार कर लेने पर उभयविध अर्थात् सविशेष-ब्रह्म और निर्विशेष-ब्रह्म दोनोंके निरूपक श्रुतिवाक्योंकी सङ्गत व्याख्या हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि निर्विशेष-ब्रह्मके प्रतिपादक श्रुतिवाक्य ही सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुति-वाक्योंके बाधक हैं। और सविशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंको निर्विशेष ब्रह्मके निरूपक श्रुतिवाक्योंका उपजीव्य होनेके आधार पर निर्विशेष-ब्रह्मके निरूपक श्रुति-वाक्योंका बाधक मानना तो युक्तियुक्त नहीं ही है उन्हें अन्य-परक अर्थात् उपासना-परक होनेके कारण ब्रह्मके वस्तुतः सगुण होनेका प्रतिपादक स्वीकार करना एवं ब्रह्मको वस्तुतः सगुण और सधर्मक मानना भी युक्तियुक्त नहीं है।

४.३४ तात्त्विकोपाधिवादी सविशेष-निरूपक श्रुतिवाक्योंकी व्याख्या यह कह कर करते हैं कि ब्रह्म सर्वगत होनेके कारण पृथिवी आदि वास्तविक उपाधियोंसे सम्बद्ध है और इसीलिए उसमें विभिन्न वास्तविक उपाधियोंके धर्म आ जाते हैं। उदाहरणार्थ वह अणुमें अणु, स्थूल-पदार्थमें स्थूल एवं पृथिव्युपाधिक होनेपर सर्वगन्ध हो जाता है[2]। अतएव सविशेष-निरूपक श्रुतिवाक्य ब्रह्मको इन वास्तविक उपाधिके धर्मोंसे युक्त बताते हैं। निर्विशेष-ब्रह्मवादी शाङ्करवेदान्तानुयायी, तात्त्विकोपाधिवादीके

---

१. रूपाद्याकार-रहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं, न रूपादिमत्।··· 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३.८.८)··· इत्येवमादीनि वाक्यानि निष्प्रपञ्च-ब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तर-प्रधानानि। तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम्। इतराणि तु आकारवद्-ब्रह्मविषयाणि वाक्यानि न तत्प्रधानानि। उपासनाविधि-प्रधानानि हि तानि।··· सति तु विरोधे तत्प्रधानानि अतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्ति इत्येष विनिगमनायां हेतुः। (ब्र० शा० ३.२.१४)।
भेदस्य उपासनार्थत्वादभेदे तात्पर्यम्। (ब्र० शा० ३.२.१२)।

२. ननु सर्वगतत्वेन पृथिव्याद्युपाधि-सम्बन्धोऽस्ति इति तन्निबन्धनमस्थूलत्वादिकम्। तथा हि अस्थूलेऽस्थूलोऽनणावनणुरुच्चावचकर्तुर्युच्चावचकर्तोच्चावचकामे चोच्चावच-कामः पृथिव्यां सर्वगन्धो जलादावगन्धः इति। (विद्व०, पृ० १९७)।
तु०, 'अस्तु तर्हि स्थानतः, पृथिव्याद्युपाधियोगादिति।' (ब्र० शा० ३.२.११)।

इस मतका[1] खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि वास्तविक उपाधिके सम्बन्धसे भी अन्यादृश-वस्तुका अन्यादृश-स्वभाव हो जाना अर्थात् स्वरूप-परिवर्तन हो जाना सम्भव नहीं है[2]। गन्धवत्त्व आदि यदि पृथिवी आदि वास्तविक उपाधियोंके गुण हैं तो ब्रह्मके इन उपाधियोंके सम्बन्धमें आने मात्रसे इन्हें ब्रह्मका गुण नहीं कहा जा सकता। जपाकुसुमकी अरुणिमाका ग्रहण करने मात्रसे स्फटिक अरुणस्वभाव नहीं हो जाता[3]। ब्रह्मके उपाधिजनित रूपको पारमार्थिक माननेपर उसके परिणमित हो जानेका अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा[4] अतः यह मानना ही उचित है कि उपाधियाँ तात्त्विक नहीं अविद्या-प्रत्युपस्थापित[5] और अध्यस्त मात्र हैं। वेदवाक्योंका तात्पर्य निर्विशेष-ब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें ही है और सर्वगन्धत्वादि श्रुत्युक्त धर्म औपाधिक एवं ब्रह्ममें अध्यस्त मात्र हैं[6]। अतएव उपाधियोंको वास्तविक नहीं प्रत्युत आविद्यक मानकर ब्रह्मको निर्विशेष स्वीकार करना ही युक्तियुक्त है।

* ४.३.५ * इस प्रकार ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व एवं जगत्कर्तृत्व

---

१. दोषोपाधि-प्रयुक्त चक्षुरादीनां भ्रम-करणत्वम् इव पृथिव्याद्युपाधि-प्रयुक्तं ब्रह्मणः सविशेषत्वं सत्यम् इत्येवंरूपपूर्वपक्षस्य···। (ब्र० शा० परिम० ३.२.११)।

२. तदपि नोपपद्यते। न हि उपाधियोगादपि अन्यादृशस्य वस्तुनः अन्यादृशः स्वभावः सम्पद्यते। (ब्र० शा० ३.२.११)।

३. न हि औपाधिकत्वे वस्तुस्वभावता सम्भवति। न हि जपा-कुसुमारुणिमानं गृह्णन् स्फटिकः अरुणो भवति। (विद्व०, पृ० १९७)।

४. उपाधि-निमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः। उपाधीनाञ्च अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। (ब्र० शा० ३.२.१५)।

न हि स्वच्छः सन् स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति, भ्रममात्रत्वाद-स्वच्छताभिनिवेशस्य। (ब्र० शा० ३.२.११)।

४. पारमार्थिकत्वे हि उपाधि-जनितस्य रूपस्य ब्रह्मणः परिणामो भवेत्। स च प्राक्-प्रतिषिद्धः। (ब्र० शा० भामती ३.२.११)।

५. उपाधीनाञ्च अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। (ब्र० शा० ३.२.११, १५)।

६. तस्मादाविद्यकत्वादुपाधीनामस्त-समस्त-विशेषं तदिति प्रतिपत्तव्यम्। (विद्व०, पृ० १९८)।

तत्पारिशेष्यात्, स्फटिक-मणेरिव स्वभाव-स्वच्छ-धवलस्य लाक्षारसावसेकोपाधिर-रुणिमा सर्वगन्धत्वादिरौपाधिको ब्रह्मणि अध्यस्तः इति पश्यामो, निर्विशेष-तात्पर्य-प्रतिपादनार्थत्वात् श्रुतीनाम्। (ब्र० शा० भामती, ३.२.११)।

आदि ब्रह्मके श्रुत्युक्त धर्म अविद्योपाधिक एवं अध्यस्त मात्र हैं, पारमार्थिक नहीं[1]। शुद्ध ब्रह्मके दुर्ज्ञेय होनेके कारण श्रुति पहले उसे बतानेके लिए जगत्की सृष्टिका उल्लेख करके ब्रह्मके कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का प्रतिपादन करती है और इस प्रकार सोपाधिक ब्रह्मका ज्ञान हो जानेपर 'शाखाचन्द्रन्याय' न्यायसे पूर्वोक्त कर्तृत्वादिका अपोहन कर कर्तृत्वादिरहित शुद्ध निर्विशेष ब्रह्मका बोध कराती है[2]। उपर्युक्त प्रकारसे शाङ्कर-वेदान्तानुयायी पूर्वपक्षी यह प्रतिपादित करते हैं कि स्वरूपतः निर्विशेष ब्रह्मके सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, ईश्वरत्व एवं जगत्कर्तृत्व आदि विशेषोंके निरूपक श्रुतिवाक्य उपासना-परक एवं निषेध्य-कोटि-निरूपक हैं, वस्तु-स्वरूप-प्रतिपादक नहीं। इनमें उल्लिखित विशेषोंका निषेध उन्हें अविद्या-कल्पित माननेपर ही उपपन्न हो सकता है, और 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (के० १.४) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें उपासना-विषयके अब्रह्मत्वका निरूपण भी मिलता ही है। अतः ब्रह्मके श्रुत्युक्त विशेषोंको भी अविद्या-कल्पित एवं ब्रह्मको निर्विशेष मानना ही उचित है[3]।

इस प्रकार निर्विशेष-ब्रह्मवादीके अनुसार सविशेष-निरूपक श्रुतिवाक्यों द्वारा निर्विशेष-निरूपक श्रुतिवाक्योंका बाध उपपन्न नहीं है,[4] किन्तु उपासनार्थ निषेध्य-कोटि-

---

१. अविद्यात्मकोपाधि-परिच्छेदापेक्षमेव ईश्वरस्य ईश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वञ्च, न परमार्थतो विद्ययाऽपास्त-सर्वोपाधि-स्वरूपे आत्मनि ईशित्रीशितव्य-सर्वज्ञत्वादि-व्यवहार उपपद्यते। (ब्र० शा० २.१.१४)।

२. शुद्ध-ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वेन तज्ज्ञापनाय जगज्जननमुक्त्वा, तत्कर्तृत्व-भोक्तृत्वे प्रतिपाद्य, तद्द्वारा सोपाधिके ब्रह्मणि बुद्धौ सिद्धायां, शाखाचन्द्रन्यायेन पूर्वोक्तमपोह्य, कर्तृत्वाद्यपेतं ब्रह्म पश्चाद् बोध्यते। (विद्व०, पृ० ३९–४०)।
तु०, तत्त्वा० प्र० १.८५. द्र०, तत्त्वा० शा० पृ० २९०.

३. एवं सति विशेष-निरूपिकाः श्रुतयो निषेध्य-कोटि-निरूपिका इति सिद्धम्। निषेधश्च एतेषाम् अविद्या-कल्पितत्वे एव सङ्गच्छते। न हि वस्तुसन्निषेधार्हं भवति। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (के० १.४) इतिश्रुत्योपासना-विषयाणामब्रह्मत्वोक्तेश्च। तस्मान्निर्विशेषमेव ब्रह्म इति मन्तव्यम्। (विद्व०, पृ० २०२–२०३)।
'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च' (बृ० २.३.१)···'अथात आदेशो नेति' (बृ० २.३.६)···नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति, लोक-प्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्ध-ब्रह्मस्वरूप-प्रतिपादनाय च इति निरवद्यम्। (ब्र० शा० ३.२.२२)।

४. इस कथनकी पुष्टिके लिए दिये गये तर्कोंके स्पष्टीकरणके लिए देखिए ऊपर पृष्ठ ६४–६५ तथा विद्व०, पृ० १९८.

निरूपक सविशेष-ब्रह्मका उल्लेख करनेवाले वाक्योंका शुद्ध निर्विशेष-ब्रह्मके प्रतिपादक वाक्योंद्वारा बाध बुद्धिग्राह्य लगता है। अत एव ब्रह्मको स्वरूपतः निर्विशेष माननेका उसका मत ही श्रुतिसम्मत है और सिद्धान्तीको उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

* ४.४.० * विद्वन्मण्डनकारने पूर्वोक्त प्रकारसे निर्विशेष-ब्रह्मवादी पूर्वपक्षीके मतका विस्तारसे उपपादन कर उसका खण्डन किया है जिसकी व्याख्या हम ऊपर द्वितीय अध्याय (पृष्ठ ४९-५३) में कर चुके हैं अतः उसके पिष्ट-पेषणसे विरत रहते हुए यहां केवल इसी तथ्यकी ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं कि सिद्धान्तीका विरोध ब्रह्मको निर्विशेष-माननेसे नहीं है। यथाश्रुतार्थवादी होनेके कारण उसे श्रुति-निरूपित ब्रह्मका निर्विशेषत्व भी स्वीकार ही है। पूर्वपक्षीसे विरोध केवल इस बातको लेकर है कि सिद्धान्ती ब्रह्मके श्रुति-प्रतिपादित सविशेषत्वको भी समानरूपसे सत्य माननेका आग्रही है और इसकी उपपत्तिके लिए ब्रह्मके विरुद्ध-धर्माश्रयत्व एवं सर्व-भवन-समर्थत्व आदिरूप श्रौत तर्कोंका अवलम्बन लेता है, किन्तु पूर्वपक्षी ब्रह्मके सविशेषत्व, जगत्कर्तृत्व आदि को पारमार्थिक न स्वीकार कर आविद्यक माननेका पक्षधर है। सिद्धान्तीको सर्वाधिक आपत्ति ब्रह्मके जगत्कर्तृत्वादिरूप सविशेषत्वको न स्वीकार करने या औपाधिक एवं मिथ्या मानने के पूर्वपक्षीके कथन पर है।

* ४.४.१ * श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार श्रुतिमें सर्वत्र किसी न किसी रूपमें भगवान्‌के माहात्म्यका ही प्रतिपादन किया गया है और यह माहात्म्यका प्रतिपादन भक्तिकी सिद्धिके लिए किया गया है[1]। भगवान्‌के जगत्कर्तृत्व एवं सृष्टि के अनेकधा निरूपण द्वारा भी इस माहात्म्यका ही प्रतिपादन किया गया है[2]। यद्यपि सृष्टिका कर्ता होनेमें भी भगवान्‌का कोई माहात्म्य नहीं है क्योंकि उनके लिए सृष्टि करना कोई प्रयत्न-साध्य महान् कार्य नहीं, प्रत्युत अनायास की गयी लीलामात्र है, तथापि लोगोंको लौकिक दृष्टिसे देखने पर भगवान्‌का सृष्टिकर्तृत्व उनकी महत्ताका प्रतिपादक प्रतीत होता है[3],

---

१. यथाकथञ्चिन्माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते।
भजनस्यैव सिद्धयर्थं तत्त्वमस्यादिकं तथा॥ (तत्त्वा० १.४१)।
वेदानां भगवन्माहात्म्य-प्रतिपादकत्वम्।...माहात्म्यज्ञानस्योपयोगमाह, 'भजनस्यैव सिद्धयर्थम्' इति। भक्ति-सिद्धयर्थम्। (तत्त्वा० प्र० १.४१)।

२. तत्सृष्टिकथने भवतीति सृष्टिभेदा निरूप्यन्ते। (वहीं)।

३. अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य, अनेक-कर्तृ-भोक्तृ-संयुक्तस्य, प्रतिनियतदेश-काल-निमित्त-क्रियाफलाश्रयस्य, मनसाप्यचिन्त्य-रचनारूपस्य जन्म-स्थिति-भङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद् ब्रह्म। (ब्र० शा० १.१.२)।

अतः श्रुतिमें उनके सृष्टिकर्तृत्वरूप माहात्म्यका निरूपण किया गया है[1]। श्रुति ब्रह्ममें अलौकिक कर्तृत्वके होनेका प्रतिपादन करते हुए उसमें लौकिक कर्तृत्वके होनेका निषेध करनेके लिए, उसके विरुद्धधर्माश्रयत्वरूप माहात्म्यका ज्ञान करानेके लिए ही कहीं-कहीं उसके अकर्तृत्वका निरूपण भी करती है। अतः शुष्क तर्कके बल पर ब्रह्मके कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व दोनोंमेंसे किसी एकका निषेध करना ठीक नहीं है[2]।

* ४ ४.२ * श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार मायावादकी उद्भावना लोगोंको मोहमें डालकर भगवद्बहिर्मुख कर देने एवं भगवद्भक्तिके मार्गका उच्छेद करने के लिए ही हुई है[3]। मायावादी भगवद्भक्तिके मार्गका निराकरण किस प्रकार करते हैं इसे स्पष्ट करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि भक्तिके दो अंश भजनीयका माहात्म्य एवं आत्मत्वेन ज्ञान हैं और श्रुति भक्तिकी सिद्धिके लिए इन दोनोंका प्रतिपादन करती है[4]। भक्तिका स्वरूप है भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वक भगवद्विषयक निरुपाधिक स्नेह। इनमेंसे माहात्म्यज्ञान भगवान्के जगत्कर्ता आदि होनेके ज्ञानसे तथा निरुपाधिक एवं सुदृढ स्नेह

---

१. वस्तुतस्तु सृष्टिकर्तृत्वेऽपि न भगवतो माहात्म्यं, महाराजाधिराजस्य चलितुं ज्ञानमिव, तथापि लोकप्रतीतौ तन्माहात्म्यं भवतीति यथाकथञ्चिद् वर्ण्यते। (तत्त्वा०प्र० १.४१)।

२. ब्रह्मणि अलौकिकं कर्तृत्वं वदन् अकर्तृत्वमाह लौकिक-कर्तृत्व-निषेधार्थम्।···अतो माहात्म्य-ज्ञापनार्थमेव अकर्तृत्व-कथनम्। माहात्म्य-बोधन प्रकारमाह, 'विरुद्धधर्म-बोधाय' इति। यत्र एवं परस्पर-विरुद्धा धर्मा बोध्यन्ते स एव महान्। ते धर्मा उभये सत्याः, अन्यथा माहात्म्यं न सिद्धयेत्। अतो युक्त्या न एकतरस्य बाधः। (तत्त्वा० प्र० १.८८)। द्र०, तत्त्वा० शा० पृ० ३००-३०३; तथा ऊपर पृ० ११५.

३. मोहार्थमेव शास्त्र-करणम्।···मायावादाद्यनुसारेण शास्त्रे कृते लोका बहिर्मुखा भविष्यन्ति इति तथा कृतवन्तः। (तत्त्वा० प्र० १.१५)।
यथा प्राणिनो भगवद्विमुखा भवन्ति तथोपायो रचितः। न तु अत्र किञ्चिज्ज्ञातव्यमस्ति। (तत्त्वा० प्र० १.८०)।
तु०, 'इतरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुहयेयुरिमाः प्रजा इति। सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः।' (ब्र० शा० २.२.३२)।

४. माहात्म्यज्ञानस्य उपयोगमाह···भक्तिसिद्धयर्थम्। भक्तेरंशद्वयम् इति द्वितीयमपि प्रतिपादयति। द्वितीयांशमाह। स्नेहो भक्तिः। रतिर्देवादिविषयिणी भाव इत्यभिधीयते। रतिः स्नेहो, देवत्वं माहात्म्यम्। तदात्मत्वेन ज्ञाते भवति। तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं चोच्यते। (तत्त्वा० प्र० १ ४१-४२)।

भगवान्‌को आत्मत्वेन जाननेपर होता है,[1] अत एव श्रुति ब्रह्म-प्रकरणमें सृष्टि-निरूपण द्वारा भगवान्‌के माहात्म्यका एवं 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) आदिरूप उपदेश द्वारा उनके आत्मत्वेन ज्ञानका प्रतिपादन करती है। यदि श्रुतिका अभिप्राय भक्तिका प्रतिपादन करना नहीं प्रत्युत ब्रह्मके स्वरूपज्ञानसे ही पुरुषार्थ-सिद्धि माननेका होता तो तैत्तिरीयादि उपनिषद् भी ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण देकर ही विरत हो जाते और उसके माहात्म्यसूचक कार्य आदिका निरूपण एवं उसका आत्मत्वेन प्रतिपादन न करते[2]। उपर्युक्त प्रकारसे माहात्म्यप्रतिपादक एवं आत्मत्वेन ब्रह्मके प्रतिपादक वाक्योंका तात्पर्य यही है कि मोक्ष-पुरुषार्थकी सिद्धि यथोक्तमाहात्म्य-विशिष्ट ब्रह्मका आत्माके रूपमें ज्ञान होनेपर ही होती है। उसके आत्मत्वका निरूपण श्रुति इसलिए करती है कि उसमें निरुपाधिक प्रेम हो सके। लोकमें ऐसा देखा जाता है कि सभीको अपनी आत्मासे निरुपाधिक प्रेम होता है। श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌ने,

अहमात्माऽऽत्मनां धातः श्रेष्ठः सन्प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः॥ (भाग० ३.९.४२)

इत्यादि कहकर आत्माको ही निरुपाधिक प्रेमका विषय बताया है। श्रुति भी 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २.४.५) कहकर इसीकी पुष्टि करती है। भगवान्‌को अपनी आत्माके रूपमें जाननेका अर्थ है उन्हें अपना स्वरूप समझ लेना और अपने स्वरूपसे स्वाभाविक और निरुपाधिक प्रेम होनेके कारण उनमें निरवद्य, निरुपाधि और सुदृढ स्नेह रखना। इस प्रकार भगवान्‌में शुद्ध स्नेह हो सके इसीलिए श्रुतिमें उनका आत्मत्वेन निरूपण किया गया है। भगवान्‌का जगत्‌के जन्मादिके कारणके रूपमें निरूपण उनके माहात्म्यके प्रतिपादनके लिए हुआ है। इस प्रकार भगवान्‌का आत्मत्वेन ज्ञान होनेपर उनसे प्रेम होगा और भगवत्प्रेमकी सिद्धि होगी तथा उनके माहात्म्यका ज्ञान होनेपर भगवान्‌की सेवामें प्रवृत्ति होगी और भगवत्सेवाकी सिद्धि होगी। अतएव श्रुति उपर्युक्त दोनों रूपोंमें भगवान्‌का बोध कराती है। इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार श्रुति ब्रह्मके स्वरूप-ज्ञानका विधान कर, उसकी पुरुषार्थताका उल्लेख कर, 'फल-सिद्धि भगवदाविर्भाव होनेपर ही होती है' यह बता कर, भगवदाविर्भावके लिए

---

१. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥
इति वैष्णव-तन्त्र-वचनात् 'माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहो भक्तिः।' सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति। माहात्म्यज्ञानं तु सृष्ट्यादिभिः। ···द्वयमपि भक्तिहेतुः। (सुबो० १.१.१)।

२. अन्यथा वाक्यद्वयं ब्रह्मप्रकरणे व्यर्थं स्याद्, ब्रह्मस्वरूप-ज्ञानेनैव पुरुषार्थ-सिद्धेः।
(तत्त्वा० प्र० १.४२)।

प्रेमसेवाका निरूपण करती हुई, भगवदवज्ञादिरूप दोषोंकी सम्भावनाके अपनोदनके लिए भगवन्माहात्म्यका और सुदृढ स्नेहकी सिद्धिके लिए उनके आत्मत्वका प्रतिपादन करती है;[1] किन्तु मायावादी भक्तिके निराकरणके लिए उसके उपर्युक्त दोनों अशोंका अवमूल्यन करनेका प्रकार अपनाते हुए, भक्तिकी स्वरूपयोग्यतासे सम्पन्न सात्त्विक लोगोंको भी भगवद्भक्तिसे विरत कर देते हैं[2]। भक्तिके प्रथम अंश भजनीयके माहात्म्यका अवमूल्यन[3] वे प्रपञ्चको मिथ्या,[4] भगवान्‌के सर्वेश्वरत्व, सर्वकर्तृत्वादिको[5] अविद्योपाधिक एवं भजनीयके स्वरूपको भावना-कल्पित[6] बताकर करते हैं; तथा दूसरे अशका अवमूल्यन जीवको व्यापक बताकर[7], 'दासोऽहं कृष्ण तवास्मि' के स्थानपर 'अहं ब्रह्मास्मि' का प्रतिपादन कर।

* ४.४.३ * अतएव उनके इस मतका निषेध करके ही जीवोंकी भगवद्-भक्तिमें प्रवृत्ति सम्पादित की जा सकती है[8]। इसीलिए उनके इन दोनों अवमूल्यनोंका निराकरण करनेके लिए श्रीवल्लभाचार्यने प्रपञ्च एव जीव के स्वरूपका निरूपण किया है[9] तथा ब्रह्मके जगत्कर्तृत्व आदि धर्मोंके सत्य होने एवं ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होने की सिद्धि की है। विद्वन्मण्डनकारने इस सन्दर्भमें उन्हींका अनुसरण किया है।

श्रीवल्लभाचार्यके शब्दोंमें[10] कुछ 'अति-विमल-प्रज्ञ' अर्थात् जिनसे निर्मल प्रज्ञा

---

१. अतः स्वरूप-ज्ञानं विधाय, तस्य पुरुषार्थत्वम् उक्त्वा, तदाविर्भावे एव फलं सिद्धयति इति आविर्भावार्थं प्रेमसेवां निरूपयन्तो, अवज्ञादि-दोषाभावाय माहात्म्यज्ञ, सुदृढ-स्नेहाय आत्मत्वञ्च आह। (तत्त्वा० प्र० १.४२)।

२. यथाकथञ्चित्कृष्णस्य भजनं वारयन्ति हि। (तत्त्वा० १.१५)।
'सात्त्विका' इति स्वरूपयोग्यता। अभजने येषां शास्त्रान्तरमेव प्रयोजकं न तु स्वभावः। (तत्त्वा० प्र० १.२२)।

३. एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम्। (तत्त्वा० १.८०)।

४. प्रपञ्चमेव मिथ्या इत्युक्त्वा शुद्धं भजनं वारयन्ति। (तत्त्वा० प्र० १.२३)।

५. यद्धि सर्वोपास्यं तस्य माहात्म्यं नाशयति, सर्वेश्वरः सर्वकर्ता सर्वकारणरूप इत्यादि-रूपम्। (तत्त्वा० प्र० १.८०)।

६. भावनाकल्पितत्वञ्च विषयस्याहुः। (तत्त्वा० प्र० १.१७)।

७. शुद्धं भजनं वारयन्ति···जीवं व्यापकमुक्त्वा। (तत्त्वा० प्र० १.२३)।

८. तेषां मतनिराकरणेन प्रवृत्तिः सम्पाद्यते। (तत्त्वा० प्र० १.२१)।

९. अतः उभयनिराकरणार्थं जीवजडयोः स्वरूपम् उच्यते। (तत्त्वा० प्र० १.२३)।

१०. केचिदत्रातिविमलप्रज्ञाः श्रौतार्थबाधनम्।
कृत्वा जगत्कारणतां दूषयन्ति परे हरौ॥ (तत्त्वा० १.७८)।

पर, अतीत एवं दुष्प्राप्य है ऐसे मन्दमति[1] कुतार्किक, श्रौत अर्थकी उपेक्षा और उसका बाध एवं अपलाप कर, परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीहरिके जगत्का कारण होनेके सिद्धान्तमें दोषोद्भावना करते हैं ।

श्रुति अभिधावृत्तिसे प्रकरणके अनुरोधसे जिस अर्थका प्रतिपादन करती है वही श्रुति का प्रतिपाद्य अर्थ है, और श्रुतिके ऐसे प्रकरणों या स्थलों में जहाँ ब्रह्मका प्रतिपाद्य होना निःसन्दिग्ध है, केवल ब्रह्मके ही जगत्के कारण होनेका प्रतिपादन हुआ है। 'हे सौम्य ! पहले सत् ही था' (छा० ६.२.१); 'पहले यह आत्मतत्त्व ही था' (ऐ० १.१); 'ब्रह्मवेत्ता परतत्त्वको प्राप्त करता है' (तै० २.१); 'वरुणके पुत्र भृगु' (तै० ३.१) आदि वाक्योंसे प्रारम्भ होनेवाले स्थलोंमें ब्रह्मका निरूपण हुआ है और वहां केवल ब्रह्म या शुद्ध ब्रह्म (न कि शबल ब्रह्म) को ही जगत्का कारण बताया गया है। जिस प्रकार इन वाक्योंमें ब्रह्मके जगत्कारणत्वका उपपादन है उसी प्रकार कुछ अन्य ऐसे श्रुतिवाक्योंमें भी शुद्ध ब्रह्मके जगत्कारणत्वका प्रतिपादन हुआ है जो कुछ सन्दिग्ध प्रतीत होते हैं (अर्थात् जिनमें आकाश, प्राण आदि शब्दोंके प्रयोगके कारण यह सन्देह होने लगता है कि ये वाक्य आकाशादिके जगत्कारणत्वका प्रतिपादन करते हैं या ब्रह्मके जगत्कारणत्वका)। इसीलिए व्यासने ब्रह्मसूत्रोंमें ऐसे वाक्योंके तात्पर्यका निर्णय करते हुए उन्हें केवल ब्रह्मके जगत्कारणत्वका प्रतिपादक सिद्ध किया है[2]।

* ४.४.४ * श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार उपर्युक्त मन्दबुद्धि लोग केवल ब्रह्मके जगत्कारणत्वके प्रतिपादक उनदोनों प्रकारके अर्थात् निःसन्दिग्ध और सन्दिग्ध वाक्यों तथा ब्रह्मसूत्रों का बाध अर्थात् तिरस्कार और अपलाप करके वाक्याभासों और युक्त्याभासों द्वारा शुद्ध ब्रह्मको जगत्कारण माननेके सिद्धान्तमें दोषोद्भावना करते हुए उसका खण्डन करते हैं[3] और अनादि अविद्यासे बद्ध ब्रह्मको जगत्का कारण मानते हैं[4]।

* ४.४.५ * विद्वन्मण्डनकार जगत्को मिथ्या एवं ब्रह्मके जगत्कर्तृत्वादि विशेषोंको अविद्याकल्पित माननेके मायावादीके मतका, विभिन्न विकल्पोंका उपस्थापन

---

१. अतिक्रान्ता विमला प्रज्ञा येभ्यः । तत्र हेतुः, 'श्रौतार्थबाधनम्' इति । (तत्त्वा० प्र० १.७८)।

२. उदाहरणार्थ द्र०, अ० १.१.४–३० तथा हमारी 'अणुभाष्यसमीक्षा' पृ० १२५–६.

३. श्रुत्या अभिधया वृत्त्या योऽर्थः प्रतिपाद्यते प्रकरणानुरोधेन स एव श्रुत्यर्थः । तत्र ··· निःसन्दिग्धेषु ब्रह्मण एव केवलस्य जगत्कारणत्वं प्रतिपादितम् । तत्सामान्यादितरेष्वपि सन्दिग्धेषु व्यासैः सूत्रेषु तथैवार्थो निर्णीतः । तदुभयं बाधित्वा वाक्याभासं युक्त्याभासञ्च पुरस्कृत्य ब्रह्मणो जगत्कारणतां दूषयन्ति । (तत्त्व० प्र० १.७८)।

४. अनाद्यविद्यया बद्धं ब्रह्म तत्किल कारणम् । (तत्त्वा० १.७९)।

कर, खण्डन करते हैं। उनके अनुसार मायावादी जगत्कर्तृत्व आदि विशेषणोंसे विशिष्ट ब्रह्म एवं निर्विशेष ब्रह्म में न तो भेद ही सिद्ध कर सकते हैं और न अभेद ही।[1] यदि वे इन दोनोंमें तात्त्विक भेद मानेंगे तो ब्रह्मसूत्रों एवं श्रुतिवाक्यों का विरोध होगा और ब्रह्मानेकत्वकी प्रसक्ति होगी। इस भेदको अतात्त्विक माननेपर उन्हें इसे उपाधिकृत मानना पड़ेगा। 'अनादि अविद्या' को उपाधि माननेके मायावादीके मतका खण्डन करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि अविद्या एवं ब्रह्म दोनोंको अनादि माननेके कारण इस मतमें अविद्योपहित ब्रह्मको भी अनादि ही मानना पड़ेगा और इस अनादि अविद्योपहित ब्रह्मको कर्ता माननेपर सृष्टिके निरन्तर होते रहने एवं प्रलयके कभी भी न होने का अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा, क्योंकि श्रुतिमें केवल इच्छाविशिष्ट ब्रह्मको ही सृष्टिका कारण बताया गया है और उसे सृष्टि करनेके लिए किसी अन्य सहकारी कारणकी अपेक्षा नहीं है। तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकते कि 'सृष्टिमें इच्छा सहकारी कारण है और सृष्टि उसका समवधान होनेपर होती है, अतः निरन्तर सृष्टिके होते रहने और प्रलयके न होने का दोष उनके मतपर लागू नहीं होता' क्योंकि 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २.६.१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे ज्ञात होता है कि इच्छा-विशिष्ट-ब्रह्म-मात्र (अर्थात् अन्य किसी सहकारी कारणकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल ब्रह्म) सृष्टिका कारण है और वह कारणान्तर-निरपेक्ष होकर सृष्टि करता है। अतः सृष्टिमें सहकारी कारणकी अपेक्षाका मत श्रुति-विरुद्ध होने एवं कल्पना-गौरव-ग्रस्त होने से अग्राह्य है; जबकि सिद्धान्तीके केवल ब्रह्मको सृष्टिकर्ता माननेके मतमें श्रुत्यनुकूलताके साथ ही कल्पनालाघव भी है।

* ४.४.६ * पूर्वपक्षीका स्मार्त मतका अवलम्बन कर यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं होगा कि 'ब्रह्म सृष्टि, स्थिति एवं संहार आदि, कारणान्तर-निरपेक्ष होकर नहीं प्रत्युत गुणोंकी अपेक्षा रखकर,[2] गुणोंका आश्रय लेकर, गुणोपहित होकर करता है। इस प्रकार त्रिगुणात्मिका माया मायात्वेन या अविद्यात्वेन नहीं प्रत्युत तत्तद्-गुणत्वेन या सत्त्वरजस्तमोगुणत्वेन उपाधि है (अर्थात् माया मायाके रूपमें नहीं प्रत्युत सत्त्व, जरस् एवं तमस् इन तीन गुणोंके रूपमें उपाधि है तथा जिस समय जो गुण उपाधि होता है उस समय तदनुरूप सृष्टि, स्थिति एवं संहार आदि कार्य होते हैं) और इस प्रकार अतात्त्विक भेदका उपाधिकृत होना उपपन्न है।'

इस विकल्पकी असङ्गतता बताते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि तीनों गुण अनादि हैं और ईश्वरको इनसे युगपत् (अर्थात् एक साथ ही तीनोंसे) उपहित माननेपर अनेक ईश्वर माननेका अनिष्टप्रसङ्ग आ उपस्थित होगा अतः पूर्वपक्षी युगपत् गुणत्रयोपहितत्वका

---

१. द्र० ऊपर पृष्ठ ५१ एवं परवर्ती पृष्ठ। २. द्र०, भाग० १.२.२३ आदि।

पक्ष स्वीकार नहीं कर सकते और उन्हें गुणोपहितत्वमें पौर्वापर्यकी अपेक्षाका पक्ष स्वीकार कर यह मानना होगा कि ब्रह्म क्रमशः रजोगुण-सापेक्ष होकर सृष्टि, सत्त्व गुण-सापेक्ष होकर स्थिति, एवं तमोगुण-सापेक्ष होकर प्रलय करता है। ऐसी स्थितिमें 'अचेतन गुणोंका पूर्वापरके क्रमसे आविर्भाव होने पर सृष्टि, स्थिति एवं संहार होते हैं' यह माननेवाले पूर्वपक्षीको गुणोंके इस पौर्वापर्यसे आविर्भावका कारण बताना होगा। चैतन्य एवं स्वातन्त्र्य से रहित होनेके कारण गुण स्वयं तो पौर्वापर्यसे आविर्भावके कारण हो नहीं सकते। अगत्या चेतन एवं स्वतन्त्र भगवान्की इच्छाको ही गुणोंके पौर्वापर्यसे आविर्भावका कारण मानना होगा। ऐसी स्थितिमें भगवदिच्छाजन्य-पौर्वापर्यसे आविर्भूत गुणोंको सृष्टि आदिका सहकारी कारण माननेमें कल्पनागौरव स्पष्ट है। इसकी अपेक्षा निरपेक्ष भगवान्की इच्छाको ही सृष्टिका कारण माननेमें कल्पनालाघव है।

पुनश्च। गुणोंके पौर्वापर्यसे आविर्भावकी कारणभूत उक्त भगवदिच्छाको उपस्थिति ब्रह्ममें, ब्रह्मके द्वारा गुणोंका ग्रहण किये जानेके पहले ही माननी होगी। किन्तु यह मान लेनेपर ब्रह्ममें इच्छाकी उपस्थिति होनेसे उसे सविशेष स्वीकार करना पड़ेगा तथा निर्विशेष-ब्रह्म-वादका पूर्वपक्षीका मत निरस्त हो जायेगा। इस प्रकार गुणोंकी उपाधि स्वीकार करनेसे भी कोई लाभ नहीं है, क्योंकि इसे स्वीकार करके भी निर्विशेष ब्रह्मके कर्तृत्व आदिकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

पुनश्च। पूर्वपक्षी गुणोंके क्रमिक आविर्भावमें ब्रह्मकी इच्छाको कारण नहीं मान सकते क्योंकि वे यह मानते हैं कि ब्रह्म अविद्याधीन होकर सृष्टि आदि करता है; अतः उसकी सृष्टि आदि करनेकी इच्छामें भी क्रमशः आविर्भूत आविद्यक गुण ही कारण हो सकते हैं न कि गुणोंके आविर्भावमें उसकी इच्छा।

यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि गुणोंके क्रमशः आविर्भावमें उन गुणोंका स्वभाव ही कारण है तो 'उक्त स्वभावसे विशिष्ट गुण ही सृष्टि आदि कर सकते हैं और उसके लिए ब्रह्मको कारण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है' ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं है, प्रत्युत कल्पना-लाघव ही है।

उपर्युक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि पहले अविद्याके द्वारा इच्छा उत्पन्न की जाती है तदनन्तर तत्तत् कार्योंके लिए तत्तत् गुणोंसे उपहित ब्रह्म सृष्टि-स्थिति-संहारादि कार्य करता है तो उनका यह कथन भी सङ्गत नहीं लगता है क्योंकि अविद्यासे जो इच्छा उत्पन्न होगी वह इच्छा-सामान्य होगी। अविद्याके गुण-साम्यरूप या गुण-सामान्यरूप होनेके कारण उससे जन्य इच्छा इच्छासामान्य या कार्यत्रय-विषयिणी होगी। ऐसी दशामें उस इच्छामें पहले सिसृक्षा, फिर जगत्का पोषण करने (अर्थात् स्थिति) की इच्छा एवं तदनन्तर संहारकी इच्छा का यह जो क्रम है इसका कोई हेतु बताना होगा। अविद्या-सामान्यको इसका हेतु नहीं कहा जा सकता।

अगत्या तत्तद् गुणोंसे उपहित ब्रह्मको ही इस क्रमका कारण मानना पड़ेगा और इस मान्यताका पर्यवसान यह स्वीकार करनेमें होगा कि इस क्रमका हेतु वे गुण ही हैं जिनसे उपहित होकर ब्रह्म सृष्टि-स्थिति आदि करता है। यदि 'सृष्टि, स्थिति और संहार की इच्छाके क्रमके नियामक गुण ही हैं' यह निष्कर्ष स्वीकार कर लिया जाये तो प्रश्न उठेगा कि गुणोंके इस क्रमका नियामक हेतु क्या है? पहले रजोगुणके उद्रेकसे सृष्टि, तदनन्तर सत्त्वगुणके प्राबल्यसे स्थिति एवं तत्पश्चात् तमोगुणके प्राधान्यसे संहार; यही क्रम क्यों होता है? पहले रजोगुणका ही आविर्भाव क्यों होता है? इसके उत्तरमें अन्ततः गुणोंके स्वभावको ही उक्त क्रमका कारण मानना पड़ेगा कि रजोगुणका स्वभाव ही ऐसा है कि वह सबसे पहले आविर्भूत होता है, सत्त्वगुणका स्वभाव ही ऐसा है कि वह रजोगुणके बाद आविर्भूत होता है, और इसी प्रकार तमोगुणकी स्वाभाविक संरचना ही ऐसी है कि उसका उद्रेक अन्तमें होता है। किन्तु उपर्युक्त मत स्वीकार कर लेनेपर पूर्वोक्त प्रकारके स्वभावसे विशिष्ट अर्थात् क्रमिक आविर्भावके स्वभाव वाले तीनों गुणोंको ही क्रमशः सृष्टि, स्थिति एवं संहार का कारण मान लिया जा सकता है और उन गुणोंसे उपहित ब्रह्मको कारण माननेके कल्पना-गौरव-दोषसे बचा जा सकता है। इस प्रकार कल्पना लाघवके कारण गुणोपहित या गुणाधीन ब्रह्मको कारण माननेकी अपेक्षा क्रमिक आविर्भावके स्वभाव वाले गुणोंको ही सृष्टि-स्थिति-लयका कारण मान लेने पर (उपहित ब्रह्मकी कारणताकी अपेक्षा न रह जानेसे) अनीश्वरवादका प्रसङ्ग आ उपस्थित होता है।

यह अनीश्वरवाद पूर्वपक्षियोंको भी अभिप्रेत नहीं है क्योंकि इसे स्वीकार करने पर श्रुतिके 'हे सोम्य! पहले यह सब कुछ सत् ही था' (छा० ६.२.१) इत्यादि वाक्योंका विरोध होता है। इस वाक्यमें प्रयुक्त 'एव'-कार अन्य-योग-व्यवच्छेदक है और यह सूचित करता है कि उस समय सत् ब्रह्मसे भिन्न और कुछ नहीं था। इस प्रकार यह ब्रह्म या ईश्वर से भिन्न गुणों (या त्रिगुणात्मिका प्रकृति आदि) के सृष्टिकालके पूर्व होनेका निषेध करता है।

* ४.४.७ * यदि पूर्वपक्षी अनीश्वरवादसे बचनेके लिए अनादि उपाधिका पक्ष स्वीकार कर यह कहें कि 'गुणरूप उपाधि अचेतन है और इसीलिए उसे एक प्रेरक चेतनकी अपेक्षा है। यह प्रेरक चेतन तत्त्व ब्रह्म या ईश्वर है, जिसकी अपेक्षा गुणोंको है। यह ब्रह्म अनादि गुणोंकी उपाधिसे विशिष्ट होकर सृष्टि, स्थिति आदि करता है। यह मान लेनेसे उपाधि-विशिष्ट ईश्वरकी सिद्धि हो जाती है और अनीश्वरवादके आपतित होनेका दोष दूर हो जाता है'; तो उनका यह कथन इसलिए नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि अनादि उपाधियोंको मानकर उपहित ईश्वरकी कारणता स्वीकार करनेसे पूर्वोक्त श्रुतिवाक्यका विरोध होता है। उक्त श्रुतिवाक्यमें विशेष्य-पदान्वित

अर्थात् अन्य-योग-व्यवच्छेदक 'एव'-कारके प्रयोग द्वारा (विशेष्य) सत् तत्त्व या ब्रह्म से इतर किसी अन्य (अर्थात् गुण आदि) के सृष्टिकालके पूर्व होनेका निषेध किया गया है। इस प्रकार उक्त श्रुतिवाक्यमें अन्य-योग-व्यवच्छेदक 'एव'-कारके सन्निवेशसे अनादि उपाधिके पक्षकी दोषपूर्णता सिद्ध हो जाती है।

पुनश्च। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६.२.१) इस वाक्यसे उपक्रम करके, 'हे सोम्य ! इन सारी प्रजाओंका मूल वह सत् तत्त्व ही है, वही इनका आयतन है और उसीमें इनकी प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति) है' (छा० ६.८.४) इत्यादि वाक्यों द्वारा श्रुतिमें सत् तत्त्वके ही कर्ता होनेकी बात कही गयी है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि श्रुतिको सृष्टिके पूर्व सत् तत्त्वसे इतरके अस्तित्वका निषेध और निरुपाधिक कर्तृत्वका प्रतिपादन ही अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि यदि उपाधि अनादि होती तो श्रुति उस अनादि उपाधिसे विशिष्ट ब्रह्मके ही सर्वकर्तृत्वका प्रतिपादन करती, किन्तु श्रुतिमें सत् तत्त्वके ही सर्व-कर्तृत्वका उल्लेख है, अतः अनादि उपाधिको सृष्टिसे पूर्व सत्ताशील एवं उससे उपहित ब्रह्मको सर्वकर्ता माननेके मतको श्रुतिसम्मत नहीं माना जा सकता।

* ४.४.८ * और भी। पूर्वपक्षीको अभिमत उपहित ब्रह्मको स्वतन्त्र नहीं प्रत्युत अविद्या-परतन्त्र ही कहा जा सकता है। ऐसी दशामें पूर्वपक्षी मायावादीका ब्रह्मको अविद्या-परतन्त्र मानकर कर्ता स्वीकार करना इसलिए भी ठीक नहीं है कि कर्तृत्वमें प्रयोजक स्वातन्त्र्य ही है और इसीलिए, जैसा कि पाणिनिके 'स्वतन्त्रः कर्ता' (अष्टाध्यायी १.४.५४) सूत्रमें कहा गया है, कर्ता स्वतन्त्रको ही माना जा सकता है, अविद्या-परतन्त्र को नहीं। श्रीवल्लभाचार्यने भी 'कर्ता स्वतन्त्र एव स्यात्' (तत्त्वा० १.७७) इत्यादि वाक्य द्वारा यही बात कही है। इसी तर्कको पुरस्कृत करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि निर्विशेष-ब्रह्मवादीके मतमें भी उपहित ब्रह्मको उपाधिके अधीन होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता और स्वातन्त्र्यके अभावमें उसे कर्ता मानना अनुपपन्न है।

पूर्वपक्षीका कहना है कि लोकमें ऐसा देखा जाता है कि योद्धा एवं सेवक आदि राजाके अधीन होते हुए भी, स्वातन्त्र्यके अभावमें भी युद्ध एवं राज सेवाके विविध कार्य करते हैं; अतः स्वातन्त्र्यके अभावको कर्तृत्वका बाधक मानना अनुभवानुमोदित नहीं है। यदि सैनिक एवं सेवक आदि राजाके अधीन होते हुए भी युद्ध एवं सेवा आदि कार्यों के कर्ता हो सकते हैं, तो ब्रह्म अविद्याधीन होते हुए भी जगत्कर्ता क्यों नहीं हो सकता ?

इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि राजा एवं उसके योद्धाओं या सेवकों का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व है और उनकी अपनी अनेक स्वतन्त्र क्रियाएँ भी हैं। अपने-अपने कार्योंमें स्वतन्त्रतया उनका कर्तृत्व सिद्ध है। इस प्रकार जिनका

स्वतन्त्र अस्तित्व एवं कर्तृत्व सिद्ध है उनमें यदि कभी स्वातन्त्र्यका अभाव भी हो जाये तो उनके कर्तृत्वका बाध नहीं होगा किन्तु जहां ऐसा नहीं है वहां कर्तृत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। सैनिक एवं सेवक राजाके अधीन रहते हुए भी स्वतन्त्र रूपसे अपना-अपना कार्य करतें हैं और इसीलिए उन्हें कर्ता कहा जाता है, किन्तु ब्रह्म स्वतन्त्र-रूपसे कुछ करता नहीं इसलिए उसे कर्ता नहीं कहा जा सकता।

पूर्वपक्षके प्रकृत मतपर विचार करें तो पायेंगे कि वहां उपाधिरूप अविद्या और (उससे उपहित केवल) ब्रह्म इन दोनोंका पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र कर्तृत्व सिद्ध नहीं है। वस्तुतः उपाधियुक्तको कर्ता माननेके मतकी परिणति उपाधिको कर्ता माननेके मतमें होती है, जैसे घटाकाशकी सञ्चलन-क्रियाका पर्यवसान घटके सञ्चलनमें होता है। केवल-ब्रह्म केवल-आकाशके समान है। जिस प्रकार घटके चलनेपर व्यवहारमें (घटावच्छिन्न) आकाशके चलनेकी बात कही जाती है, यद्यपि चलन-रूप क्रिया घटमें ही होती है आकाशमें नहीं, उसी प्रकार अविद्या-रूप उपाधिसे उपहित ब्रह्मको कर्ता माननेके मतका पर्यवसान अन्ततः अविद्या-रूप उपाधिका कर्तृत्व स्वीकार करनेके मतमें होगा, न कि ब्रह्मका कर्तृत्व स्वीकार करनेके मतमें। किन्तु अविद्याका जगत्कर्तृत्व स्वीकार करनेपर ब्रह्मको जगत्कर्ता कहनेवाले श्रुतिवाक्योंका विरोध होगा अतः अविद्या-परतन्त्र या अविद्योपहित ब्रह्मको कर्ता माननेका पूर्वपक्षीका मत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

* ४.४.९ * उपर्युक्त युक्तिको बुद्धिस्थ कर विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि स्वातन्त्र्यके अभावमें भी कर्तृत्व माननेका पूर्वपक्षीका आग्रह स्वीकार भी कर लिया जाये तो भी कर्तृत्व, जिसे उपाधि माना गया है उस अविद्यामें ही माना जा सकेगा, न कि उससे उपहित ब्रह्ममें। किन्तु उपहित ब्रह्मका अथवा उपाधिका कर्तृत्व माननेपर श्रुति, स्मृति एवं ब्रह्मसूत्र के, 'जिससे ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं' (तै० ३.१.१); 'हे सौम्य ! इन सारी प्रजाओंका मूल सत् है' (छा० ६.८.४); 'निश्चय ही ये सारे प्राणी आनन्दसे ही उत्पन्न होते हैं' (तै० ३.६.१); 'मैं सबकी उत्पत्तिका कारण एवं स्थान हूँ' (गीता १०.८); तथा 'जिससे इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति आदि होती है अथवा जिससे आकाशकी उत्पत्ति होती है' (ब्र० १.१.२); इन वाक्योंका और इसी अर्थके प्रतिपादक अन्य वाक्योंका विरोध होगा, क्योंकि ये वाक्य केवल अर्थात् उपाध्यभाव-विशिष्ट ब्रह्मके ही कर्तृत्वका प्रतिपादन करते हैं, उपहित ब्रह्म या उपाधि के कर्तृत्वका नहीं।

'कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते' (विवेकचूडामणि, ११०) इत्यादि कहनेवाले पूर्वपक्षियोंको माया या अविद्या का ही कर्तृत्व स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं है। उनके अनुसार जैसे युद्ध केवल राजाकी सेना कर रही हो तो भी (राजाकी प्रशंसा करनेके लिए) कहा यही जाता है कि राजा युद्ध कर रहा है

अर्थात् राजसैनिकगत युद्धकर्तृत्व राजामें उपचरित होता है उसी प्रकार उपाधिगत कर्तृत्व उपहितकी प्रशंसा करनेके लिए ब्रह्ममें उपचरित होता है अर्थात् सृष्टि-रचना वस्तुतः अविद्यारूप उपाधि ही करती है किन्तु जीवोंको ईश्वरोपासनामें प्रवृत्त करनेके लिए प्ररोचनार्थ श्रुतियाँ अविद्याके कर्तृत्वका ब्रह्ममें उपचारसे वर्णन करती हैं। इस प्रकार यदि सिद्धान्तीके पूर्वोक्त कथनके अनुरूप कर्तृत्व उपाधिरूप अविद्यामें ही मान लिया जाये, उससे उपहित केवल ब्रह्ममें नहीं, तो भी श्रुतिका विरोध नहीं होगा क्योंकि सिद्धान्ती द्वारा निर्दिष्ट वाक्योंमें उल्लिखित ब्रह्मका कर्तृत्व औपचारिक मात्र है।

* ४.५.० * पूर्वपक्षीके उपर्युक्त मतका निषेध करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि पूर्वपक्षीका यह मानना युक्तियुक्त नहीं है कि श्रुति, स्मृति एवं ब्रह्मसूत्र के पूर्वोल्लिखित वाक्योंमें और इसी प्रकारके अन्य वाक्योंमें भी ब्रह्मके कर्तृत्वका जो उल्लेख हुआ है वह औपचारिक-मात्र है, क्योंकि जब मुख्य (अर्थात् अनुपहित या उपाध्यविशिष्ट शुद्ध ब्रह्म) में कर्तृत्व होनेकी बात श्रुत्यनुकूल तर्कसे सम्भव जान पड़ती हो तो उस कर्तृत्वके औपचारिक होने अर्थात् उपहित ब्रह्म या उसकी उपाधि में होने की कल्पना युक्तियुक्त नहीं है, और उक्त वाक्योंमें उल्लिखित कर्तृत्वको मुख्य अर्थात् अनुपहित, शुद्ध ब्रह्ममें माननेमें कोई बाधा नहीं है। इसीलिए महर्षि व्यासने भी (कर्तृत्व अनुपहित या मुख्य ब्रह्ममें ही है) इस पूर्वोक्त प्रतिपाद्य अर्थको अपने 'ईक्षत्यादि-गुण-युक्त परमात्मा गौण है, ऐसा कहना ठीक न होगा क्योंकि श्रुतिमें ईक्षणकर्तृके लिए 'आत्म'-शब्दका प्रयोग हुआ है[1]' (ब्र० १.१.५) इस सूत्रमें ग्रथित करके सूचित किया है।

कभी-कभी सहृदय स्वामी अपने कार्य-कुशल, स्वामिभक्त और इसीलिए अतिप्रिय सेवकके लिए व्यवहारमें 'भद्रसेन मेरी आत्मा है' इस प्रकारके वाक्योंका प्रयोग करते पाये जाते हैं। ऐसे कथनोंमें 'आत्मा' पदका प्रयोग उपचारतः अर्थात् गौण अर्थमें ही किया जाता है। इसी तरह जब व्यवहारमें कूल पिपतिषति' अर्थात् 'नदीका तट गिरना चाहता है' इत्यादि वाक्योंका प्रयोग किया जाता है तो जड नदी-तटमें कर्तृत्वका उत्पादन भी उपचारवश ही किया जाता है। इस प्रकारके प्रयोगोंको बुद्धिस्थ कर प्रधानकारणवादी एवं मायावादी 'आत्म' पदके भी श्रुतिमें औपचारिक या गौण प्रयोग किये गये होनेका मत व्यक्त करते हैं। इनमें प्रधान-कारणवादी इसे भोग एवं अपवर्ग द्वारा पुरुषके उपकारक प्रधानके लिए प्रयुक्त हुआ बताते हैं और मायावादी उपाधिरूपा अविद्या अथवा उससे उपहित ब्रह्म के लिए। इन पूर्वपक्षियोंकी इन

---

१. आत्मशब्दः पुनः सर्वेषु वेदान्तेषु निर्गुण-परब्रह्म-वाचकत्वेन एव सिद्धः। तस्य एव जगत्कर्तृत्वं श्रुतिराह। तस्माद् 'आत्म'-शब्द-प्रयोगाद् गुणातीतमेव कर्तृ। (अ० १.१.५)।

धारणाओंका निराकरण करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि श्रुतिमें 'आत्म' पद गौण अर्थमें प्रयुक्त हुआ है इस आशङ्काका अपनोदन ब्रह्मसूत्रकारके 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' (ब्र० १.१.६) इस सूत्रसे हो जाता है क्योंकि इसमें यह कहा गया है कि 'श्रुतिमें जिस तत्त्वका 'आत्म'-शब्दसे कथन किया गया है उसी तत्त्वमें निष्ठावाले (अर्थात् तन्निष्ठ) व्यक्तिके ही मुक्त होनेकी बात भी कही है; अतः यह मानना ही उचित होगा कि वहाँ प्रयुक्त 'आत्म'-पद औपचारिक या गौण नहीं प्रत्युत शुद्ध-ब्रह्म-परक ही है' (ब्र० १.१.६)। सूत्रकारका आशय स्पष्ट करते हुए अणुभाष्यकार श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि सम्बद्ध श्रुतिवाक्य (तै० २.७.१) में प्रापञ्चिक धर्मरहित जगत्कर्तामें निष्ठा रखनेवालेके मुक्त होनेका उल्लेख है; किन्तु यदि जगत्कर्ता गौण होता तो श्रुतिमें उसमें निष्ठा रखनेवालेके मोक्षका नहीं संसरणका ही उल्लेख मिलता[1]। अतः जगत्कर्तृत्व सत्य है और मुख्य ब्रह्मका धर्म है यह मानना ही उचित है।

श्रीवल्लभाचार्यने अपने अणुभाष्यमें चार सूत्रों (ब्र० १.१.४–७) में व्यासदेव द्वारा जगत्कर्तृत्वोपपत्ति-प्रदर्शन-पूर्वक सृष्टिनिरूपक श्रुतिवाक्योंके ब्रह्मपरक होनेका उपपादन किये जानेका प्रतिपादन किया है। उसीके अन्तिम सूत्रके अर्थको[2] बुद्धिस्थ कर विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि मायावादके अनुसार उपहित ब्रह्मके जीवके ही समान होनेके कारण, जिस प्रकार शास्त्रोंमें उपलभ्यमान मुमुक्षुओंको दिये गये साधनोपदेशोंमें वैराग्य एवं पुत्रादिके हेयत्व अर्थात् त्याज्यत्व का उल्लेख मिलता है उसी प्रकार उक्त ब्रह्मके हेयत्वका उल्लेख भी मिलना चाहिए था, किन्तु उनमें ब्रह्मको हेय नहीं प्रत्युत उपास्य बताया गया है। अतः ब्रह्मसूत्रकारका यह निर्णय मायावादीको स्वीकार करना चाहिए कि " 'श्रुतिमें ब्रह्मको हेय नहीं कहा गया है'; इसलिए भी निर्गुण ब्रह्मको ही

---

१. "ननु आत्म-शब्दोऽपि लोकवद् गौणोऽस्तु। लोके हि केनचित् पृष्टो विष्णुमित्र आह, 'यज्ञदत्तो ममात्मा इति।' अत्र गौणत्वम् उपचारः इति, एवं प्राप्तेऽभिधीयते, 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' (ब्र० १.१.६)। एवं हि श्रूयते। 'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २.७.१) इत्युपक्रम्य 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।' (तै० २.७.१) इति। प्रापञ्चिक-धर्म-रहिते ब्रह्मणि एतस्मिन् पूर्वोक्त-जगत्कर्तरि परिनिष्ठितो मुक्तो भवति इत्यर्थः। तत्र यदि जगत्कर्ता गौणः स्यात् तन्निष्ठस्य संसार एव स्यात्, न मोक्षः।" (अ० १.१.६)।

२. हेयत्वावचनाच्च। (ब्र० १.१.७)। इतोऽपि निर्गुण एव जगत्कर्ता। वेदान्तेषु सर्वत्र साधनोपदेशेषु पुत्रादिवत् जगत्कर्ता हेयत्वेन नोपदिश्यते। यदि सगुणः स्यात् प्राकृत-गुण परिहारार्थं मुमुक्षुभिर्जगत्कर्ता नोपास्यः स्यात्, पुत्रादिवत्। अत ईक्षत्यादयो न सगुणधर्माः। (अ० १.१.७)।

जगत्कारण मानना उचित है[1]।"

• ४.५.१ • इसी प्रकार सूत्रकारने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० १.१.१) कह कर जिस ब्रह्म-तत्त्वकी जिज्ञासा की है, उस जिज्ञास्य-ब्रह्मका ही लक्षण परवर्ती सूत्रमें 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १.१.२) कह कर बताया है। इससे भी स्पष्ट है कि वे सृष्टि स्थिति-संहारकर्तृत्व आदिको शुद्ध-ब्रह्मके सत्य धर्म तथा ब्रह्मको सधर्मक मानते हैं। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० १.१.१) सूत्र द्वारा निर्गुण-ब्रह्मकी जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा कर, उस ब्रह्मका लक्षण क्या है इस प्रकारकी आकाङ्क्षा होने पर उसकी पूर्तिके लिए सूत्रकारने 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १.१.२) इत्यादि कहा है, अतः उनके इस परवर्ती कथनको सगुण-निरूपक (अर्थात् उपहित-ब्रह्म-परक) माननेसे सूत्रकारकी प्रतिज्ञाहानि तो होती ही है, उपक्रम-विरोध होनेके कारण विचारके नियमोंका[2] उल्लङ्घन भी होता है। इस सबकी उपेक्षा कर जगत्कर्तृत्वको उपहित-ब्रह्मका धर्म मानना उचित नहीं है[3]।

• ४.५.२ • पूर्वपक्षीका यह कहना कि 'विचार ही मुख्य है अतः व्यास-वाक्यका विरोध होनेकी चिन्ता छोड़कर, 'यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम् ?' के न्यायसे, अर्थानुरोधसे, जन्मादि-सूत्रकी तटस्थ-लक्षण-परक व्याख्या करके श्रुति-विरोधका परिहार करना ही उचित होगा' भी युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि जन्मादिसूत्रको तटस्थ-लक्षण-परक माननेपर सगुण एवं निर्गुण में भेद मानना पड़ेगा किन्तु श्रुति-स्मृतिमें इस प्रकारके भेदका कहीं उल्लेख नहीं मिलता, प्रत्युत 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क० १.२.१५) एवं 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५.१५) इत्यादि श्रुति-स्मृति-वाक्योंमें 'एक' ही तत्त्वके 'सर्व-वेद-वेद्य' होनेका कथन उपलब्ध होता है। अतः पूर्वपक्षी मायावादी द्वारा सगुण-निर्गुण-भेद-स्वीकृतिपूर्वक जन्मादिसूत्रकी तटस्थ-लक्षण-परकताका प्रतिपादन असङ्गत एवं श्रुति-स्मृति-विरोधी होनेके कारण हेय

---

१. स्वन्मते उपहितस्य जीवत्वेन पुत्रादितुल्यतया तद्धेयत्वोपदेशवत् मुमुक्षु-साधनोपदेशेषु तस्यापि तथात्वं वदेत्, न तु तदुपासनाम्। इतोऽपि हेतोः निर्गुणमेव ब्रह्म जगत्कारणम् इत्याशयेन हेत्वन्तरमाह सूत्रकारः, 'हेयत्वावचनाच्च' (ब्र० १.१.७) इति।
(विद्व०, पृ० ३६)।

२. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य-निर्णये ॥

३. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० १.१.१) इत्यत्र निर्गुण-ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय, किं-लक्षणं तद् इत्याकाङ्क्षायां 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १.१.२) इत्यवदत्। तत्त्व 'सगुण-निरूपकम्' इति वदन् व्यासस्य प्रतिज्ञाहान्युपक्रमविरोधावपश्यन् हृदयशून्यो भासि। (विद्व०, पृ० ३७)।

है और उनमें अभेद माननेका सिद्धान्त ही श्रुतिस्मृत्यनुसारी होनेसे उपादेय है[1]।

* ४.५.३ * इस प्रकार विद्वन्मण्डनकारने श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित, 'मायादीनाञ्च कर्तृत्वं श्रुतिसूत्रैर्विबाध्यते' (तत्त्वा० १.८७) के मतका विशदीकरण करते हुए निर्गुण ब्रह्मके जगत्कर्ता होनेकी सिद्धि की है। यह ब्रह्म केवल कर्ता ही नहीं अपि तु जगत्का समवायिकारण एवं निमित्त कारण भी है इस वाल्लभ-सिद्धान्तकी[2] विद्वन्मण्डनमें ऊहापोहपूर्वक पुष्टि की गयी है। इस सम्बन्धमें ब्रह्मको समवायि-कारण माननेपर उसमें विकृतत्व, सावयवत्व एवं अनर्थरूपत्व आपतित होनेके आक्षेपोंका परिहार करते हुए अविकृतपरिणामवादका प्रमाणबलसे प्रतिपादन किया गया है। लौकिक पदार्थोंमें परिणमन होनेपर विकार आ जाता है किन्तु शुद्ध ब्रह्म अविकृत रहते हुए ही जगद्रूपमें परिणमित हो जाता है यह उसकी अलौकिकता है। उसका स्वरूप ही ऐसा है। और उसका यह स्वरूप श्रुतिसिद्ध होनेसे पर्यनुयोगार्ह नहीं है[3]।

* ४.५.४ * इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए श्रीवल्लभाचार्यने उन सभी अनुपपत्तियोंका परिहार ब्रह्मके स्वरूपकी परिकल्पनासे ही कर दिया जिनके परिहारके लिए श्रीशङ्कराचार्यको माया आदिका आश्रय लेना पड़ा था। उनके इस पक्षका वैशिष्ट्य यह है कि वे विभिन्न विरोधोंका परिहार, श्रुति, स्मृति एवं सूत्रों के अन्तर्ज्वरका उपशमन, ब्रह्मके अलौकिक स्वरूपकी श्रुतिस्मृत्यनुसारिणी अवधारणासे ही कर देते हैं और इसीलिए उनके सिद्धान्तका श्रौतत्व एवं वेदान्तत्व अक्षुण्ण रहता है जब कि श्रीशङ्कराचार्य उन विरोधोंकी व्याख्या करनेके लिए मायाकी परिकल्पनाका आश्रय लेते हैं, जिसके सम्बन्धमें श्रीवल्लभाचार्यका दावा है कि 'नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासु कुत्रचित्' (तत्त्वा० १.८२) अर्थात् आजकल वेदकी जो ग्यारह शाखाएँ प्रचलित हैं उनमें श्रीशङ्कराचार्यको अभिमत मायाकी चर्चा, उसका उल्लेख, कहीं नहीं है[4]। अतः विरोधोंके उपशमनके लिए वाल्लभ-विचार-सरणिका अनुसरण करने पर श्रौतार्थता बनी रहती है किन्तु स्वकपोल-कल्पित मायावादका आश्रय ग्रहण करनेसे

---

१. द्र०, ऊपर २.२.३ पृष्ठ ५३.

२. जगतः समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकम्। (तत्त्वा० १.६८)।
सर्वस्यापि जगतः कार्यरूपस्य च ब्रह्मैव समवायिकारणम्।... तदेव निमित्त-कारणम्। चकारात् कर्तृ च। (तत्त्वा० प्र० १.६८)।

३. द्र०, ऊपर २.४.० पृ० ६२–६३ एवं ३.४.९ पृ० ११७–११८ तथा विद्व०, पृ० १९४–१९५.

४. एकादश-शाखाः साम्प्रतं प्रचरन्ति तासु न दृश्यते। (तत्त्वा० प्र० १.८२)।

प्रमाणानुसारिता नहीं रह जाती है[1] ।

• ४.५.५ • इस अविकृत-परिणामवादकी व्याख्या सुवर्ण आदिके दृष्टान्तों द्वारा करते हुए श्रीवल्लभाचार्यने अपनी कृतियोंमें अनेकशः[2] ब्रह्मके जगत्का समवायि-कारण होनेकी सिद्धि की है। यह अविकृत-स्वरूप-परिणामवाद शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादकी प्राणभूत अवधारणाओंमें अन्यतम है। इसकी व्याख्या करते हुए साम्प्रदायिक साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान् गो० श्याम लिखते हैं, "कार्यको कारणका 'विकार' कहना वाचारम्भण—केवल कहने भरकी बात—है क्योंकि मृत्तिकासे बने घटका सच्चा नाम तो 'मृत्तिका' ही होता है। किसी आकार-विशेषमें उपादानके परिणत हो जानेपर भी, यदि मूलतत्त्वके स्वरूपमें कोई विकृति या अन्ययाभाव नहीं आता तो ऐसा परिणाम 'अविकृत परिणाम' कहा जाता है। उदाहरणतया आभूषण या घड़ा बन जानेपर सुवर्ण तो सुवर्ण ही रहता है और मृत्तिका तो मृत्तिका ही। इस उदाहरणमें आकृति, कार्यकारिता तथा कुछ गुणधर्मों में अन्यथाभाव तो प्रत्यक्षसिद्ध है, परन्तु साथ ही साथ तत्त्व भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता है यह भी प्रत्यक्षसिद्ध ही है। अन्यथा सुवर्णचोर कोई अन्य होता होगा और सुवर्णनिर्मित आभूषणोंका चोर कोई अन्य। आभूषणार्थी केवल सुवर्णका ग्रहण कदाचित् न भी करे परन्तु सुवर्णार्थी सुवर्णके आभूषण और अव्यवस्थित आकारवाले सुवर्णखण्ड में भेददृष्टि नहीं रखता। इसी तरह जागतिक विषयार्थी ब्रह्मकी उपेक्षा कर सकता है, परन्तु ब्रह्मदर्शीके लिए जगत्के सभी विषय ब्रह्म हैं क्योंकि नाम, रूप एवं कर्मों में परिणत होनेपर भी ब्रह्म निजसत्तासे प्रच्युत नहीं होता है। अतएव सभी कुछ यहाँ ब्रह्म है। क्योंकि सभी कुछ एक ब्रह्मके अविकृतस्वरूपका ही परिणाम है। महाप्रभुने यह बात इसी तरह समझायी है[3]।"

• ४.५.६ • अविकृत-परिणाम-वादको कई बार परिणामवाद एवं विवर्तवाद में आनेवाले दोषोंके समाधानके रूपमें देखा जाता है। ब्रह्म-परिणाम-वाद स्वीकार करने पर ब्रह्मके विकृत हो जानेका तथा ब्रह्म-विवर्त-वाद स्वीकार करने पर जगत्के मिथ्या या असत् हो जानेका अनिष्टप्रसङ्ग आ उपस्थित होता है, किन्तु अविकृत-परिणाम-वाद इन दोनों दोषोंसे मुक्त है। अतएव इसे अनेकशः शाङ्कर-सिद्धान्तके परिप्रेक्ष्यमें देखा जाता है तथा वाल्लभ-वेदान्तका वैशिष्ट्य मानकर व्याख्यात किया जाता है। इसी दृष्टिसे शैवागमोंके मनीषी विद्वान् श्रीजयदेव सिंहने इसे स्पष्ट करते हुए हमारे एक प्रकाशन—तत्त्वार्थदीपनिबन्ध—के 'आमुख' में लिखा था, "शङ्कराचार्य जगत्को मिथ्या

---

१. एवं सति श्रौतार्थता भवति, अन्यथा तु अप्रामाणिकं स्यात्, स्वकपोल-कल्पनात्। (सुबो० ३.७.८)।

२. द्र०, ऊपर पृ० १५८ टि० ३.

३. श्रीमद्ब्र० प्र० पृ० २६.

क्यों कहते हैं ? कारण स्पष्ट है। यदि जगत्को ब्रह्मका परिणाम माना जाये तो ब्रह्ममें विकार आ जायेगा। भला ब्रह्ममें विकारको कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? बेचारे ब्रह्मको विकारसे बचानेके लिए उन्होंने जगत्को मिथ्या घोषित कर दिया। वल्लभाचार्य-का यह कहना है कि यह आवश्यक नहीं है कि परिणाममें विकार हो ही। परिणाम दो प्रकारका होता है। एक तो वह जिसमें कारणमें विकार आ जाये, जैसे दूध का दही बन जाना। इस स्थितिमें दही बननेमें दूधमें विकार हो जाता है और दही पुनः दूधकी अवस्थामें नहीं आ सकता। किन्तु एक ऐसा भी परिणाम होता है जिसमें कारणमें कोई विकार नहीं आता, जैसे सोनेका परिणाम कटक, कुण्डल इत्यादि। कटक, कुण्डल में उसके कारण 'सोने' में कोई विकार नहीं होता। कटक, कुण्डल रूपमें केवल नाम बदल गया है किन्तु कारणरूपमें वह सोना ही है, और वे पुनः अपने कारणरूप सुवर्णकी अवस्थामें आ सकते हैं। वल्लभाचार्यका कहना है कि यह अविकृतपरिणाम है, यह ऐसा परिणाम है कि इसके कारणमें कोई विकार नहीं आता। ठीक इसी प्रकारसे जगत् या प्रपञ्च ब्रह्मका अविकृतपरिणाम है। जगत् होनेमें ब्रह्ममें कोई विकार नहीं होता और लयावस्थामें जगत् अपने 'कारण' ब्रह्मकी अवस्थामें आ जाता है[1]।"

• ४.५.७ • अवधेय है कि श्रीवल्लभाचार्य इस अविकृत-स्वरूप-परिणामके सिद्धान्तके अपनी स्वयंकी नवीन उद्भावना होनेका दावा नहीं करते प्रत्युत इसे परम्परा-प्राप्त श्रुति-सिद्ध मत कहते हैं। इतना ही नहीं वे श्रौत-सिद्धान्तोंकी स्वीकृति न कर नवीन एवं स्वबुद्धि-परिकल्पित मतोंकी तर्कना करनेके पक्षमें नहीं हैं। अतएव इसे अपूर्व सिद्धान्त कह कर इसके प्रतिपादकके रूपमें उनमें आधुनिक अर्थमें मौलिक चिन्तक होनेके वैशिष्ट्यका आरोपण करनेकी अपेक्षा यह खोजना अधिक सार्थक एवं उपयोगी होगा कि इस सिद्धान्तकी परम्परा हमें उनके पूर्ववर्ती किन ग्रन्थोंमें स्पष्टतया एवं निस्सन्दिग्ध रूपसे प्रतिपादित मिलती है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमारी दृष्टि सबसे पहले श्रीवल्लभाचार्यके सर्वाधिक प्रिय उपजीव्य-ग्रन्थ श्रीमद्भागवतके उन श्लोकोंपर जाती है जिनमें न केवल ब्रह्मको जगत्का अविकृत कारण माना गया है अपितु इसे स्पष्ट करनेके लिए सुवर्ण एवं सौवर्ण आभूषणों आदिका उदाहरण—जिसका उपयोग श्रीवल्लभाचार्य एवं विद्वन्मण्डनकार आदिने अनेकशः किया है—भी दिया गया है[2]। इस सुवर्ण एवं सौवर्ण आभूषणों के उदाहरणके साथ ही इस सिद्धान्तका उल्लेख विष्णुपुराणके,

---

१. तत्त्वा० शा० 'आमुख', पृ० १०.

२. द्र०, 'यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥' (भाग० ११.२८.१९) आदि।

कटक-मुकुट-कर्णिकादिभेदैः कनकमभेदमपीष्यते यथैकम् ।
सुर-पशु-मनुजादि-कल्पनाभिर्हरिरखिलाभिरुदीर्यते तथैकः ॥ (विष्णुपु० ३.७.१६)
इस श्लोकमें मिलता है। इस पुराणके उपसंहारमें भी 'परिणाम-विवर्जित', 'अविकारी' एवं 'शुद्ध' रहते हुए भी विभिन्न रूपोंमें प्रतीत होनेवाले नित्य अव्यय पुरुषको नमस्कार करते हुए, इस सिद्धान्तका सङ्केत किया गया है[1]। इसमें अन्यत्र भी अव्यय एवं जगद्रूप विष्णुके निरूपक अनेक श्लोकों[2] में इस सिद्धान्तको पढ़ा जा सकता है।

हम पहले यह प्रतिपादित कर चुके है कि वैदिक परम्पराके साथ ही वैष्णव-तन्त्र-परम्परासे भी श्रीवल्लभाचार्यने अनेक सिद्धान्तोंको ग्रहण किया है। इस कथनके परिप्रेक्ष्यमें विचार करनेपर हमें लक्ष्मीतन्त्रमें ऐसे अनेक श्लोक मिलते हैं जहाँ न केवल अर्थतः अपि तु शब्दतः भी इस सिद्धान्तका उल्लेख मिलता है। वहाँ परमात्माका स्वरूप निरूपित करते हुए उसे निर्विकार, सनातन, अनन्त एवं देश-कालादि-परिच्छेद-विवर्जित बताया गया है[3]। और उसमें आये, 'प्रकृति (अर्थात् उपादान या समवायि कारण) होते हुए भी सदा विकार-विरहसे सम्पन्न रहना ही मेरा वीर्य अर्थात् अलौकिक सामर्थ्य है। दूध जब दही बनता है तो अपने दुग्ध-स्वभावका परित्याग कर देता है, किन्तु जगद्रूपमें परिणत होनेपर भी मुझमें उस प्रकारकी विकृति

---

१. नान्तोऽस्ति यस्य न च यस्य समुद्भवोऽस्ति वृद्धिर्न यस्य परिणाम-विवर्जितस्य ।
नापक्षयं च समुपैत्यविकारि वस्तु
यस्तं नतोऽस्मि पुरुषोत्तममीशमीड्यम् ॥ (विष्णुपु० ६.८.५९) ।
तस्यैव यो नु गुणभुग्बहुधैक एव शुद्धोऽप्यशुद्ध इव भाति हि मूर्ति-भेदैः ।
ज्ञानान्वितः सकल-सत्त्व-विभूति-कर्ता
तस्मै नमोऽस्तु पुरुषाय सदाऽव्ययाय ॥ (विष्णुपु० ६.८.६०) ।

२. द्र०, 'त्वत्प्रसादान्मया ज्ञातं ज्ञेयमन्यैरलं द्विज ।
यदेतदखिल विष्णोर्जगन्न व्यतिरिच्यते ॥' (विष्णुपु० ६.८.८) ।
'उत्पत्तिस्थितिनाशानां हेतुर्यो जगतोऽव्ययः ।
स सर्वभूतस्सर्वात्मा कथ्यते भगवान् हरिः ॥' (विष्णुपु० ६.८.१८) ।
'स सर्वः सर्ववित् सर्वस्वरूपो रूपवर्जितः ।
भगवान् कीर्तितो विष्णुरत्र पाप-प्रणाशनः ॥' (विष्णुपु० ६.८.२७) । आदि ।

३. अस्ति निर्दुःख-निःसीम-सुखानुभव-लक्षणः ।
परमात्मा परं यस्य पदं पश्यन्ति सूरयः ॥ (लक्ष्मीतन्त्रम्, २.१) ।
सर्वतः शान्त एवासौ निर्विकारः सनातनः ।
अनन्तो देश-कालादि-परिच्छेद-विवर्जितः ॥ (लक्ष्मीतन्त्रम्, २.८) ।

कभी नहीं आती। अतएव तत्त्ववेत्ता मेरे इस विकार-विरहको मेरा वीर्य या अलौकिक सामर्थ्य मानते आये हैं[1]।' (लक्ष्मीतन्त्र २.३१-३२) इत्यादि वाक्योंमें तो नितान्त स्पष्ट शब्दोंमें विकार-विरह-विशिष्ट जगद्भाव हो सकनेको परमतत्त्वका अलौकिक सामर्थ्य बताया गया है। यह कहना सम्भवतः अतिशयोक्ति न होगी कि श्रीवल्लभाचार्य एवं विद्वन्मण्डनकार द्वारा प्रतिपादित अविकृत-परिणामवाद इस लक्ष्मीतन्त्रोक्त सिद्धान्तका शब्दान्तरोंमें उपस्थापनमात्र है। इस विवरणसे उनके इस कथनकी पुष्टि होती है कि यह परम्पराप्राप्त प्रमाणानुसारी सिद्धान्त है, उनका अपना स्वबुद्धि-परिकल्पित मत नहीं और अतएव स्वकपोलकल्पित मतोंसे इसके बाधित होनेकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए।

* ४.५.८ * 'ब्रह्म जगत्का समवायि-कारण है और जगद्रूपमें आविर्भूत होते हुए भी अविकृत रहता है' यह श्रुत्यनुसारी कथन भी विद्वन्मण्डनकारके शब्दोंमें 'गुड-जिह्विका' मात्र है। वस्तुतः तो वह विरुद्ध-सर्व-धर्माश्रय भी है[2]। 'गुडजिह्विका' कहनेका आशय यह है कि ब्रह्मके अविकृत-समवायित्वकी श्रुतिमूलकताकी स्वीकृति तावन्मात्र-पर्यवसायिनी नहीं अपितु ब्रह्मकी विरुद्ध-नाना-शक्त्याधारताकी श्रुति-मूलकताकी बोधिका है। श्रुति केवल ब्रह्मके अविकृत-समवायित्वकी ही नहीं अपितु विरुद्ध-सर्व-धर्माश्रयत्वकी भी प्रतिपादिका है[3]। गो० श्रीविट्ठलनाथके अनुसार 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यः' (बृ० ४.५.६), 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २.९.१), 'तदेजति तन्नैजति' (ई० ५), 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३.१९), 'सर्वतः पाणि-पादान्तम्' (श्वे० ३.१६), 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (क० १.२.२०) तथा 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३.८.८) इत्यादि[4] श्रुतिवाक्य ब्रह्ममें परस्परविरुद्ध अनेक धर्मोंके होनेका प्रतिपादन करते हैं। ये सभी वाक्य श्रुतिवाक्य होनेसे समानरूपसे स्वतः प्रमाण हैं और इनमेंसे किसीका भी बाध होना स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह मानना ही उचित होगा कि ब्रह्मका स्वरूप वैसा ही है जैसा ये सब वाक्य निरूपण

---

१. विकार-विरहो वीर्यं प्रकृतित्वेऽपि मे सदा।
स्वभावं हि जहत्याशु पयो दधिसमुद्भवे॥
जगद्भावेऽपि सा नास्ति विकृतिर्मम नित्यदा।
विकारविरहो वीर्यमतस्तत्त्वविदां मतम्॥ (लक्ष्मीतन्त्रम्, २.३१-३२)।

२. ब्रह्म समवायि अविकृतञ्च इत्यपि गुडजिह्विका। वस्तुतस्तु विरुद्ध सर्व-धर्माश्रयमपि। (विद्व०, पृ० १९५-१९६)।

३. द्र०, सुव० एवं हरि० पृ० १९६. १. द्र०, ऊपर ३.३.०–३ पृष्ठ १०८–११०.

करते हैं। और यह तभी स्वीकार किया जा सकता है जब ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय तथा उसके धर्मोंको उससे प्रकाशाश्रयवत् भिन्नाभिन्न मान लिया जाये[1]। शुद्धाद्वैत-वेदान्तका प्राणभूत ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयताका यह सिद्धान्त श्रुति-स्मृति-परम्परा-प्राप्त एवं श्रीशङ्कराचार्यद्वारा अनुमोदित है यह हम पहले ही कह चके हैं[2]। विद्वन्मण्डनकार द्वारा इसके प्रतिपादनके लिए दिये गये तर्कोंकी चर्चा और उनका विवेचन हम ऊपर तत्तत् प्रसङ्गोंमें कर चुके हैं[3]।

* ४ ५.९ * ब्रह्म इन्द्रियादिके अपने सामर्थ्यसे अग्राह्य है किन्तु स्वेच्छया अनुग्रह करके ग्राह्य हो जाता है[4]। अवतारदशामें जब वह 'सभी मेरा दर्शन कर सकें' इस प्रकारकी साधारणेच्छासे प्रादुर्भूत होता है तो सभीको उसका दर्शन होता है, किन्तु अवताराभावके समय उसका दर्शन अनन्यभक्तिसे ही होता है। अवतारदशामें भी भक्तोंको तो उसका दर्शन भक्तिसे ही होता है। भगवान्का दर्शन होते हुए भी अनेक लोगोंको उनके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तथा अनेक व्यक्तियोंका मोह नष्ट नहीं होता। इसका कारण भी सत्यसङ्कल्प भगवान्की इच्छा ही है। इसी प्रकार अवतार-दशामें भी भगवान् अपने अलौकिक तेजका प्रदर्शन न करते हुए लौकिक आचरणका अनुकरण लीलार्थ ही करते हैं, अन्यथा उनके लौकिक आचरणका अनुकरण न करनेपर लीला ही सम्भव न होगी; और यदि वे अपने अलौकिक सामर्थ्यको प्रकट कर दें तो सभीका मोक्ष हो जाये एवं सृष्टिकी मर्यादाका उच्छेद हो जाये। इसी प्रकार स्वेच्छया वे लोकव्यवहार (अर्थात् लोगोंकी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के व्यापार) के विषय भी हो जाते हैं। इसीलिए ब्रह्मसूत्रकारने भी (ब्र० ३.२.१५ में) कहा है कि जैसे सूर्य आदिका प्रकाश हमारे लिए अव्यवहार्य एवं व्यवहार्य दोनों है उसी प्रकार ब्रह्म भी है। हम सूर्यके प्रकाशको स्वतः सम्पादित नहीं कर सकते किन्तु सूर्योदय हो जाने एवं मेघादिका अभाव होने पर उसके सान्निध्यसे हमारा व्यवहार सम्भव होता है। इसी प्रकार लौकिक वाणी एवं मन से भगवान् व्यवहार-विषय नहीं हो सकते किन्तु जब वे स्वेच्छया अपनी सन्निधि प्रदान करते हैं तो व्यवहारके विषय हो जाते हैं[5]। श्रुति-स्मृतिमें भगवद्दर्शन एवं भगवद्विषयक

---

१. द्र०, विद्व०, पृ० १९६, २७४–२७८; अणुभाष्यसमीक्षा पृ० २०२–२०३ तथा अ० ३.२.२८.

२. द्र०, ऊपर पृष्ठ ११०.

३. द्र०, ऊपर पृ० ६३, ६९, ७१-७२, १०५, १०८-११०, ११३, १४६, १४८ आदि।

४. द्र०, ऊपर २.४.७ पृष्ठ ६९ तथा ३.१.० पृष्ठ १२०.

५. द्र०, विद्व०, पृ० २४३–२४५.

व्यवहारका उल्लेख है[1]। पूर्वपक्षीका कथन है कि ब्रह्मके नीरूप होनेके कारण उसका चाक्षुष दर्शन आदि अनुपपन्न है, अतः यह मानना ही उचित है कि श्रुति-स्मृतिमें जहाँ ब्रह्मके दर्शनका उल्लेख है वहाँ 'दर्शन' शब्दसे ज्ञान ही अभीष्ट है। सिद्धान्तीका कहना है कि दर्शनके साथ ही ज्ञानका पृथक् उल्लेख करनेवाले 'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च' (गीता ११.५४) इत्यादि वाक्योंमें दर्शनका अर्थ ज्ञानसे भिन्न चाक्षुष-प्रत्यक्षादिरूप मानना ही उचित है[2]। इसी प्रकार ब्रह्मके रास-क्रीडादि रूप व्यवहारको भी प्रमाणसिद्ध होनेके कारण स्वीकार करना ही युक्तियुक्त है[3]। भगवान्ने जो विश्वरूपदर्शन कराया है वह भी उनके अचिन्त्य माहात्म्यका ही ज्ञापक है और उसे ऐन्द्रजालिक द्वारा दिखाये जानेवाले इन्द्रजालकी तरह असत् या आविद्यक नहीं कहा जा सकता[4]।

* ४.६.० * श्रीवल्लभाचार्यने अद्वैतवेदान्तके जीवको प्रतिबिम्ब माननेके पूर्व-पक्षका उपपादन अपने तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें यह कह कर किया था कि "श्रुतिमें प्रतिपादित जीव और ब्रह्म के ऐक्यके अन्यथा अनुपपन्न होनेके कारण उस ऐक्यकी व्याख्या 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) आदि वाक्योंके आधारपर की जाती है। बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब का ऐक्य उपपन्न है, अतः 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) आदि वाक्योंके बलपर जीवके ब्रह्मका प्रतिबिम्ब होनेकी कल्पना की जाती है[5]।" इसीका अनुसरण करते हुए विद्वन्मण्डनकारने उपर्युक्त पूर्वपक्षको यह कहते हुए उपस्थापित किया है कि अद्वैत-वेदान्त-मतानुयायी दार्शनिक जीव एवं परमात्मा में अनादि-सिद्ध भेद मानते हुए भी उसे पारमार्थिक नहीं स्वीकार करते क्योंकि उनके अनुसार श्रुति जीव एवं ब्रह्म में अभेदका प्रतिपादन करती है और पूर्वोक्त अनादि-सिद्ध भेदको पारमार्थिक मान लेने पर इस श्रौत अभेदकी व्याख्या न की जा सकेगी, अतः उक्त भेदको अवास्तविक या अतात्त्विक भेद – जिस प्रकारका भेद लोकमें बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब में तथा आभास एवं उसके आश्रय में दृष्टिगत होता है— मानना ही उचित है। इसीलिए अवास्तविक भेदके आधार पर ब्रह्म एवं जीव में अभिन्नताका प्रतिपादन करनेके लिए 'तत्त्वमसि'

---

१. द्र०, 'पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुण-लोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥' (भाग० ३.२५.३५)।

२. द्र०, ऊपर पृ० ६९.

३. द्र०, ऊपर २.४.८ पृष्ठ ६९–७० तथा विद्व०, पृ० २४५–२४६.

४. द्र०, ऊपर २.५.०–१ पृष्ठ ७०–७२ तथा विद्व०, २४८–२५०.

५. ननु जीव-ब्रह्मणोरैक्यान्यथानुपपत्त्या 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७)–इत्यादि-वाक्यानुरोधेन बिम्बप्रतिबिम्बयोः ऐक्यं युक्तम् इति तथात्वं कल्प्यते। (तत्त्वा० प्र० १.६१)।

(छा० ६.८.७ महावाक्यकी व्याख्या भाग-त्याग-लक्षणासे करना चाहिए[1]।

* ४.६.१ * पूर्वपक्षीके उपर्युक्त कथनका उत्तर देते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि महावाक्य तत्त्वज्ञानोत्पादक वाक्यको ही कहा जा सकता है और 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) यह वाक्यांश तर्कपुरस्सर विचार करनेपर भी तत्त्वज्ञानको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं सिद्ध हो पाता, अतः इसे महावाक्य नहीं माना जा सकता[2]। उनके इसी कथनका अनुसरण करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' यह चतुरक्षरमात्र महावाक्य नहीं है, प्रत्युत जिस प्रपाठकमें यह वाक्यांश आया है वह सम्पूर्ण प्रपाठक ही महावाक्य है[3]।

श्रीवल्लभाचार्यने इस वाक्यके छान्दोग्योपनिषद्के छठे अध्यायमें श्वेतकेतूपाख्यानमें आनेका उल्लेख करते हुए यह बताया है कि उस उपाख्यानमें ब्रह्मके सर्वकारण होने, कार्यके वाचारम्भणमात्र होनेसे कारणसे अभिन्न होने, एवं दुर्ज्ञेय ब्रह्मके कार्यद्वारा ज्ञाप्य होने का निरूपण किया गया है। उसमें की गयी एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञाकी पूर्ति केवल 'तत्त्वमसि' इस चतुरक्षरमात्रके ज्ञानसे नहीं हो पाती अपितु उसके लिए पूरे प्रपाठकके ज्ञानकी अपेक्षा है, अतः केवल 'तत्त्वमसि' मात्रको महावाक्य न मानकर सम्पूर्ण प्रपाठकको ही महावाक्य मानना उचित है। इसे स्पष्ट करते हुए श्रीवल्लभाचार्यने जो कुछ कहा है उसका शब्दशः अनुवाद विद्वन्मण्डनकारने किया है। पिता-पुत्र दोनोंका कथन यही है कि श्वेतकेतूपाख्यानके प्रारम्भमें आरुणि द्वारा श्वेतकेतुसे पूछे गये, 'क्या तुमने अपने गुरुसे वह ज्ञान प्राप्त किया है जिससे न सुना हुआ भी सुना हुआ एवं न जाना हुआ भी जाना हुआ हो जाता है' (छा० ६.१.२-३) इत्यादि प्रश्नके द्वारा, 'एक' के ज्ञानसे 'सर्व' (सभी) का ज्ञान हो जानेकी प्रतिज्ञा की गयी है। यह प्रतिज्ञा तभी उपपन्न होगी जब वह 'एक' ही 'सर्व' हो, जैसे कि 'सुवर्ण-

---

१. जीव-परमात्मनोः अनादि-सिद्धं भेदं वदन्, पारमार्थिकं कुतो न ब्रूषे ? यतः श्रुतिः अनयोः अभेदं बोधयति; स च परमार्थतो भिन्नयोः न सम्भवति इति अवास्तवो भेदोऽत्र वाच्यः। तादृशश्च भेदो बिम्ब-प्रतिबिम्बयोः आभास-तदाश्रययोः च दृश्चरो लोके इति तथा अत्रापि ब्रवीमि। अत एव महावाक्ये भाग-त्याग-लक्षणा अपि। (विद्व०, पृ० ७२)।

२. 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इति वाक्यं न महावाक्यम् इत्याह, 'तत्त्वमस्यादि-वाक्यस्य शोधितस्यापि युक्तितः। न विद्याजनने शक्तिः…।' (तत्त्वा० १.६१)।…इति। (तत्त्वा० प्र० १.६१)।

३. स्यादेतदेवं यदि 'तत्त्वमसि' इत्येतन्मात्रं महावाक्यं स्यात्, न त्वेवं, किन्तु सम्पूर्णः प्रपाठकः। (विद्व०, पृ० ७३)।

खण्ड (अर्थात् सोनेकी ईंट, बिस्किट आदि) और सुवर्णके कार्य (अर्थात् सुवर्ण-निर्मित आभूषण आदि) सब सुवर्ण ही हैं अतः सुवर्णका ज्ञान हो जानेपर उन सबका ज्ञान हो जाता है। अतएव ब्रह्म-विज्ञानसे सर्व-विज्ञानका उपपादन करनेके लिए श्रुतिमें 'सदेव सोम्य' (छा० ६.२.१) इत्यादि वाक्यसे प्रारम्भ कर 'सर्व' की ब्रह्मरूपताका निरूपण किया गया है[1]।

* ४.६.२ * पूर्वपक्षीका कथन है कि पूरे प्रपाठकका निष्कृष्टार्थ 'तत्त्वमसि' इस वाक्यके द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है अतः 'तत्त्वमसि' इस चतुरक्षर-वाक्यको ही महावाक्य मान लेनेमें कोई दोष नहीं है। इसका उत्तर देनेके लिए श्रीवल्लभाचार्यकी उक्तिका अनुकरण करते हुए विद्वन्मण्डनकारने इस पूरे वाक्यका विश्लेषण किया है। उनके अनुसार 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६.८.७) इस वाक्यांशके द्वारा सभी जड पदार्थोंके ब्रह्मात्मक होनेका प्रतिपादन किया गया है[2]। जडमें विनाशित्व आदि दोषोंके होनेके कारण उसे ब्रह्मात्मक माननेमें अनुपपत्ति होनेकी आशङ्काका निराकरण करनेके लिए श्रुति कहती है कि वह सत्य है[3]।

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो !' (छा० ६.८.७) इस वाक्यमें प्रारम्भमें 'इदं सर्वम्' पदसे जडका तथा अन्तमें 'त्वम्' पदसे जीवका सदात्मक होना प्रतिपादित किया गया है। इन दोनों वाक्यांशोंके मध्यमें 'स आत्मा' अर्थात् 'वह सत् तत्त्व या ब्रह्म ही जड एवं जीव दोनोंकी आत्मा है' यह कह कर जड एवं जीव दोनोंके सदात्मक होनेका हेतु बताया गया है[4]। इस प्रकार जडके

---

१. तत्र उपक्रमे, 'अपि वा तमादेशम् अप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६.१.२–३) इति एक-विज्ञानेन सर्व-विज्ञान प्रतिज्ञातम्। तद् एकम् एव चेत् सर्वं भवेत्, तदा उपपद्यते। यथा सुवर्णखण्डाः सुवर्णकार्यं च सर्वं सुवर्णम् इति सुवर्ण-ज्ञानेन तज्ज्ञानं भवति। अतो ब्रह्म-विज्ञानेन सर्व-विज्ञानं वक्तुं सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वं 'सदेव सोम्य' (छा० ६.२.१) इत्यारभ्य निरूपितम्। (विद्व०, पृ० ७३)। तुलनार्थ द्र०, तत्त्वा० प्र० १.६१.

२. 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६.८.७) इति जडस्य सर्वस्य अपि तदात्मकत्वम् उक्तम्। (विद्व०, पृ० ७४ तथा तत्त्वा० प्र० १.६१)।

३. ततो जडस्य विनाशित्व-दर्शनेन अब्रह्मत्व-शङ्का-निरासाय आह 'तत्सत्यम्' (छा० ६.८.७) इति। (विद्व०, पृ० ७४–७५)।
जड-गत-दोषाश्च तत्र परिहृताः 'तत्सत्यम्' (छा० ६.८.७) इति। (तत्त्वा० प्र० १.६१)।

४. पूर्वोत्तरयोः जड-जीवयोः सदात्मकत्वे मध्ये हेतुमाह, 'स आत्मा' (छा० ६.८.७) इति। (तत्त्वा० १.६१ तथा विद्व०, पृ० १२६)।

तदात्मक अर्थात् सदात्मक या ब्रह्मात्मक होनेका प्रतिपादन करनेके बाद जीवके तदात्मक अर्थात् सदात्मक या ब्रह्मात्मक होनेका प्रतिपादन करनेके लिए श्रुति कहती है 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) अर्थात् हे श्वेतकेतु ! तुम भी सदात्मक हो[१]।

उपदेशरूप होनेके कारण इस वाक्यको आरुणिने बार-बार दुहराया है[२]। 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र० ४.१.१) इस सूत्रमें इसे उपदेश कहा गया है अतः इस पञ्चदश-पदात्मक सम्पूर्ण महावाक्यको उपदेश मानना ही व्यासाभिप्रेत और उचित है[३]। और जिस प्रकार इस महावाक्यके 'ऐतदात्म्यम्' इस अंशमें सदंशमें भाग-त्याग-लक्षणा नहीं है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस अंशमें चिदंशमें भाग-त्याग-लक्षणा नहीं है, ऐसा समझना चाहिए[४]। अतः उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रपाठक ही ब्रह्मवाक्य अर्थात् ब्रह्म-विषयक एवं ब्रह्म-प्रतिपादक वाक्य है और उसके एकदेश अर्थात् अंशरूप तत्त्वमसि' इस चतुरक्षरमात्रको ही जीव और ब्रह्म के ऐक्यका बोधक महावाक्य कह सकना सम्भव नहीं है[५]। पूर्वोक्त सम्पूर्ण पञ्चदशपदात्मक महावाक्यके एकदेशभूत 'तत्त्वमसि' इस चतुरक्षर वाक्यांशमात्रको जीव और ब्रह्म के ऐक्यका प्रतिपादक माननेपर वाक्यभेदका प्रसङ्ग उपस्थित होगा और उपक्रमका विरोध भी होगा, अतः 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) को ब्रह्म और जीव के ऐक्यका बोधक नहीं माना जा सकता[६]।

---

१. एवं जडस्य तदात्मकत्वमुक्त्वा जीवस्यापि आह 'तत्त्वमसि' (६.८.७) इति। (तत्त्वा० प्र० १.६१ तथा विद्व०, पृ० १२६)।

२. अस्योपदेशत्वान्मुहुरुक्तवान्। (विद्व०, पृ० १२६)। 'उपदेशश्चायम्।' (तत्त्वा० प्र० १.६१)।

३. 'आवृत्तिरसकृदुपदेशाद्' (ब्र० ४.१.१) इति ब्रह्मसूत्रात्। अतः सम्पूर्णं महावाक्यम् उपदेशः। (तत्त्वा० प्र० १.६१ तथा विद्व०, पृ० १२६)।

४. तत्र यथा 'ऐतदात्म्यम्' इत्यत्र न भाग-त्याग-लक्षणा सदंशे, तथा उत्तरत्रापि चिदंशेऽवगन्तव्यम्। (तत्त्वा० प्र० १.६१)।
तत्र यथा 'ऐतदात्म्यम्' इत्यत्र न भाग-त्याग-लक्षणा सदंशे तथा 'तत्त्वमसि' इत्यत्र चिदंशेऽपि न सा इत्यवगन्तव्यम्। (विद्व०, पृ० १२६–१२७)।

५. अतो ब्रह्मवाक्यत्वात् तदेकदेशः 'तत्त्वमसि' इति जीव-ब्रह्मणोरैक्यं न बोधयति। (तत्त्वा० प्र० १.६१)।
तथा च सर्वस्य एव ब्रह्मवाक्यत्वात् तदेकदेश एव 'तत्त्वमसि' इतिवाक्यं जीव-ब्रह्मणोः अभेदं बोधयति इति न वक्तुं शक्यम्। (विद्व०, पृ० १२७)।

६. वाक्य-भेद-प्रसङ्गाद् उपक्रम-विरोधाच्च। (तत्त्वा० प्र० १.६१ तथा विद्व०, पृ० १२७)। द्र०, तत्त्वा० प्र० आ० १.६१ तथा सुब० पृ० १२७.

वाक्यभेद या प्रकरणभेद को स्वीकार कर भी 'तत्त्वमसि' को महावाक्य मानकर उसके द्वारा उपदेशके मायावादीके प्रयासकी निरर्थकताका प्रतिपादन श्रीवल्लभाचार्यने अपने तत्त्वार्थदीप-निबन्धकी प्रकाशव्याख्यामें किया है जिसका विवेचन हमने शास्त्रार्थप्रकरणकी अपनी स्नेहपूरणी-व्याख्यामें (पृष्ठ १९६–१९९ पर) किया है। इसी प्रकार उपक्रम-विरोधके विशेष-विवेचनके लिए सुवर्णसूत्र (पृष्ठ १२७-१२८) एवं आवरणभङ्ग (पृष्ठ १०८) द्रष्टव्य हैं। हमने इनकी विस्तृत व्याख्या अपनी मुद्रणाधीन विद्वन्मण्डन-विवृतिमें की है।

विद्वन्मण्डनकारका कथन है कि अद्वैत-वेदान्तीके मतके अनुसार तो जीवके आभासमात्र होनेसे अलीक होनेके कारण श्रुतिको उपर्युक्त वाक्यके 'स आत्मा' इस अंश तक 'तत्' पदार्थका निरूपण कर, 'न त्वमसि' अर्थात् 'तुम नहीं हो' यही कहना चाहिए था न कि 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तुम वही हो[1]।' और जीवका आभासत्व, अलीकत्व या असत्त्व प्रतिपादित करनेवाले मायावादियोंके मतके अनुसार तो जीवकी सत्ताका अभाव होनेके कारण 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें निर्भ्रान्त एवं निरवद्य वक्ता — जिसे अविद्यक, आभासमात्र एवं असत् पदार्थकी प्रतीति होना उपपन्न नहीं है —के द्वारा सत्ता-वाचक भू धातुके मध्यम-पुरुषमें 'असि' (अर्थात् 'तुम हो') इस प्रयोगकी व्याख्या भी नहीं की जा सकेगी[2]।

४.६.३ कुछ लोग इस प्रपाठकके 'तत्सत्यम्' (छा० ६.८.७) यहाँसे प्रारम्भ कर आठ पदोंको अर्थात् 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो !' इतने अंशको महावाक्य मानते हैं; उनके मतका निराकरण करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि उनका अभिमत अष्टपदीय वाक्य भी उक्त कारणसे ही महावाक्य नहीं माना जा सकता[3]।

४.६.४ कुछ माध्व दार्शनिक 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इस वाक्यांशको 'स आत्माऽतत्त्वमसि' इस प्रकार सन्धियुक्त पद मानकर 'स आत्मा अतत् त्वम् असि' इस प्रकारका सन्धि-विच्छेद कर 'तुम वह नहीं हो' यह अर्थ कर, इस वाक्यको जीवके ब्रह्मसे भिन्न होनेका प्रतिपादक बताते हैं। उनके इस मतका निषेध

---

१. त्वन्मते जीवस्य आभासत्वेन अलीकत्वात् 'स आत्मा' इत्यन्तेन 'तत्'–पदार्थं निरूप्य 'न त्वमसि' इत्येव वदेत्, न तु 'तत्त्वमसि' इति। (विद्व०, पृ० १२९)।

२. सत्ता-वाचक-धातोः मध्यम-पुरुष-प्रयोगानुपपत्तिश्च। (विद्व०, पृ० १२९–१३०)।

३. केचिदष्ट-पदानि महावाक्यमित्याहुः, तदपि तथा। (तत्त्वा० प्र० १.६१)।
शाङ्करभाष्यमतमाहुः 'केचिदष्टपदानि' इति। 'तत्सत्यम्' इत्यारभ्याष्टेत्यर्थः। (तत्त्वा० प्र० आ० १.६१ पृ० १०८)।

करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि उक्त वाक्यमें 'अतत् त्वम् असि' इस प्रकारका सन्धि-विच्छेद वैदिकोंका सम्मत नहीं है अतः उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता[1]।

* ४.६.५ * इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य या वाक्यांश में विद्याको उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं है (और अतएव इसे महावाक्य नहीं माना जा सकता) क्योंकि इस वाक्यका श्रोत प्रयोजन कुछ अन्य ही है। वह अन्य प्रयोजन क्या है इसे बताते हुए वे कहते हैं कि उक्त वाक्यमें जड एवं जीव के परस्पर-विलक्षण होनेका बोध करानेके लिए उन दोनोंका अलग-अलग उल्लेख किया गया है और परस्पर-विलक्षण होते हुए भी जड एवं जीव दोनों ब्रह्मात्मक हैं यह प्रतिपादित करनेके लिए पूर्वोक्त प्रकारसे जीवकी ब्रह्मात्मकताका निरूपण किया गया है[2]। अतः उपर्युक्त वाक्यका पर्यवसान ब्रह्मके सर्वरूपत्वके प्रतिपादनमें और जीवके ब्रह्म-नियम्य होनेके प्रतिपादनमें होता है।

* ४.६.६ * इस निष्कर्षका सुन्दर निरूपण 'तत्त्वमसि' के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायोंमें किये गये अर्थके सङ्ग्राहक अधोलिखित श्लोकमें मिलता है जिसे शुद्धाद्वैत-मार्तण्डके "'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इस वाक्यमें अभेदका प्रतिपादन अंश एवं अंशी में अभेदके अर्थमें किया गया है"[3] इस कथनकी व्याख्या करते हुए उसकी प्रकाश-व्याख्यामें उद्धृत किया गया है।

केचित् तत्त्वमसीति वाक्य-विषये 'तत्त्वं' पदे लक्षणां,
केचित् तत्र ङसो लुकं विदधते, भाष्यं तु केचिज्जगुः।
केचिच्चिद्विषयादभेदमपरे छिन्दन्त्यतत्त्वं पदं,
सिद्धान्ते तु सुवर्णवज्जगदिदं ब्रह्मैव जीवस्तथा[4] ॥

उक्त श्लोकमें उल्लिखित 'तत्त्वमसि' के विभिन्न व्याख्या-प्रकारोंका सङ्क्षेपमें खण्डन

---

१. 'अतत् त्वम् असि' इतिच्छेदस्तु न वैदिकानां सम्मतः। (तत्त्वा० प्र० १.६१)।

२. अतो नास्य विद्या-जनने शक्तिः, अन्यार्थ-कीर्तनात्। तदेव आह,
'ब्रह्मणः सर्वरूपत्वमवयुज्य निरूपितम्।' (तत्त्वा० १.६२)।
...अवयुज्य=जड-जीवौ पृथक्कृत्य। 'सर्वं ब्रह्म' इति वक्तुं जीवस्य ब्रह्मता निरूपिता। (तत्त्वा० प्र० १.६१-६२)।

३. यथा सोम्येत्यादिश्रुतौ स्पष्टमेव निरूपितम्।
तथा तत्त्वमसीत्यत्राभेदोऽंशांशि-विचारतः॥ (शुद्धा० २१)।

४. अस्यार्थस्तु; केचित्=शङ्कराचार्याः, तच्छब्देन सर्वज्ञत्वादि-विशिष्टं ब्रह्म, 'त्वं' शब्देन अल्पज्ञत्वादि-विशिष्टो जीवः; तयोः अभेदो न सम्भवति इति भागयोः सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वयोः त्यागे केवल-चिदंशमात्र-ग्रहणेन अभेदः, 'सोऽयं देवदत्तः' इतिवत्,

कर सिद्धान्तका प्रतिपादन वहीं उद्धृत अधोलिखित श्लोकमें किया गया है।

तत्रोपक्रमसङ्गतिर्बहुविधा भग्ना प्रतिज्ञाश्रुतिः;
भक्तिः स्याद्यदि न त्वमेव कथयेद् भेदे च नो तुल्यता।
साधर्म्येऽपि तु भेद एव रसितश्छेदो न सम्यग्यतः;
सिद्धान्तः श्रुतिसम्मतो विलसति प्राज्ञैर्विचार्यं मुहुः[1] ॥

• ४.६.७ • पूर्वोक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि ब्रह्म सच्चिदानन्द है तथा 'अस्ति', 'भाति' एवं 'प्रिय' के रूपमें सम्पूर्ण जगत्में अन्वित है। जगत्के जिस किसी भी पदार्थमें 'अस्ति' क्रियाका अन्वय होता है वह ब्रह्मका सदंश है और 'भाति' क्रिया जिस

भाग-त्याग-लक्षणां विदधते। केचिद्=रामानुज-माध्व-शैवाः, 'तत्त्वम्' इत्यत्र 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पाणिनीयाष्टाध्यायी ७.१.३९) इति-सूत्रेण, ङसो लुकं विदधते। तस्य त्वमसि तत्सम्बन्ध्यसि। सम्बन्धश्च सेव्य-सेवकभावः। केचिद्=रामानुजादि-मत-व्याख्यातारो, भाष्यं=व्याकरणभाष्यं, 'प्रातिपदिक-निर्देशे यां यां विभक्तिं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या' इति 'अचः परस्मिन्···' (पाणिनीयाष्टाध्यायी १.१.५७) इतिसूत्रे। 'तत्'—इति प्रातिपदिकं, तेन षष्ठी विभक्तेराश्रयणम्। अर्थः पूर्ववत्। केचित्=निम्बार्काः, चिद्विषयात्=चित्त्वसाधर्म्याद्, अभेदः। केचित्=माध्वैकदेशिनः 'अ-तत् त्वम् असि' इति पदं छिन्दन्ति। तत्र अर्थस्तु, तद् ब्रह्म त्वं न असि। किं तर्हि ? 'जीवः असि' इत्यर्थः। सिद्धान्ते=ब्रह्मवादि-सिद्धान्ते। सुवर्णस्यांशाः सुवर्णरूपाः, तथा ब्रह्मांशं जगद् ब्रह्मैव, तथा जीवः अपि चिदंशो ब्रह्म अनेन वाक्येन बोध्यते इत्यर्थः। (शुद्धा० प्र० २१)।

१. एतदर्थस्तु, शङ्कराचार्यादि-व्याख्यानेषु उपक्रमस्य सङ्गतिः बहुप्रकारेण भग्ना स्यात्।
··· एवञ्च, 'उपक्रमोपसंहारे योऽर्थस्तु प्रतिपद्यते।
स एवोत्तर-पक्षः स्यात् पूर्वपक्षस्ततोऽन्यथा ॥' इत्यभियुक्तोक्तेः, उपक्रम-विरोधेन लक्षणा न अङ्गीकार्या इत्यर्थः। भेद-वादिनां मते सर्व-विज्ञान-प्रतिज्ञा-भङ्गो, जगतो भिन्नत्वात्। न हि सुवर्ण-ज्ञाने मृद्विकारा ज्ञायन्ते, किन्तु सुवर्ण-विकारा एव। वास्तविक-भेदाभेद-वादिनां मते भेद-ज्ञानस्य वास्तवत्वेन तेषां भेदवादिवदुपक्रम-विरोधः, प्रतिज्ञाहानिश्च। किञ्च। भक्तिः=लक्षणा, यदि स्यात्, तर्हि 'त्वं'-शब्द-वाच्यस्य पिण्डस्य ब्रह्मत्वम् इष्टं न स्यात्, तर्हि 'न त्वमसि' इत्येव ब्रूयात्, त्वम् अल्पगुणोपाधिको ब्रह्म नासि इत्यर्थः। कथयति त्वेवं, तस्माल्लक्षणा न अभिमता। भेदे च, 'तस्य त्वम् असि' इति व्याख्याने भेद एव स्थितः। तथा च जीवस्य भिन्नत्वात् कस्यचित् सुखं कस्यचिद् दुःखम् इति ब्रह्मणि वैषम्यम् इत्यर्थः। भेदाभेद-वादि-मते चित्त्व-साधर्म्येण अभेदः, तथा च भेदः एव, रसितः=पर्यवसितः इत्यर्थः।

कर्तासे अन्वित हो वह ब्रह्मका चिदंश है। इसी तरह 'स्निह्यति' क्रिया जिस कर्त्तासे अन्वित होती है वहाँ ब्रह्मका आनन्दांश है। अतएव प्रीति या स्नेह भगवद्धर्म है, जिसे भगवान्ने सभी जीवोंमें थोड़ा-बहुत बाँटा है कि सभीको सुख मिले। अतः जिसकी जहाँ प्रीति हो जाती है उसे वहीं सुख मिलता है। सुख मिलता है इसलिए प्रीति नहीं होती, किन्तु जहाँ प्रीति होती है वहीं सुख मिलता है। वस्तुतः सारे सुखका स्रोत स्नेही स्वयं ही होता है[1]। श्रुतिमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि 'न वाऽरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २.४.५); किन्तु सर्वसन्देह-वारक भागवत-शास्त्रमें भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्माको बताते हैं कि स्वयं आत्मामें भी हमारी रति आत्मत्व-मूलक नहीं किन्तु परमात्मत्व-मूलक है। वे कहते हैं कि मैं प्रिय वस्तुओंमें प्रियतम हूँ अतः सभीकी सहज प्रीतिका विषय होनेके कारण मुझसे ही प्रेम करना चाहिए[2]। अतएव जो भूमा—अनन्त सुखराशि—है वही भगवान् है[3]। इसी अनन्त सुखराशिताके रूपमें उसे आनन्दमय कहा जाता है। ब्रह्म आनन्दमय है क्योंकि यद्यपि अक्षरब्रह्म भी आनन्दात्मक है परन्तु अक्षरब्रह्म गणितानन्द है जबकि अपरिच्छिन्न आनन्दको ही परमफल कहा जा सकता है अतएव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २.१) में 'अनन्त' शब्दका अर्थ परमानन्द है। इसी परमानन्दके कारण परब्रह्म या परमात्मा भगवान् बनता है और ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री आदि अनन्त द्वैत-घटित-गुण सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैत-वर्जित ब्रह्ममें उपलब्ध होते हैं। जहाँ भी इस आनन्दका प्राकट्य होता है वहाँ सारे विरुद्ध-धर्म एकनीड हो जाते हैं।

एवञ्च भेदवादिवत् तेषामपि मते दोषः। 'अ-तत् त्वम् असि' इतिच्छेदस्तु न वैदिक-सम्मतः इति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेः न सम्यक्। तस्मिन् पक्षे, अतत्=ब्रह्म त्वं नासि इत्यर्थे, जीव असि इति पर्यवसिते, जीवस्य स्वतः सिद्धत्वेन ब्रह्मत्वस्य अप्राप्त्या च तादृश-पदच्छेदो न सम्यगित्यर्थः। अतः पूर्वश्लोके 'छिन्दन्त्यतत्त्वं पदम्' इत्युक्तम्। तत्र अतत्त्वम्=अवैदिक-सम्मतं, पदं छिन्दन्ति इत्यपि श्लोकार्थः। सिद्धान्तः = शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तः। श्रुतिसम्मतः=उपक्रमोपसंहार-श्रुति-सम्मतः, इति, प्राज्ञैः = पण्डितैः, विचार्यम् इत्यर्थः। (शुद्धा० प्र० २१)।

१. प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः। भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यस्तं खण्डशो दत्तवान् सुखार्थम्। अतो यत्रैव प्रीयते तत एव सुखं भवति। ततः स्वसुखमेव स्वस्य भवतीत्युक्तं भवति। (सुबो० २.२.६)।

२. अहमात्माऽऽत्मनां धातः ! प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः॥ (भाग० ३.९.४२)।

३. 'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७.२३.१)।...तस्माद् भूमा भगवानेव। (अ० १.३.८)।

* ४.६.८ * स्वर्गके अधीश्वर इन्द्रादि देव—जो सुखके सारे तारतम्यको जानते हैं—भी भगवान्‌के स्वरूपानन्दका पार नहीं पा सकते। वैसे तो ब्रह्मानन्द भी कहीं न कहीं शतगुणित होकर इयत्तया जाना जा सकता है परन्तु परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके परमानन्दकी इयत्ता तो—सर्वज्ञ होनेके बावजूद—स्वयं कृष्ण भी नहीं जान सकते। सर्वज्ञ भगवान् नहीं जानते यह कहनेमें विरोधाभास प्रतीत होता है परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि सर्वज्ञतामें विद्यमानका ही अज्ञान प्रतिबन्धक होता है, अविद्यमानका नहीं। अनन्त आनन्द कालातीत होनेके कारण विद्यमान या अविद्यमान की कोटिमें नहीं रखा जा सकता। उसमें कालापरिच्छेदके साथ ही देशापरिच्छेद भी है। भगवान्‌के एक-एक रोमकूप-स्थान, अतिविशाल आकाश—जहां करोड़ों रजःकण उड़ते रहते हों—की तरह हैं अतः उनमें एक-एकमें अनन्त ब्रह्माण्ड रजःकणकी तरह हैं। जैसे ब्रह्माण्ड अनन्त हैं वैसे ही वेद भी अनन्त हैं। एक वेद केवल एक ब्रह्माण्डकी बात कर सकता है सबकी नहीं। अतः परमानन्दकी इयत्ता वेदमें भी उपलब्ध नहीं हो सकती[1]।

ऐसे प्रमाणागम्य परमानन्दकी सिद्धि कैसे होगी? सिद्धि तो होगी श्रुतिसे ही किन्तु पर्यवसान-वृत्ति द्वारा, न कि अभिधा-वृत्ति द्वारा। जैसे अनन्त वृक्ष भूमिपर फलित होते हैं और वृक्ष कितना भी ऊँचा क्यों न हो उसके फल या पत्र तो भूमिपर ही गिरते हैं, उसी तरह सभी वेद भगवान्‌के माहात्म्यका यावच्छक्य निरूपण करते हैं। उनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह फलतुल्य है। अनन्त वृक्षोंके अनन्त फल भूमिपर पड़ते रहते हैं और भूमिका एक अंश भी ढक नहीं पाता। इसी प्रकार वेदवर्णित गुणोंसे ब्रह्मके एक अंशका ज्ञान भी नहीं हो पाता है[2]। यह परमानन्द और कोई नहीं स्वयं

---

१. द्यु-पतयः=स्वर्ग-पतयो देवेन्द्रादयः। ते सुख-तारतम्यं जानन्ति, तेऽपि भगवतः स्वरूपानन्दस्य, अन्तं न ययुः। ब्रह्मानन्द-पर्यन्तस्यापि शतसंख्या आनन्द-परिमाणस्य ज्ञातत्वाद्, आनन्दमयस्यैव परमन्तो न ज्ञायते।···विद्यमाने अन्ते यदि न जानीयुस्तदैवेद दूषणं तेषामपार्वज्ञयञ्च, तदेव तु नास्ति। किञ्च त्वमपि न वेत्सि। नापि सर्वज्ञो भगवान् कथं न जानातीति मन्तव्यम्। विद्यमानस्यैव अज्ञानं सार्वज्ञयप्रतिबन्धकं न त्वविद्यमानस्य। एवं कालापरिच्छेदमुक्त्वा देशापरिच्छेदमाह ··एकं रोमकूप-स्थानम् अतिविशालम् आकाशवत्, तत्र यथा भूरेणवः कोटिशो वान्ति तथा ब्रह्माण्डानि परिभ्रमन्तीत्यर्थः। ननु तथापि प्रमाणेन परिच्छेदो भविष्यति अनन्तादिशब्दवाच्यादित्याह···। ब्रह्माण्डानन्त्यस्य वेदानन्त्यमपि। तेनैकस्यैव ब्रह्माण्डस्य वार्तामेको वेदो वदतीति न वेदैरपि परिच्छेत्तुं शक्यते। (सुबो० १०.८७.४१)।

२. ननु एवं सति सर्वप्रमाणानामगम्ये भगवति तादृशानन्दे किं प्रमाणमिति चेत् तत्राह 'त्वयि हि फलन्ति' इति। श्रुतय एव प्रमाणं, परं पर्यवसान-वृत्त्या न तु वाच्य-

श्रीकृष्ण हैं जिनके आनन्दकी समानता कोई कर नहीं सकता। वेद भी इसकी थाह नहीं पा सकते।

कृष्णानन्दः परानन्दो नान्यानन्दस्तथाविधः।
वेदा अपि न तच्छक्ताः प्रतिपादयितुं स्वतः॥ (सुबो० १०.८७.४१)।

श्रीवल्लभाचार्य एवं गो० श्रीविट्ठलनाथ के अनुसार सारे श्रुतिवाक्योंके अर्थका पर्यवसान 'एतादृशः परमानन्दरूपः कृष्ण एव सेव्यो नान्यः' (सुबो० १०.८७.४१) इस सिद्धान्तके प्रतिपादनमें ही होता है।

वृत्त्या। यथा अनन्त-वृक्षा भूमौ फलन्ति, तत उच्चस्थितान्यपि फलानि भूमावेव पतन्ति, एवं सर्वे वेदाः स्वस्वरीत्या स्वशक्यं माहात्म्यं भगवतो वदन्ति। तानि ज्ञानानि फलान्युच्यन्ते। तेषां क्वापि पर्यवसानाभावाद् भगवत्येव पतन्ति पर्यवसिता भवन्ति। एवमनन्तवृक्षाणामनन्तानि फलानि भूमौ पतन्त्यपि भूमेः सहस्रांशमपि न पूरयन्तीति मेरु-सर्षप-न्यायेनार्थाद् भगवन्माहात्म्यं ज्ञापयन्ति इत्यर्थः।

(सुबो० १०.८७.४१)।

जीव-विचार

● ५.०.० ● 'ब्रह्मविचार' के सन्दर्भमें (ऊपर पृष्ठ १४७-८ पर) हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार श्रुति ब्रह्मके स्वरूप-ज्ञानका विधान कर, उसकी पुरुषार्थताका उल्लेख कर, 'फल-सिद्धि भगवदाविर्भाव होनेपर ही होती है' यह बता कर, भगवदाविर्भावके लिए प्रेम-सेवाका निरूपण करती हुई, भगवदज्ञादिरूप दोषोंकी सम्भावनाके अपनोदनके लिए भगवन्माहात्म्यका और सुदृढ स्नेहकी सिद्धिके लिए उनके आत्मत्वका प्रतिपादन करती है; किन्तु मायावादी प्रपञ्चको मिथ्या, भगवान्के सर्वेश्वरत्व एवं सर्व-कर्तृत्व आदिको अविद्योपाधिक तथा भजनीयके स्वरूपको भावना-कल्पित माननेके सर्व-माहात्म्य-नाशक मतका प्रतिपादन करते हुए, जीवात्म-व्यापकत्व-वादके भक्ति-विरोधी सिद्धान्तको पुरस्कृत कर, 'दासोऽहं कृष्ण तवास्मि' की स्नेहिल भावनाके स्थानपर 'अहं ब्रह्मास्मि' की अहमात्मिका वृत्तिको प्रतिष्ठापित कर भगवद्-भक्तिका लोप कर देनेमें प्रवृत्त हैं[1]। उनके अनुसार श्रीमद्भागवतमें वेदस्तुतिके, एक[2] श्लोकमें इस बातका उपपादन स्पष्टतया किया गया है कि जीवात्माको व्यापक मानने-पर उसका स्वरूप भजनानुकूल नहीं रह जायेगा क्योंकि जीव एवं ईश्वर का नियम्य-नियामक-भाव जीवके विस्फुलिङ्ग-न्यायसे ब्रह्मसे व्युच्चरण होनेके श्रौत मतको मानने पर ही उपपन्न होगा, जीवको व्यापक माननेपर नहीं। अत एव वहाँ जीवकी व्यापकता-के मतका निराकरण किया गया है[3]।

इस श्लोककी अपनी सुबोधिनी व्याख्यामें श्रीवल्लभाचार्यने बताया है कि यहाँ पहले जीवको व्यापक मानने वाले नैयायिक आदि दार्शनिकोंके मतका निराकरण यह

---

१. शुद्धं भजनं वारयन्ति·· जीवं व्यापकमुक्त्वा। (तत्त्वा० प्र० १.२३)।

२. अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगताः
तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥ (भाग० १०.८७.३०)।

३. भगवतो माहात्म्य-सिद्धयर्थं जीवानां भगवदधीनत्वं स्थापयितुं स्वातन्त्र्य-पक्षमनूद्य निराकुर्वन्ति।···जीवानां व्यापकत्वे स्वरूपतो भगवन्नियम्या न भवेयुः।···अतो यदि श्रौत एव न्यायः विस्फुलिङ्गरूपः अङ्गीक्रियते तदैव नियम्य-नियामक-भावो भवति, न स्मार्तपक्षे व्यापकत्वे। तदर्थं व्यापकता निराक्रियते। (सुबो० १०.८७.३०)।

कह कर किया गया है कि जीवको व्यापक माननेपर जीवका दासत्व एवं उसका ईश्वरसे नियम्य-नियामक-भाव तो अनुपपन्न ही हो जाता है ईश्वरका ईश्वरत्व भी अक्षुण्ण नहीं रहता और वह जीवोंके नियमन एवं भोगसम्पादन के लिए अपेक्षित नहीं रह जाता प्रत्युत अनावश्यक हो जाता है[1]।

भक्तिकी सिद्धिके लिए नियम्य-नियामक-भाव अपेक्षित है। जो जिससे जन्य होता है वह उससे नियम्य होता है। जीव भगवदंश, भगवन्मय एवं भगवन्नियम्य हैं। यदि वे व्यापक हों तो भगवन्मय नहीं हो सकते। अतः तन्मयत्वान्यथानुपपत्तिसे यह सिद्ध होता है कि जीव व्यापक नहीं है[2]।

जिन लोगोंकी धारणा यह है कि वेदान्तमें नियम्य-नियामक-भावको स्वीकार नहीं किया गया है उन लोगोंकी आशङ्काका समाधान करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि यह जीवात्म-व्यापकत्व-वाद समदर्शी ब्रह्मवेत्ता मनीषियोंका अभिमत भी नहीं है क्योंकि वे भी नियम्य-नियामक-भाव स्वीकार करते हैं। यदि ऐसा न होता तो भगवान्को 'मुक्तोपसृप्य-व्यपदेशात्' (ब्र० १.३.२) आदिमें उल्लिखित 'मुक्तोपसृप्य' न कहा गया होता और,

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥' (गीता ७.१६)

इत्यादि वाक्योंमें ज्ञानियोंद्वारा भगवद्भजन किये जानेकी बात भी न कही गयी होती[3]।

---

१. केचन नैयायिकादयः जीवं व्यापकं मन्यन्ते। तन्मतमनूद्य परिहरति, 'तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमः।' अत्र शासनं न कर्मनिमित्तं, तत्तु यमादिकार्यं, किन्तु दास-स्वामिवत् नियम्य-नियामक-भावः। व्यापकत्वे जीवानां दासत्वं न स्यादित्यर्थः। तथा सति नेश्वरश्च सेत्स्यति, प्रयोजनाभावात्। सर्वत्रात्मनः कारणत्वेन विद्यमानत्वात् स्वभोगः तेनैव सम्पादयितुं शक्यते। अदृष्ट-नियामकं तु कर्म एव, भोगस्तु अदृष्ट-नियम्यः, कर्म प्रयत्न-नियम्यम्। अतो जीवार्थम् ईश्वरापेक्षाया अभावात्, न ईश्वरोऽपि सेत्स्यति नियम्य-नियामकभावो दूरे। (सुबो० १०.८७.३०)।

२. भक्ति-सिद्धयर्थं नियम्य-नियामक-भावो निरूपितः। तत्र हेतुश्च तन्मयत्वम् उक्तम्। तेन यन्मयं यत् तत् तस्य नियम्यं भवति इति फलति। (सुबो० १०.८७.३१)।
जीवा अपि भगवन्मयाः। व्यापकाश्चेत् कथमपि न तन्मया भवन्ति।... तस्मात् तन्मयत्वान्यथानुपपत्त्या न व्यापकत्वं जीवस्य इति सिद्धम्। (सुबो० १०.८७.३०)।

३. 'ननु वेदान्तिनोऽपि आत्मैकत्वं वदन्तः नियम्य-नियामक-भावं नाङ्गीकुर्वन्ति, सर्वत्र तुल्य-दर्शनात्। अतो वेदान्ते नियम्य-नियामक-भावो नास्ति' इति ये वदन्ति तदनूद्य परिहरन्ति, 'सममनुजानतां यदमतम्' इति। ये सर्वत्र ब्रह्म समम् अनुजानन्ति,

उपनिषदोंमें 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः' (बृ० ४.४.२२), इत्यादि वाक्योंमें अनेकशः ब्रह्मकी नियामकताका उल्लेख किया गया है तथा 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः' (बृ० ३.८.९) आदि श्रुतिवाक्योंमें उसके 'प्रशासन' का उल्लेख मिलता है जिसकी पुष्टि 'सा च प्रशासनात्' (ब्र० १.३.११) इत्यादि ब्रह्म-सूत्रोंमें की गयी है। इससे स्पष्ट है कि भगवान्का नियामकत्व एवं प्रशासकत्व सर्ववादिसम्मत है। किन्तु जीवको व्यापक माननेपर यह सङ्गत न हो सकेगा क्योंकि तब जीवके भगवन्मय न होनेका अनिष्टप्रसङ्ग आपतित होगा। अतः जीवोंको व्यापक मानना उचित नहीं है[1]।

इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार जीवको व्यापक मानकर जीव एवं भगवान् में विद्यमान नियम्य-नियामक-भावका लोप तथा भगवन्माहात्म्यका नाश करनेवाले, सर्व-व्यामोह-कारक, भक्तिविरोधी मायावादको मानना ठीक नहीं है[2]।

* ५.१.० * विद्वन्मण्डनमें जीवकी चर्चा सबसे पहले वहाँ आती है जहाँ सिद्धान्ती पूर्वपक्षीसे जगत्की प्रतीतिका उपपादन करनेको कहते हैं[3] और पूर्वपक्षी जीवाविद्याको

'ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डिता मतः॥'
इति ब्रह्मविदः समदर्श इति। तेषामपि एतद् अननुमतम्, तेऽपि नियम्य-नियामक-भावम् अङ्गीकुर्वन्ति एव। अन्यथा भगवान् मुक्तोपसृप्यो न स्यात्। 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गीता ७.१६) इति ज्ञानिनोऽपि भजनश्रवणाच्च।
(सुबो० १०.८७.३०)।

१. 'एष सर्वेश्वर एष लोकपाल एष भूताधिपतिः' (बृ० ४.४.२२) इति सर्वत्र उपनिषत्सु भगवतो नियामकत्व-श्रवणात्। 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः।' (बृ० ३.८.९) इत्यादि-श्रुतिभिः स्पष्टमेव प्रशासनं दृश्यते, 'सा च प्रशासनात्' (ब्र० १.३.११) इति न्यायेन च निर्णीतः। तस्माद् भगवतः प्रशासनं सर्ववादिसम्मतं, तच्च व्यापकत्वे न घटते, अतन्मयत्वप्रसङ्गाद् इति। नियन्ता जीवसङ्घस्य हरिस्तेनाणवो मताः।
जीवा न व्यापकाः क्वापि चिन्मया ज्ञानिनां मताः॥ (सुबो० १०.८७.३०)।

२. स्वप्रवृत्तिविघातेन गुर्वादीनाञ्च दूषणात्।
मायावादो न मन्तव्यः सर्व-व्यामोह-कारकः॥ (तत्त्वा० प्र० १.८७)।

३. ननु उपलब्धिमात्रेण न वस्तुसत्त्वं वक्तुं शक्यम्, स्वप्नादिषु तथा प्रसङ्गात्। तथा च निषेधिकायाः श्रुतेः प्रपञ्चासत्त्वमेवाभिप्रेतम् इति चेत्? तर्हि प्रतीतिमुपपादयतु देवानां प्रियः। (विद्व०, पृ० ४०-४१)।

जगत्-प्रतीतिका हेतु माननेके पक्षका पुरस्कार करता है[1]। यहाँ ग्रन्थकारने जीवके स्वरूपके विचारका उपक्रम करते हुए पहले 'जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब है' इस पक्षकी अ-युक्तियुक्तताका उपपादन[2] और तदनन्तर जीवको ब्रह्मका आभास माननेके पक्षका निराकरण[3] किया है। इस चर्चाका उपसंहार सिद्धान्तीने इस निष्कर्षके साथ किया है कि मायावादीको अभिमत अविद्याकी परिकल्पनासे न तो जगत्प्रतीतिकी व्याख्या हो पाती है और न जीव-विभागकी ही[4]। पुनः जब पूर्वपक्षी जीव एवं ब्रह्म के श्रुतिसिद्ध अभेदकी उपपत्तिके लिए जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्धके स्वरूपका विश्लेषण करते हुए जीवको ब्रह्मोपाधि (अर्थात् ब्रह्म-विभाजक उपाधि) मानना ही एकमात्र उपाय बताते हैं और उसके ब्रह्मांशत्वको औपचारिक कहते हैं[5] तो जीवके अंशत्व एवं अणुत्व के प्रतिपादनके साथ जीव-विचारका प्रसङ्ग आता है और सिद्धान्ती विस्तारसे यह प्रतिपादित करते हैं कि जीवत्व आविद्यक नहीं प्रत्युत पारमार्थिक है तथा श्रुतिसे, ब्रह्मसूत्रोंसे और स्मृतियोंसे ज्ञात होता है कि जीव अंश ही है। उक्त प्रमाणोंसे ही यह भी ज्ञात होता है कि जीव अणु ही है। पूर्वोक्त श्रुति, ब्रह्मसूत्र एवं स्मृतियाँ अपने अर्थ अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्धमें स्वतः प्रमाण हैं। अतः जीवको अंश एवं अणु मानना ही उचित है[6]।

---

१. ननु जीवाविद्यैव जगत्प्रतीतौ हेतुः। (विद्व०, पृ० ४४) द्र०, विद्व०, पृ० ४४–४८.

२. एवं प्राप्ते ब्रूमः। पूर्वं जीव-स्वरूपं विचारणीयं यस्य सा शक्तिः। तत्र न तावद् 'ब्रह्म-प्रतिबिम्बो जीव' इति पक्षो युक्तिसहः। (विद्व०, पृ० ४९)। द्र०, विद्व०, पृ० ४९–६५.

३. स्यादेतत्। न वयं प्रतिबिम्बं जीवं ब्रूमः किन्तु अङ्गुल्यादि-सम्पर्कात् चन्द्रादि-द्वैताभासवद् अविद्यातो ब्रह्मापि अनेकवदवभासमानं द्वित्वादि-संख्या-योगि जीवपदवाच्यम् इति। नैतद् विद्वदादरणीयम्। (विद्व०, पृ० ६६)। द्र०, वही, पृ० ६६-९७.

४. तस्मात् त्वदभिमताविद्यया जगत्प्रतीतिः जीवविभागो वा न युक्तिसहः इति न कर्तृत्वनिषेधो ब्रह्मणि शक्यनिरूपणः। (वही, पृ० १३५)।

५. ननु आस्तां शुद्धमेव ब्रह्म जगत्कारणम्। तेन सह अभेदो जीवस्य कथं श्रुत्या बोध्यते? परस्परं विरुद्धधर्मत्वादुभयोः, परमार्थतो भिन्नयोरभेदासम्भवाच्च।··· किञ्च जीव-ब्रह्मणोः क. सम्बन्धः?·· न तादात्म्यरूपः।···नापि जीवो ब्रह्मणोऽंशः। ·· औपचारिकमंशत्वम् ·। तस्माद् ब्रह्मोपाधिरेव जीव इति मन्तव्यम्।
(वही, पृ० १३८–१३९)।

६. श्रुतितस्तत्त्वसूत्रेभ्य स्मृतिभ्यश्चांश एव सः।
स्वार्थे प्रामाण्यतस्तेषां तेभ्य एवाणुरेव च॥ (विद्व०, पृ० १४१)।

* ५.१.१ * विद्वन्मण्डनकारको जीवका वह स्वरूप अभिमत है जिसका निरूपण श्रीवल्लभाचार्यने अपने तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें,

'तदिच्छा-मात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः ॥
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया ।
विस्फुलिङ्गा इवाग्नेस्तु ···॥' (तत्त्वा० १.२७-२८) तथा
'जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गन्धवद्व्यतिरेकवान् ।
व्यापकत्व-श्रुतिस्त्वस्य भगवत्त्वेन युज्यते ॥
आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः ।
प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वञ्च तस्य तत् ॥
प्रकाशकं तच्चैतन्यं तेजोवत्तेन भासते ।
न प्राकृतेन्द्रियैर्ग्राह्यं न प्रकाश्यं च केनचित् ।
योगेन भगवद्दृष्ट्या दिव्यया वा प्रकाशते ॥
आभास-प्रतिबिम्बत्वमेवं तस्य न चान्यथा ।
आनन्दांश-तिरोधानात् तत् तद्वत्तेन भासते ॥' (तत्त्वा० १.५३-५७) ।

इत्यादि कारिकाओं एवं उनकी स्वोपज्ञ प्रकाश-व्याख्या में किया है। हमने जीवकी शुद्धाद्वैतानुसारिणी परिकल्पनाका विशद एवं विस्तृत विवेचन तत्त्वार्थदीपनिबन्धकी अपनी स्नेहप्रपूरणी व्याख्यामें (विशेषतः तत्त्वा० शा० पृ० ९६-१०४ एवं १५६-२०० पर) एवं प्रमेयरत्नार्णवके अपने हिन्दी अनुवादमें (विशेषतः पृष्ठ २६-४७ पर) किया है, अतः यहां हम विद्वन्मण्डनकार द्वारा विवेचित प्रश्नों एवं तद्विषयक कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करने पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

* ५.१.२ * 'जिस प्रकार अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियां निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्मसे जीव व्युच्चरित होते हैं'[1] (बृ० २.१.२०) इत्यादि[2] श्रुतिवाक्योंका अनुसरण करते हुए श्रीवल्लभाचार्यने जीवोंके उद्गमका निरूपण करते हुए कहा है कि 'उस ब्रह्मकी इच्छासे, सृष्टिके प्रारम्भमें, उसके सङ्कल्प-मात्रसे ही, उस ब्रह्मसे ही, ब्रह्मात्मक, चेतन (अर्थात् चित्प्रधान) और निरानन्द-स्वरूप असंख्य अंश उसी प्रकार निःसृत होते हैं जिस प्रकार अग्निसे विस्फुलिङ्ग।' (तत्त्वा० १.२७-२८)। सिद्धान्तीके उक्त कथनमें उल्लिखित व्युच्चरण-न्यायसे जीवोंके निर्गमनको उनकी उत्पत्ति समझकर पूर्वपक्षी इस पर आक्षेप करते हैं कि इस प्रकार जीवको उत्पत्तिका उपपादन ब्रह्मसूत्र-

---

१. यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति । (बृ० २.१.२०) ।

२. यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ (मु० २.२.१) ।

विरोधी मत है क्योंकि ब्रह्मसूत्रमें यह निर्णय किया गया है कि श्रुतिमें आत्माकी उत्पत्तिका उल्लेख न होने एवं आत्माके नित्य कहे जाने से यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवकी उत्पत्ति नहीं होती[1]।

पूर्वपक्षीके पूर्वोक्त आक्षेपके उत्तरमें विद्वन्मण्डनकारका कहना है कि सूत्रकारने 'यथाग्नेः क्षुद्राः' (बृ० २.१.२०) इत्यादि श्रुतिवाक्योंका विचार करते हुए जीवको ब्रह्मांश स्वीकार करते हुए भी उसकी उत्पत्तिका निषेध किया है। इससे यह सूचित होता है कि सूत्रकार विस्फुलिङ्ग-न्यायसे व्युच्चरणको उत्पत्ति नहीं मानते हैं[2]। स्पष्ट है कि विद्वन्मण्डनकार यहाँ श्रीवल्लभाचार्य द्वारा दिये गये समाधानको ही प्रस्तुत कर रहे हैं। श्रीवल्लभाचार्यने 'जीवकी स्थावर-जङ्गम शरीरमें समागम-रूप उत्पत्ति होती है'[3] यह प्रतिपादित करनेके बाद, 'नात्माऽश्रुतेः' (ब्र० २.३.१७) सूत्रके भाष्यमें यह बताया है कि इसमें जीवकी स्वरूपतः उत्पत्तिका निषेध किया गया है[4]।

* ५.१.३ * इस उत्तरको सम्यग् रूपसे समझनेके लिए शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके अनुसार उत्पत्तिकी परिकल्पनाको हृदयङ्गम करना अपेक्षित है। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार ब्रह्मवादमें उत्पत्ति तीन प्रकारकी मानी गयी है[5]। इस सिद्धान्तके परम्पराप्राप्त होनेकी पुष्टि इसका निरूपण करनेवाली उस कारिकासे होती है जिसे स्वयं श्रीवल्लभाचार्यने तथा विद्वन्मण्डनकारने भी अनेकशः—कभी अंशतः तो कभी सम्पूर्ण रूपमें—उद्धृत किया है। सुबोधिनी (२.६.७) तथा अणुभाष्य (२.३.१) में उद्धृत रूपमें यह सम्पूर्ण कारिका अधोलिखित है।

अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः।
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यञ्चेति सा त्रिधा॥

---

१. ननु 'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० २.३.१७) इति-तत्त्वसूत्र-विरोधः।··· आत्मा=जीवो, न उत्पद्यते। · देहोत्पत्तिरेव श्रूयते नात्मनः।···नित्यत्वाद् अपि नोत्पत्तिः जीवस्य सम्भवति। (विद्व०, पृ० १७०)।

२. अत्रेदं प्रतिभाति। 'यथाऽग्नेः क्षुद्राः' (बृ० २.१.२०) इत्यादि-श्रुतीर्विचारयन् स्वयमेव जीवस्य अंशत्वम् उक्त्वा (='वक्तुमभिसन्धाय इत्यर्थः' सुव०, पृ० १७०) यत् पश्चादुत्पत्तिं निषेधति सूत्रकारः तेन विस्फुलिङ्ग-न्यायेन जीवस्य व्युच्चरणं न उत्पत्तित्वेन सूत्रकारस्य अभिमतम्···उत्पत्ति-स्वरूपाभावात्। (विद्व०, पृ० १७०)।

३. जीवस्य समागम-लक्षणाप्युत्पत्तिः न स्याद् इतीमाम् आशङ्कां निराकरोति। (अ० २.३.१६)।

४. विस्फुलिङ्गवद्व्युच्चरणं नोत्पत्तिः, नामरूप-सम्बन्धाभावात्। (अ० २.३.१६)।

५. उत्पत्तिस्तु त्रिविधा निरूपिता। (अ० २.३.१६)।

इसे इसी रूपमें विद्वन्मण्डनकारने भी (विद्व०, पृ० १७०–१७१ पर) उद्धृत किया है। श्रीगङ्गाधर भट्टने अपनी विद्वन्मण्डन-टिप्पणीमें इस कारिकाके सम्बन्धमें लिखा है कि 'विष्णुस्वामिनं प्रति भगवतोक्तम् इति लेखकाराः' (विद्व० टि०, पृ० १७०) अर्थात् सम्प्रदायमें लेखकारके नामसे प्रसिद्ध गो० श्रीवल्लभके अनुसार यह श्लोक स्वयं श्रीभगवान्ने विष्णुस्वामीसे कहा था। तात्पर्य यह है कि साम्प्रदायिक परम्परा इस सिद्धान्तको विष्णुस्वामीकी परम्परासे गृहीत मानती है।

इस कारिकामें निरूपित मतके अनुसार जनन, समागमन एवं प्राकट्य के भेदसे उत्पत्ति तीन प्रकारकी मानी गयी है। इनमेंसे जननात्मिका उत्पत्ति अनित्य वस्तुकी होती है तथा समागमनात्मिका उत्पत्ति नित्य एवं परिच्छिन्न वस्तुकी, और नित्य एवं अपरिच्छिन्न वस्तुकी उत्पत्तिका स्वरूप 'प्राकट्य' होता है। इस प्रकार घट-पट आदिरूप जड जगत्की उत्पत्ति उनके अनित्यतया प्रतीत होनेके कारण जननात्मिका है। जीवात्माकी उत्पत्ति समागमनात्मिका है क्योंकि वह नित्य भी है और अणुपरिमाण होनेके कारण परिच्छिन्न भी। ब्रह्म नित्य और अपरिच्छिन्न है अतः वह प्रकट होता है।

* ५.१४ * शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादमें एकमेवाद्वितीय ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रयताके सन्दर्भमें साकार माना जाता है। इसीलिए इसे 'साकार-ब्रह्मवाद' कहा जाता है। इसका ब्रह्मवादत्व तभी निभ सकता है यदि आकार-आकारिभाव रहते हुए भी स्वयं आकार भी ब्रह्मात्मक हो[1]। और आकारको ब्रह्मात्मक माननेका अर्थ यह स्वीकार करना होगा कि जिस प्रकार ब्रह्म आनन्दात्मक है वैसे ही आकार भी आनन्दात्मक है। इसीलिए कहा जाता है कि ब्रह्मवादमें आनन्द ही आकारसमर्पक है[2]। यह आनन्दतत्त्व ही ब्रह्ममें विरुद्धधर्माश्रयता लाता है, सत् या चित् तत्त्व नहीं[3]। ऐसी स्थितिमें ब्रह्मकी बहु-भवनेच्छाके दो प्रकार सम्भव हैं। प्रथम प्रकार वह है जिसमें ब्रह्म आनन्दांशको तिरोहित किये विना एकाकी स्वयमेंसे स्वसमान अनेक तत्त्वों या रूपों को प्रादुर्भूत करता है जिससे सच्चिदानन्दात्मकताकी दृष्टिसे प्रकारभेद न रहनेपर भी संख्या-भेद घटित हो जाता है[4] और विरुद्धधर्माश्रयताके कारण सेव्य-सेवक आदि तत्तल्लीलानुरूप भाव

---

१. धर्माणामपि ब्रह्मत्वे एक-विज्ञानेन सर्व-विज्ञानमुपपद्यते, नान्यथा। (अ० ३.२.२९)। 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वाद्' (ब्र० ३.२.२८) इति-न्यायेन भगवद्धर्माणामपि सच्चिदानन्द-रूपत्वात्। (अ० ३.३.३)।

२. आनन्दो ब्रह्मवादे आकार-समर्पकः। (तत्त्वा० प्र० १.४४)।

३. तस्मादानन्दाशस्यैवायं धर्मो यत्र स्वाभिव्यक्तिस्तत्र विरुद्ध-सर्व-धर्माश्रयत्वमिति। (अ० १.२.३२)।

४. 'स आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति, तस्मात्सर्वमभवद्' (बृ० १.४.१०) इत्यादिषु स क्षात्रपञ्च-रूपता निरूपिता। तामाह,

आदिरूप परापरभाव भी घटित हो जाता है। अत एव व्यापि-वैकुण्ठ-लोकात्मक अक्षर-ब्रह्म ब्रह्मात्मक भी है और अपने स्वामी पुरुषोत्तमसे भिन्न भी। यही तो ब्रह्मवादका वैशिष्ट्य है[1]। द्वितीय प्रकार वह है जिसमें आनन्दांशके तिरोधानसे सङ्ख्या-भेद घटित होनेके साथ ही सच्चिदानन्दात्मकताकी दृष्टिसे प्रकार-भेद भी घटित हो जाता है। इसमें जड और जीव में आनन्दांश-तिरोभाव-प्रयुक्त अलौकिक आकारका लोप हो जाता है। इस तरह व्युच्चरणके समय, जिनको भविष्यमें सदंश तथा चिदंश होना है ऐसे भगवदंश भगवद्रूप तथा साकार होते हुए भी उच्च-नीच-भवनेच्छा-वश निर्गत होनेके कारण तथा आनन्दांशके तिरोधानवश निराकार हो जाते हैं[2]। जडमें सदंश रहता है किन्तु चिदानन्दांशका तिरोभाव हो जाता है, तथा जीवमें सच्चिदंश रहता है और आनन्दांशका तिरोभाव हो जाता है[3]। सदंशका तिरोधान असम्भव है क्योंकि वह तो प्रलयकी अर्थात् अभिव्यक्तको पुनः अनभिव्यक्त करनेकी प्रक्रिया होगी। ऐसी स्थितिमें जड और जीव दोनोंमेंसे ही आनन्दाकारका लोप हो जाता है। परन्तु जब जडमेंसे पञ्चतन्मात्र, अपञ्चीकृत-महाभूत आदि रूप सूक्ष्मावस्थासे भगवदिच्छासे तत्तत् ब्रह्मांशभूत कारणकलापोंको पाकर स्थूलावस्था विकसित होती है तो प्रायः सभी पदार्थोंका तत्तत् नियतविशेष नामरूपोंसे एक अभिव्यक्त सम्बन्ध स्थापित होता है। यह सम्बन्ध-स्थापना ही उन्हें एक ऐसा नाम-रूप देती है जो ब्रह्म —सच्चिदानन्द अंशी—के लिए स्वाभाविक होते हुए भी जड सदंश के लिए आगन्तुक सदृश प्रतीत होता है। यही उनकी पारिभाषिक अनित्यता है और इसी अनित्यताके कारण उनकी जननात्मिका उत्पत्ति मानी जाती है[4]।

'कदाचित्सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः।'

—इह इति सृष्टिभेदेषु। जनार्दन इति लीलार्थ-जीवानां क्लेशमसहमानः। अस्मिन् पक्षे नानन्दांश-तिरोभावः। (तत्त्वा० प्र० १.३७)।

१. अक्षरस्यापि ब्रह्मत्वम्, पुरुषस्यापि; तयोः परापरभावो भेदश्च। एतादृश एव हि ब्रह्मवादः। (अ० १.२.२१)।

२. सृष्ट्यादौ प्रथमसृष्टौ। ततः साकारा भगवद्रूपा अपि उच्च-नीचभावेच्छया निर्गता इति निराकारा जाताः। (तत्त्वा० प्र० १.२७)।

३. सच्चिदानन्द-रूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता।
अतएव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपतः॥ (तत्त्वा० १.२९–३०)।
सति चिदानन्द-धर्मयोस्तिरोभावः। चिति आनन्दस्य। आनन्दांश-तिरोभावस्यापि ज्ञापकमाह, 'अतएव निराकारौ' इति। (तत्त्वा० प्र० १.२९–३०)।

४. द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः। भूत-भौतिकं सर्वं ब्रह्मण एव। विस्फुलिङ्ग-न्यायेनैका, अपरा वियदादि-क्रमेण। सा च अनाम-रूपात्मनो नामरूपत्ववत्त्वेनाभिव्यक्तिः। सजडस्यैव कार्यत्वात्तस्य जीवस्य त्वंशत्वेनैव न नामरूपसम्बन्धः। (अ० २.३.१)।

चिदंश जीवका, आनन्दांशके तिरोहित हो जानेके बाद, किसी अभिव्यक्त विशेष नाम-रूपसे सम्बन्ध नहीं जुड़ता। फलतः वह न केवल अलौकिक आकार खोता है बल्कि किसी भी प्रकारका अभिव्यक्त लौकिक रूप या आकार पाता भी नहीं। यह रूपान्तरणकी प्रक्रियामें न पड़ना ही जीवकी नित्यता है। आगमेंसे चिनगारीकी तरह व्युच्चरित होनेके कारण अंशात्मकता या अणु-परिमाणता तो इस चिदंशकी बनी रहती ही है। अतः उक्त पारिभाषिक नित्यता—परिच्छिन्नता—बनी रहनेके कारण जीवकी समागम-नात्मिका उत्पत्ति मानी गयी है[1]। यहाँ 'अभिव्यक्त विशेष-नाम-रूप' कहनेका तात्पर्य यही है कि जीवका भी एक चित्त्वेन पृथक् रूप तो है ही; इसी तरह और कुछ नहीं भी तो इस चिदंशका नाम 'जीवात्मा' भी तो है ही; परन्तु न तो यह अभिव्यक्त अर्थात् किसी भी लौकिक इन्द्रियसे ग्राह्य या व्यवहार्य है और न इसका कोई प्रतिचिदंश-नियत नामरूप ही सम्भव है। देहादिकी उपाधि-द्वारा नामरूप-धारण तो औपाधिक ही है। यहाँ इस सन्दर्भ में 'रूप' का तात्पर्य केवल चक्षुर्ग्राह्य गुण नहीं अपि तु लौकिक इन्द्रिय-ग्राह्य कोई भी गुण है। उसके जीवात्मामें न होनेसे उसे (जीवात्माको) रूप-नाम-सम्बन्ध-हीन माना जाता है। इस अर्थमें इस चिदंशमें सदृश जडकी तरह कोई आगन्तुक नाम-रूप-सम्पर्क घटित नहीं होता है। वह जिस रूपमें ब्रह्ममेंसे उद्गत हुआ वही अव्यक्त रूप (कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सामर्थ्ययुक्त विज्ञानमय अणुपरिमाण) लेकर व्यक्त-नामरूपात्मक जगत्में आता है और यहाँ अज्ञानात्मिका तथा जडात्मिका उपाधियोंसे घिर जाता है। ये उपाधियाँ इसके स्वरूपमें कोई तात्त्विक अन्तर पैदा नहीं करतीं परन्तु जीवात्मा और इन उपाधियों के सम्पर्कसे दोनोंमें परस्पर तादात्म्याध्यास पैदा हो जाता है। आत्मा और देहेन्द्रियादि का संयोग भगवत्कृत और वास्तविक होता है; किन्तु एतन्मूलक तादात्म्याध्यास अर्थात् देहेन्द्रियादिमें अहन्ता-ममता-बुद्धि आध्यासिक है, आविद्यक है। आध्यासिक सम्बन्ध ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है परन्तु श्रौत नित्यकर्मकी विधि तथा जीवन्मुक्तोंका व्यवहार भगवत्कृत वास्तविक-सम्बन्ध-मूलक होता है।[2]

---

१. "ननु जीवोऽप्युत्पद्यतां किमिति भाक्तत्वं कल्प्यत इति चेत्। न। आत्मा नोत्पद्यते। कुतः। अश्रुतेः। न ह्यात्मन उत्पत्तिः श्रूयते। देवदत्तो जातो विष्णुमित्रो जात इति देहोत्पत्तिरेव, नतु तद्व्यतिरेकेण पृथग् जीवोत्पत्तिः श्रूयते। विस्फुलिङ्ग-वदुच्चरणं नोत्पत्तिः, नामरूप-सम्बन्धाभावात्।··· नित्यत्वाच्च ताभ्यः श्रुतिभ्यः। 'अयमात्माऽजरोऽमरः' (बृ० ४.४.२५), 'न जायते म्रियते' (क० १.२.१८) इत्येवमादिभ्यः।" (अ० २.३.१७)।

२. अनुज्ञापरिहारौ=विधि-निषेधौ जीवस्य देह-सम्बन्धाद् यो देहो यदा गृहीतस्त-त्कृतौ। यथा शवाग्निश्चाण्डालभाण्डस्थमुदकं तद्घटादिश्च परिहियते एवमुत्कृष्टं परिगृह्यते तथा जीवेऽपि देह-सम्बन्ध-कृतः। सम्बन्धश्चाध्यासिको भगवत्कृतश्च।

आध्यासिक सम्बन्ध भगवान्‌की शक्ति अविद्याके कारण होता है। फलतः जीवको स्वरूपाज्ञान, अन्तःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास तथा देहाध्यास हो जाता है। इसीको बन्ध या संसार भी कहते हैं। यह वास्तविक नहीं, काल्पनिक होता है। अतएव वस्तुतः जीव संसारी होता नहीं केवल कहा जाता है[1]। इस तरह आत्माका व्यक्त नाम-रूपके साथ सम्बन्ध औपाधिक होने पर भी स्वाभाविक नहीं है, अतः आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती, वह नित्य है। उसका केवल अंशात्मना व्युच्चरण होता है और इस अर्थमें ब्रह्मका कार्य होनेपर भी रूपान्तरकी अस्वीकृतिके कारण वह पारिभाषिक अर्थमें नित्य एवं अनादि भी है। आनन्दांशके तिरोधानके बाद बची हुई उसकी निराकारता या सच्चिदंशता स्वाभाविक है, आगन्तुक नहीं।

नैयायिकोंके मतमें ज्ञान आत्मामें समवेत स्वाश्रय-भिन्न गुण है। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप नहीं किन्तु ज्ञानाश्रय है। साङ्ख्योंके मतमें पुरुष या आत्मा ज्ञान-स्वरूप ही है। किन्तु शुद्धाद्वैत-वेदान्तके अनुसार आत्मा ज्ञानरूप गुणका आश्रय भी है तथा स्वयं भी ज्ञानरूप है। ज्ञान आत्माका स्वरूप भी है तथा धर्म भी। उसी प्रकार जैसे प्रकाश और तदाश्रय दोनों ही स्व-पर-प्रकाशन-स्वभाव वाले होते हैं तथा दोनोंमें तादात्म्य-सम्बन्ध होता है अर्थात् परस्परात्मक होते हुए भी दोनोंमें आश्रयाश्रयि-भाव या धर्म-धर्मि-भाव रहता है[2]।

आध्यासिको हि ज्ञानान्निवर्तते। द्वितीयो भगवतैव। जीवन्मुक्तानामपि व्यवहार-दर्शनात्। श्रुतिस्तु भगवत्कृत-सम्बन्धमेवाश्रित्याग्निहोत्रादिकं विधत्ते। (अ० २.३.४८)।

१. अस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया, जीवस्य संसार उच्यते, न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्, असत्त्वेनास्य गणनात्। अज्ञानं, भ्रमः, असद् इत्यादि-शब्दा अहं-ममेति-रूपे संसार एव प्रवर्तन्ते, नतु प्रपञ्चे इत्यर्थः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्। (तत्त्वा० प्र० १.२३)।

अविद्यायाः पञ्च पर्वाणि आह,
'स्वरूपाज्ञानमेकं हि पर्व देहेन्द्रियासवः।
अन्तःकरणमेषां हि चतुर्द्धाऽध्यास उच्यते। (तत्त्वा० १.३२)।
पञ्चपर्वा त्वविद्येयं यद्बद्धो याति संसृतिम्।' (तत्त्वा० १.३३)।
अन्तःकरणाध्यासः प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यासो देहाध्यासः स्वरूप-विस्मरणं चेति पञ्च पर्वाणि। यस्यां सम्पूर्णायां जातायामन्यधर्मैर्बद्धो जन्ममरणे प्राप्नोतीत्यर्थः।
(तत्त्वा० प्र० १.३२–३३)।

२. जीवो ज्ञानस्वरूपो ज्ञानधर्मा च विज्ञानमयः, 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २.५.१) इत्यादि-स्वरूप-बोधक-श्रुतिभ्यः। 'न पश्यो मृत्युं पश्यति' (छा० ७.२६.२), 'द्रष्टा, श्रोता, मन्ता' (छा० ७.९.१) इत्यादिज्ञान-धर्मत्व-बोधक-श्रुतिभ्यश्चेत्युक्तम्।
(वेदान्ताधिकरणमाला २.३.११)।

यही ज्ञान आत्माका प्रधान गुण है[1]। इससे यह भी ध्वनित होता है कि सत् एवं आनन्द, सत्ता तथा सुख के रूपमें जीवमें उसके धर्म बनकर अप्रधानतया विद्यमान हैं।

* ५.१.५ * 'तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांश-चेतनाः' (तत्त्वा० १.२७) कहकर श्रीवल्लभाचार्यने जीवोंके स्वरूपको श्लोकार्द्धमें ही संक्षेपमें निरूपित कर दिया है। जीवोंके विस्फुलिङ्गवत् व्युच्चरणमें ब्रह्मकी इच्छामात्र कारण है, उसके लिए अदृष्टादिरूप किसी अन्य सहकारी-कारणकी अपेक्षा नहीं होती। वे तत्त्वदृष्या या स्वरूपकी दृष्टिसे ब्रह्मसे भिन्न नहीं[2] प्रत्युत ब्रह्मभूत अर्थात् ब्रह्मात्मक एवं ब्रह्मोपादानक हैं, न कि योगबल आदिसे आविर्भूत। वे ब्रह्मके अंग अर्थात् साकार और सूक्ष्मपरिच्छेद या अणुपरिमाण तथा चेतन अर्थात् चित्प्रधान हैं। तात्पर्य यह है कि जीवोंका प्रधान स्वरूप और धर्म चैतन्य ही है[3]।

* ५.१.६ * 'श्रुतिवादिनां श्रुत्यैव निर्णयः' (अ० २.३.१) की परम्पराका अनुगमन करते हुए गो० श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं कि ब्रह्म एवं जीव का स्वरूप वेदैक-समधिगम्य है और श्रुतिके अर्थ एवं प्रतिपाद्य तत्त्व के लोकविलक्षण होनेके कारण उसके निर्णयमें लौकिक रीतिका आश्रय लेना उचित नहीं है। प्रत्युत उसके अर्थका निर्णय स्वयमेव वेदोंका व्यास (अर्थात् चतुर्धा विभाजन) करके वेदार्थकी 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' (ब्र० १.१.१) इत्यादि प्रतिज्ञापूर्वक मीमांसा करने वाले वेदव्यासके ब्रह्मसूत्रके नामसे प्रसिद्ध सूत्रोंके द्वारा करना चाहिए, क्योंकि भगवान् वेदव्यास वेदोंके अर्थके अभिज्ञ हैं। और उन वेदव्यासने अपने ब्रह्मसूत्रोंमें जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्धके विचारके समय यही निर्णय किया है कि जीव ब्रह्मका अंश ही है और उसे ब्रह्मका प्रतिबिम्ब, आभास या मिथ्या मानना श्रुति-स्मृति-विरुद्ध है।

* ५.२.० * उपर्युक्त प्रकारसे विद्वन्मण्डनकारने सर्वप्रथम जीवको प्रति-बिम्बरूप माननेके मायावादियोंके मतका विस्तारसे खण्डन किया है। इस विषयमें उन्होंने श्रीवल्लभाचार्य द्वारा दी गयी युक्तियोंका पूरा उपयोग किया है। हम यहाँ उनके द्वारा किये गये प्रतिबिम्बवादके खण्डनको प्रस्तुत करते हुए यह भी बतानेका प्रयत्न

---

१. चित्प्रधाना इति। चिदेव प्रधानं स्वरूपं धर्मश्च येषां तादृशा इत्यर्थः। एतेन जीवेषु सदानन्दयोरप्राधान्येन धर्मरूपतया सत्ताऽपि बोधिता। एवमन्ययोरपि ज्ञेयम्। (तत्त्वा० प्र० आ० १.२७)।

२. भेदस्तु जीवेऽपि नास्ति। (तत्त्वा० प्र० १.२९)। द्र०, तत्त्वा० शा०, पृ० २९.

३. तस्माद् एव। ब्रह्मभूताः, न तु योगबलेनाविर्भूताः। अंशाः, साकाराः सूक्ष्म-परिच्छेदाः। चेतनाः, चित्प्रधानाः। (तत्त्वा० प्र० १.२७-२८)।

करेंगे कि वे अपनी युक्तियोंके लिए श्रीवल्लभाचार्यके किन तर्कोंके अधमर्ण हैं। अपने इस कथनकी पुष्टिकी दृष्टिसे यहाँ हम दोनों प्रकारके मूल वाक्योंको पादटिप्पणीमें विस्तारसे उद्धृत करेंगे।

* ५.२.१ * जीवको ब्रह्मका प्रतिबिम्ब माननेके मायावादियोंके मतकी अयुक्तताका प्रतिपादन करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि निर्विशेष-ब्रह्मवादी ब्रह्मको नीरूप मानते हैं। अतः ब्रह्मरूप बिम्बके नीरूप होने एवं प्रतिबिम्बके आश्रयभूत अज्ञानके अस्वच्छ होने के कारण प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है, क्योंकि रूपवान् बिम्बका स्वच्छ आश्रयमें प्रतिबिम्ब होता है ऐसा ही नियमतः देखा जाता है और दृष्टानुसारिणी कल्पना करना ही उचित है अन्यथा वायुके बिम्बत्व एवं काष्ठके प्रतिबिम्बाश्रयत्व का अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा।[1] पूर्वपक्षीका यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है कि 'दर्पण आदिमें नीरूप आकाशका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, अतः रूपवान्का ही प्रतिबिम्ब होता है यह नियम मानना आवश्यक नहीं है', क्योंकि दर्पणमें जो प्रतिबिम्बित होता है वह नीरूप आकाश नहीं प्रत्युत आकाशगत प्रभामण्डल होता है और वह तो रूपवान् होता ही है[2]।

* ५.२.२ * श्रीवल्लभाचार्यने प्रतिबिम्बवादमें दोषोद्भावना करते हुए उसके विरुद्ध एक युक्ति यह दी है कि 'जो जहाँ विद्यमान होता है वह वहाँ किसी भी दशामें प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता।···जैसे किसी दर्पण पर लिखित या खचित रेखा उसी दर्पणमें प्रतिबिम्बित नहीं होती। ब्रह्म व्यापक होनेके कारण सर्वत्र—जहाँ उसके प्रतिबिम्बित होनेकी बात कही जाती है वहाँ भी—विद्यमान है और इसीलिए जहाँ वह विद्यमान है वहाँ प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता[3]।' इस युक्तिका उपन्यास करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि 'जो पदार्थ जहाँ होता है वहाँ प्रतिबिम्बित नहीं होता। उदाहरणार्थ दर्पणगत रेखा दर्पणमें प्रतिबिम्बित नहीं होती। अतएव सर्वगत ब्रह्म—

---

१. न तावद् ब्रह्म-प्रतिबिम्बो जीवः इति पक्षो युक्तिसहः। ब्रह्मणो नीरूपत्वेन प्रतिबिम्बाश्रयस्य अज्ञानस्य च अस्वच्छत्वेन क्व कस्य प्रतिबिम्बः स्यात् ? रूपवत एव प्रतिबिम्ब-नियमात्। दृष्टानुसारिणी हि कल्पना उचिता, अन्यथा वायु-दारुणोः अपि बिम्बत्व-प्रतिबिम्बाश्रयत्व-प्रसङ्गात्। (विद्व०, पृ० ४९)।

२. ननु दर्पणादौ आकाश-प्रतिबिम्बो दृश्यते। न। तावद्देशीय-प्रभामण्डलस्य एव रूपवत्त्वेन प्रतीतेः। (वही, पृ० ४९–५०)।
नु०, वस्तुतस्तु प्रभामण्डलस्यैव रूपवतः प्रतिबिम्बः। (तत्त्वा० प्र० १.५८)।

३. दूषणान्तरमाह, 'तत्र वृतेः' इति। यो यत्र वर्तते स तत्र न प्रतिबिम्बते।···सर्वथा दर्पणरेखावत् तत्र विद्यमानं न प्रतिबिम्बते। (तत्त्वा० प्र० १.५८)।

जो सर्वगत होनेके कारण सर्वगत अविद्यामें भी विद्यमान है—अविद्यामें प्रतिबिम्बित कैसे हो सकता है ?' इस सम्बन्धमें पूर्वपक्षीका यह स्पष्टीकरण भी इस समस्याके समाधानमें सहायक न होगा कि दर्पणगत रेखा दर्पणसे संयोग-सम्बन्धसे सम्बद्ध है अतः दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, किन्तु ब्रह्म एवं अविद्या के सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये दोनों विभु हैं। उपर्युक्त स्पष्टीकरण द्वारा प्रतिबिम्ब न पड़नेमें संयोग-सम्बन्धसे आश्रयमें वर्तमान होनेको प्रयोजक मानना इसलिए युक्ति-सङ्गत नहीं है कि दर्पणसे संयोग-सम्बन्धसे सम्बद्ध होते हुए भी प्रभामण्डल उसमें प्रतिबिम्बित होता ही है[1]।

* ५.२.३ * श्रीवल्लभाचार्यने प्रतिबिम्बवादको श्रुतिविरोधी होनेके कारण अस्वीकार्य बताते हुए एक तर्क यह दिया है कि जीवको प्रतिबिम्बरूप माननेका मत मुण्डकोपनिषद्के,

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥' (मु० ३.१.१)

इस वाक्यके प्रतिपाद्य अर्थके विरुद्ध होनेसे अस्वीकार्य है। इस श्रुतिवाक्यका सीधा-सादा अर्थ यही है कि साथ-साथ रहने वाले दो पक्षी (जीव और ईश्वर) एक ही (संसार रूप) वृक्ष पर बैठे हैं, उनमेंसे एक (जीव) उस पिप्पल-वृक्षके (कर्मफलरूप) सुस्वादु फलोंका आस्वादन करता है और दूसरा (ईश्वर) फलोंका भोग न करता हुआ द्रष्टामात्र होकर स्थित है। अवधेय है कि यहाँ जीवको भोक्ता और ब्रह्म या ईश्वर को केवल साक्षी और द्रष्टामात्र बताया गया है। यदि जीवको ब्रह्मका प्रतिबिम्ब स्वीकार कर लिया जाये तो जीवको भी साक्षी और द्रष्टामात्र मानना पड़ेगा और भोक्ता न माना जा सकेगा, क्योंकि बिम्बमें न होने वाला भोक्तृत्व प्रतिबिम्बमें नहीं आ सकता। इसी बातको युक्तिका स्वरूप देते हुए श्रीवल्लभाचार्य लिखते हैं कि उपर्युक्त श्रुतिका 'उन दोनों पक्षियोंमेंसे एक (अर्थात् जीव) सुस्वादु पिप्पल—पीपल-वृक्षके फलों—का आस्वादन (अर्थात् कर्म-फल-भोग) करता है' इत्यादि वचन प्रतिबिम्बवादका विरोधी एवं बाधक है, क्योंकि प्रतिबिम्बकी क्रियाके नियमतः बिम्बके ही अधीन होनेके कारण प्रतिबिम्बरूप जीवमें भोक्तृत्वरूप क्रियाका होना और बिम्बरूप द्रष्टामात्र, अभोक्ता ब्रह्म या ईश्वर का तूष्णीम्भाव अर्थात् क्रिया-विरहित होना तर्क-विरुद्ध है। और प्रतिबिम्ब

---

१. यत्र यदस्ति तत्र तन्न प्रतिबिम्बते, दर्पणरेखावत्। तथा च सर्वगतस्य ब्रह्मणः अविद्यायामपि सर्वगतायां सत्त्वेन, कथं प्रतिबिम्बः स्यात् ? न च, 'संयोग-सम्बन्धेन तत्र वर्तमानत्वमप्रतिबिम्बे प्रयोजकम्; एतयोश्च न संयोगो, विभुत्वाद्; अतो नानुपपत्तिः इति' वाच्यम, संयुक्तस्यापि प्रभामण्डलस्य तथा प्रतीतेः। (विद्व०, पृ० ५०–५१)।

एवं बिम्ब दोनोंकी स्थिति एक ही देशमें हो सकना भी सम्भव नहीं है, किन्तु इस श्रुतिवाक्यमें 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इत्यादि शब्दोंद्वारा जीव एवं ईश्वर रूप दोनों पक्षियोंके — परस्पर-विरुद्ध-धर्म-युक्त होते हुए भी — सामानाधिकरण्यका प्रतिपादन किया गया है। अतः जीवको ईश्वरका प्रतिबिम्ब माननेकी कल्पना श्रुतिविरुद्ध है[1]।

* ५.२.४ • 'दो पक्षी एक वृक्षके दो देशोंमें अर्थात् भिन्न-भिन्न शाखाओं पर बैठ सकते हैं, अतः श्रुतिके 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (दोनों एक ही वृक्ष पर बैठे हैं), इस कथनसे दोनोंका सामानाधिकरण्य या एकदेशावस्थान अभिप्रेत नहीं है', इस प्रकारके सन्देहको दूर करनेके लिए ब्रह्मसूत्रोंके प्रामाण्यसे निर्णय करते हुए श्रीवल्लभाचार्यने जीव और ब्रह्म की एकदेशावस्थितिका प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' (ब्र० १.२.११) इस सूत्रमें जीवात्मा और परमात्मा दोनोंके गुहा अर्थात् हृदयाकाशमें प्रविष्ट होनेका—अर्थात् एकदेशावस्थानरूप सामानाधिकरण्यका—प्रतिपादन किया गया है अतः जीवको प्रतिबिम्ब माननेसे व्याससूत्रोंका भी विरोध होता है[2]। श्रीवल्लभाचार्य द्वारा दिये गये इस तर्कको समाहृत कर प्रस्तुत करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (मु० ३.१.१), 'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे' (क० १.३.१) इत्यादि-श्रुति-वाक्यों तथा 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनाद्' (ब्र० १.२.११) इत्यादि ब्रह्मसूत्रों में निर्णीत रूपसे जीव एवं परमात्मा की एकत्र स्थितिका प्रतिपादन किया गया है। किन्तु ब्रह्म एवं जीव में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव माननेपर इस सिद्धान्तकी सङ्गति न हो सकेगी, क्योंकि लोकव्यवहारमें बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब की एकत्र स्थिति अनुभवमें नहीं आती है,[3] चन्द्र-बिम्ब आकाशमें रहता है और उसका प्रतिबिम्ब जलमें।

और भी। ब्रह्मको जीवके साथ हृदयाकाशमें प्रविष्ट होनेके लिए हृदयाकाश एवं जीव दोनोंका दर्शन होना चाहिए। किन्तु मायावादीके मतके अनुसार गुहा जीवके अज्ञानसे कल्पित है तथा जीव भी मिथ्या है, और अज्ञान-कल्पित एवं मिथ्या पदार्थकी

---

१. '''द्वा सुपर्णा श्रुतेरपि विरुद्धयते। गुहां प्रविष्टावित्युक्तेः॥' (तत्त्वा० १.१८)। दूषणान्तरमाह, द्वा सुपर्णा श्रुतेः।' इति। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' (मु० ३.१.१) इतिवाक्यात्। प्रतिबिम्बस्य क्रिया बिम्बस्य च तूष्णीम्भावो विरुद्धयते, प्रतिबिम्ब-क्रियायाः बिम्बाधीनत्वात्। एकत्रास्थितेश्च। श्रुत्या च तथा बोध्यते इति प्रतिबिम्ब-कल्पना श्रुति-विरुद्धा। (तत्त्वा० प्र० १.५८)।

२. न्यायविरोधमाह, 'गुहां प्रविष्टौ' इति। (वहीं)।

३. श्रुति-न्याय-निर्णीता जीव-परमात्मनोः एकत्र स्थितिः बिम्ब-प्रतिबिम्ब-पक्षे न सङ्गच्छते, तयोः लोके तथा अदर्शनात्। (विद्व०, पृ० ५३–५४)।

प्रतीति उसीको होती है जिसे अज्ञान-स्वरूपा अविद्याके कारण भ्रम हो रहा हो, ज्ञानीको नहीं। ब्रह्म सर्वज्ञ है अतः उसे इन अविद्या-कल्पित मिथ्या पदार्थोंका दर्शन न हो सकनेके कारण उसका सहप्रवेश अनुपपन्न है। इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद माननेसे 'गुहां प्रविष्टौ' (क० १.३.१) इत्यादि श्रुतिवाक्यका विरोध होता है। अतः वह श्रुतिप्रामाण्य-वादीको स्वीकार नहीं हो सकता[1]। विद्वन्मण्डनकारका कहना है कि लोकव्यवहारमें हमारा सार्वजनिक अनुभव है कि दर्पण एवं शुक्तिका आदिसे सम्बद्ध व्यक्तिको ही प्रतिबिम्ब, प्रातिभासिक रजत आदिका दर्शन होता है। किन्तु मायावादी परमात्मामें अविद्याका सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते अतः उनके मतमें परमात्माको जीवका द्रष्टा मानना उपपन्न नहीं है। वे इसे इष्टापत्ति भी नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म जीवका द्रष्टा नहीं है यह मान लेने पर, यह स्वीकार करनेका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा कि जीव ब्रह्मका नियमन नहीं करता, क्योंकि जीवको देखे विना जीवका नियमन उपपन्न नहीं है। इस प्रकार 'अदृष्टो द्रष्टा' (बृ० ३.७.२३), 'अदृष्टं द्रष्टृ' (बृ० ३.८.११) तथा 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' (श्वे० १.१०) इत्यादि उन श्रुतिवाक्योंका बाध प्रसक्त होगा जिनमें ब्रह्मको द्रष्टा एवं नियमन-कर्ता कहा गया है[2]। यदि इन्हीं श्रुतियोंके अनुरोधसे मायावादी ब्रह्मको हृदयाकाश एवं जीव आदिका द्रष्टा सिद्ध करना चाहेंगे तो पूर्वोक्त न्यायसे ब्रह्मको भी अविद्यासे सम्बद्ध और जीवके ही समान अज्ञ एवं भ्रान्त मानना पड़ेगा[3]।

• ५.२.५ • 'नित्यो नित्यानाम्' (क० २.५.१३, श्वे० ६.१३) इत्यादि श्रुतिवाक्यों एवं 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' (गीता २.२४) इत्यादि स्मृतिवाक्यों में जीवको नित्य कहा गया है। इन वाक्योंका बाध किये विना जीवको प्रतिबिम्बरूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रतिबिम्ब मायिक-ज्ञान-स्वरूप, मिथ्या और इसीलिए अनित्य पदार्थ है। मायावादीके मतमें जीवको अविद्यागत प्रतिबिम्बरूप माना जाता है किन्तु जीवके स्वरूपकी यह परिकल्पना उसके नित्यत्वकी विरोधिनी है। जिस प्रकार जल आदि आश्रयके नष्ट हो जाने पर तद्गत सूर्य, चन्द्र आदिके प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार मोक्षावस्थामें अपरोक्षानुभूतिसे अविद्याके नष्ट हो जानेपर तद्गत-

---

१. एवं 'गुहां प्रविष्टौ' (क० १.३.१) इति श्रुत्यर्थ-बाधः। जीवाज्ञानकल्पितत्वाद् गुहायाः परमात्मनः तददर्शित्वेन सह-प्रवेशानुपपत्तिः। (विद्व०, पृ० ६३)।

२. लोके हि द्रष्टुरेव दर्पणादि-दोष-सम्बन्धात् प्रतिबिम्बदर्शनं दृश्यते। तथा च परमात्मनि अविद्या-सम्बन्धानङ्गीकारात् जीवद्रष्टृत्वं तस्य न स्यात्। तथा सति श्रुतिः द्रष्टृत्व-नियामकत्व-बोधिका बाधित-विषया स्यात्। (वही, पृ० ६१–६२)।

३. एतदनुरोधेन द्रष्टृत्वाङ्गीकारे पूर्वोक्तन्यायेन अविद्या-सम्बन्धित्वे जीव-तुल्यतापत्तिः इति। (वही, पृ० ६२–६३)।

प्रतिबिम्बरूप जीवका भी नाश हो जायेगा। ऐसी दशामें उसे नित्य कैसे माना जा सकेगा ? और उसे नित्य न माननेपर पुरुषार्थकी पारम्परिक कल्पना भी प्रभावित होगी।

सम्भवत: इन्हीं कठिनाइयोंको दृष्टिगत रख कर श्रीवल्लभाचार्यने अपने तत्त्वार्थ-दीपनिबन्धमें जीवको ब्रह्मका प्रतिबिम्ब माननेके मायावादीके मतके निरासके लिए 'जीवहानिस्तदा मुक्तिः' (तत्त्वा० १.५९) कह कर यह युक्ति पुरस्कृत की थी कि जीवको प्रतिबिम्ब-स्वरूप मान लेनेपर मुक्तिको जीवनाश-रूप माननेका अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा। उनके अनुसार जीवको प्रतिबिम्ब-रूप मानने पर उसके नाशको ही मुक्ति मानना होगा और तब या तो (आत्मनाशके पुरुषार्थ न हो सकनेके कारण) मोक्षके पुरुषार्थ न माने जा सकनेका अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा या मोक्षको कल्पनामात्र स्वीकार कर असुर-ब्रह्म-विद्यामें उपपादित मोक्षके अलीक होनेके मतको अङ्गीकार करना होगा[1]। इसी युक्तिका उपयोग करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि मायावादीके मतमें अविद्यामें पड़ने वाला ब्रह्मका प्रतिबिम्ब ही जीव है। प्रतिबिम्ब मायिक-ज्ञान-स्वरूप मिथ्या वस्तु है। ब्रह्मका यह प्रतिबिम्ब अविद्यारूप आश्रयमें पड़ता है। अत: जिस प्रकार दर्पण, जल आदि आधारोंके नष्ट हो जानेपर तद्गत सूर्य, चन्द्र आदिके प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार अपने आधारके मोक्षकी स्थितिमें अपरोक्ष-ज्ञानसे अविद्याका नाश हो जानेपर तद्गत ब्रह्म-प्रतिबिम्ब अर्थात् जीव का भी नाश हो जायेगा और मोक्षका स्वरूप जीव-स्वरूप-नाश मानना होगा। कोई भी व्यक्ति स्वयं अपना नाश नहीं करना चाहता अत: आत्मनाशको पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थितिमें यदि मोक्षमें जीवके स्वरूपका नाश हो जाता हो तो मोक्षको कोई पुरुषार्थ नहीं मान सकता और ऐसे मोक्षको प्राप्त करनेमें किसीकी प्रवृत्ति न होगी। साथ ही इस मतमें एक दोष यह भी है कि इसे माननेपर जीवको अलीक या मिथ्या मानना पड़ेगा[2]।

* ५.२.६ * ग्रन्थकारके अनुसार मायावादियोंको अभिमत पूर्वोक्त प्रतिबिम्बवाद स्वीकार करनेपर कोई भी व्यक्ति पारलौकिक प्रयत्न नहीं करेगा क्योंकि मुमुक्षु व्यक्ति पुरुषार्थ-रूप मोक्षके स्वरूपको जानकर तथा अपने बद्ध स्वरूपको समझकर बन्धनमुक्ति-पूर्वक-पुरुषार्थ-प्राप्तिके लिए प्रयत्न करते हैं। किन्तु जब उन्हें यह ज्ञान दिया जायेगा कि जीव मिथ्या है और उसका नाश ही पुरुषार्थ है तथा इसकी प्राप्तिके साधन भी

---

१. प्रतिबिम्बपक्षे जीवहानिः मुक्तिः स्यात्। आत्महानमपुरुषार्थ इति मोक्षस्य अपुरुषार्थत्वमापद्येत, अलीकता वा असुर-ब्रह्म-विद्यायां स्थापिता। (तत्त्वा० प्र० १.५९)।

२. अविद्यायां ब्रह्म-प्रतिबिम्बो जीव इति मोक्षश्च अविद्यानाश इति वदतः तव मते जीवस्वरूपनाश एव मोक्ष इति सम्पद्यते। तथा च आत्महानमपुरुषार्थ इति मोक्षस्य अपुरुषार्थत्वमापद्येत। जीवस्य अलीकत्वमपि स्यात्। (विद्व०, पृ० ५४–५५)।

मिथ्या हैं तो उनकी उन मोक्षसाधनोंमें प्रवृत्ति ही न होगी। भला ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो आत्मनाश-स्वरूप भावी मोक्षकी आशासे, उपलब्ध सांसारिक सुखोंका परित्याग कर, शरीर एवं मन को कष्ट पहुँचाने वाले साधनोंमें प्रवृत्त होगा ? जिसे यह ज्ञात हो जायेगा कि ऐहिक एवं पारलौकिक सारी प्रवृत्ति अविद्याजन्य अध्यासकृत है वह आत्मनाशरूप मोक्षकी कारणभूत पारलौकिकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा ऐहिकी प्रवृत्तिको ही वरणीय समझेगा और इस प्रकार मोक्ष-साधनोंमें किसीकी भी प्रवृत्ति न होनेसे निवृत्ति-मार्गका ही उच्छेद हो जायेगा। निषिद्ध एवं विहित दोनों प्रकारके कर्मोंको समान रूपसे मिथ्या समझने वाला न तो किसी निषिद्ध कर्मसे निवृत्त होगा और न किसी विहित कर्ममें प्रवृत्त ही होना चाहेगा। इससे तो सन्मार्गका ही उच्छेद हो जायेगा। केवल व्यवहारमें वेदकी प्रामाणिकताको स्वीकार कर सर्व-सन्मार्ग-नाशक इस प्रकारके मतके प्रतिपादक मायावादी निश्चय ही प्रच्छन्न बौद्ध हैं। और वेदको भी स्वाज्ञान-कल्पित बताना तो उनकी धृष्टताकी पराकाष्ठा है[1]।

मायावादियोंका यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है कि 'नामरूपात्मक समस्त प्रपञ्चके ही मिथ्या होने तथा नाम-प्रपञ्च-रूप वेदके तन्मध्यपाती होने के कारण ही वे वेदको अज्ञानकल्पित कह रहे हैं।' वेदको अज्ञान-कल्पित समझनेवाला व्यक्ति, वेदोक्त स्वर्गापवर्गादि फलोंके अति-प्रयत्न-साध्य यज्ञ एवं संन्यास आदि साधनोंमें, सारे सुखोंसे पराङ्मुख होकर एवं बन्धु-बान्धवोंका परित्याग कर क्यों प्रवृत्त होगा ? जलमे प्रतिबिम्बित हो रहे आम्रवृक्षोंके फलोंकी प्रतिबिम्बरूपता जाननेवाले किसी बुद्धिमान्को क्या कभी किसीने उस प्रतिबिम्बरूप आम्रफलको ग्रहण करनेके लिए जलमें हाथ डालते या जलकी ओर हाथ बढ़ाते देखा है[2] ?

---

१. 'तथा सति कोऽपि पारलौकिक-प्रयत्नं न कुयात्। तथा हि। मुमुक्षुहि मोक्षस्वरूपं बद्धत्वेन स्वस्वरूपञ्च ज्ञात्वा तत्साधने यतिष्यते। तथा च उक्तोभयस्वरूपज्ञाने सर्वं मिथ्या इति ज्ञात्वा, प्रवृत्तिश्च अविद्याध्यासकृतैव ऐहिकी पारलौकिकी अपि इति ज्ञात्वा च, वरम् ऐहिकी एव न तु पारलौकिकी, स्वरूपहानिहेतुत्वाद् इति सर्वाप्रवृत्तौ निवृत्तिमार्ग एव उच्छिद्येत। तूष्णीं वा तिष्ठेत् सर्वोऽपि। निषिद्ध-विहितयोश्चा-विशेषात् कुतोऽपि न निवर्तेत एव इति सन्मार्गमात्रोच्छेदनाय ईदृशं मतं प्रवर्तयन्, व्यवहारमात्रे वेदमपि प्रमाणत्वेन उररीकुर्वन् प्रच्छन्नबौद्धोऽसि। वेदमपि स्वाज्ञान-कल्पितं ब्रुवन् अतिधृष्टोऽसि।' (विद्व०, पृ० ५५–५६)।

२. ननु अखिल-प्रपञ्चस्य एव तथात्वात् तन्मध्यपातित्वेन वेदेऽपि तथात्वं ब्रवीमि; बाढं ब्रवीषि, निरङ्कुशत्वात् ते तुण्डस्य; न तु युक्तियुक्तं ब्रवीषि। तथा हि, न हि प्रतिबिम्बिताम्रतरु-कदम्ब-फलादानाय प्रसारित-बाहुः प्रतिबिम्बितत्वं जानन् दृष्टचरः

* ५.२.७ * इस प्रकार विद्वन्मण्डनकारके अनुसार जो व्यक्ति मायावादी द्वारा प्रतिपादित प्रकारसे श्रुति एवं उसमें प्रतिपादित साधनोंको अज्ञानकल्पित मान लेगा वह असत् तुल्य गुरु एवं उनके असत् तुल्य वाक्यों से परमार्थसत् ब्रह्मरूप फल 'कैसे मिल सकता है' इस शङ्कासे अथवा 'नहीं मिल सकता है' इस निश्चयके कारण उन साधनोंमें प्रवृत्त ही न होगा[1]।

विद्वन्मण्डनकारके अनुसार पूर्वपक्षीका यह कथन भी तर्कसङ्गत नहीं है कि 'जिस प्रकार स्वप्नमें स्वाप्निक फलके (मिथ्या होते हुए भी उसके) लिए प्रवृत्ति देखी जाती है उसी प्रकार अविद्याकल्पित मिथ्याज्ञान एवं उससे प्राप्य आविद्यक फलों में भी प्रवृत्ति उपपन्न है, क्योंकि स्वप्नमें स्वाप्निक फलोंकी प्राप्तिमें प्रवृत्ति उसी स्वप्न-द्रष्टाकी होती है जो उन स्वाप्निक फलोंको सत्य समझता है, न कि स्वप्नमें ही 'मैं स्वप्न देख रहा हूँ और ये फल स्वप्नमें ही देख रहा हूँ, ये मिथ्या हैं, पारमार्थिक नहीं' इस प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न स्वप्नद्रष्टाकी[2]।

पूर्वपक्षीका कहना है कि श्रुति जीवको प्रतिबिम्ब-रूप एवं जगत्को अविद्या-कल्पित भी कहती है और स्वर्गादिके साधनभूत यज्ञादिमें प्रवृत्त होनेको भी कहती है। ये दोनों ही कथन समानरूपसे श्रोत हैं, अतः यदि श्रुतिवाक्य व्यक्तिको जीव एवं जगत् के स्वरूपका बोध करा सकते हैं तो उसकी उनके साधनोंमें प्रवृत्ति भी करा सकते हैं। वस्तुतः जब जीव स्वर्गादिके साधनोंमें प्रवृत्त होता है उस समय उसे जगत्के मिथ्यात्वका बोध नहीं होता है। इस ज्ञानका उदय तो कर्मोपासनादि द्वारा चित्तशुद्धि सम्पादित हो जानेके बाद होता है। अतः इस परवर्ती ज्ञानको प्राक्कालिक प्रवृत्तिमें बाधक नहीं माना जा सकता। 'यज्ञ एवं ब्रह्मज्ञान क्रमशः स्वर्ग एवं मुक्ति के साधन हैं' इस पूर्ववर्ती ज्ञानका, 'वेद, वैदिक व्यवहार एवं वेदोक्त यागादिके फल मिथ्या हैं' इस परवर्ती ज्ञानसे

कश्चित्। एवं वेदे तथात्व जानन् तदुक्तस्वर्गापवर्गादि-फलक-याग-संन्यासादिषु बह्वायास-साध्येषु सर्व-बन्धु-परित्यागेन सर्वसुख-वैमुख्येन च को वा प्रवर्तेत ?
(विद्व०, पृ० ५६-५७)।

१. त्वदुक्तरीत्या च श्रुतेः तदुक्त-साधनानाञ्च अज्ञान-कल्पितत्वं श्रुत्वा स्वाप्निकभोजनेन परमार्थतः तृप्तिवत् असत्तुल्यैः गुरुतद्वाक्यैः कथं परमार्थसद्रूपं ब्रह्म फलिष्यति इति शङ्कया अवधारणेन वा न कश्चित् प्रवर्तेत। (विद्व०, पृ० ५९-६०)। तु०, ऊपर पृष्ठ १७६ टि० ६.

२. ननु स्वप्ने स्वाप्निक-फलार्थं प्रवृत्तिः दृष्टचरी। सत्यं दृष्टचरी। तदा तत् 'सत्यमेव' इतिविदुषो, न तु 'स्वप्नमिमं पश्यामि, न पारमार्थिकम्' इति स्वप्न एव विदुषः इति गृहाण। (विद्व०, पृ० ५७)।

बाध माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। यदि यह भी मान लिया जाये कि साधनोंमें प्रवृत्तिके समय भी यह ज्ञान रहता है कि ये मिथ्या हैं तो भी यह केवल शाब्द अर्थात् परोक्ष ज्ञान होता है, जब कि उस समय उन साधनों एवं जगत् का जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षात्मक होता है। इस प्रकार ये दोनों ज्ञान विजातीय हैं, और बाध्य-बाधक-भाव परस्पर सजातीय ज्ञानोंमें ही होता है, विजातीयोंमें नहीं। अतः जब तक इस भ्रान्ति-परिकल्पित जगत्के अधिष्ठानरूप ब्रह्मका प्रत्यक्ष नहीं होगा तब तक जगन्मिथ्यात्व-के प्रतिपादक किसी भी श्रुतिवाक्य (अर्थात् परोक्षज्ञान) से जगत् एवं तदन्तःपाती साधनों के प्रत्यायक प्रत्यक्ष-ज्ञानका बाध नहीं हो सकता। और प्रवृत्तिके प्रतिरोधका इस बाधके अतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं है, इसलिए प्रवृत्ति न होनेकी सिद्धान्तीकी आशङ्का निर्मूल है[1]।

इस विषयमें सिद्धान्तीका कथन है कि 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयः ज्ञेयश्च' इत्यादि विधिवाक्योंके अनुसार उपनयनानन्तर अर्थावबोधपूर्वक साङ्ग वेदका अध्ययन करनेवालेको मायावादियोंके अनुसार श्रुतिमें प्रतिपादित स्वर्गसाधनोंके मिथ्या होनेका ज्ञान उन साधनोंमें प्रवृत्तिके समय भी रहेगा ही। यदि इस ज्ञानसे साधनोंमें प्रवृत्त होनेके समय जगद्-भ्रमका बाध न भी हो तो भी प्रवृत्तिका बाध तो हो ही जायेगा, क्योंकि प्रवृत्ति-प्रतिरोधका कारण केवल जगत्के-भ्रमका बाध ही नहीं अपि तु साधनों एवं फलों के मिथ्या होनेका ज्ञान भी है। इस प्रकार, प्रपञ्च एवं तदन्तःपाती वेदोक्त साधनों के मिथ्या होनेका शाब्दज्ञान हो जानेके बाद भी प्रपञ्चकी प्रतीति अवश्य होती रह सकती है किन्तु उन साधनोंमें प्रवृत्ति हो सकना उसी प्रकार सम्भव नहीं है जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित आम्रफलोंके प्रतिबिम्बमात्र होनेके कारण असत् होनेका अनुमित्यात्मक ज्ञान हो जानेके बाद भी उनकी चाक्षुष-प्रतीति तो होती रहती है किन्तु उनके मिथ्या होनेके ज्ञानके कारण उस ज्ञानसे सम्पन्न व्यक्तिकी उन्हें प्राप्त करनेमें प्रवृत्ति नहीं होती। जलमें आम्रफलोंसे लदे वृक्षोंका प्रतिबिम्ब तो सभी देखते हैं किन्तु 'ये जल-प्रतिबिम्बित आम्रफल मिथ्या हैं' यह ज्ञान होनेके कारण उन्हें प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति किसीमें नहीं देखी जाती है[2]। सिद्धान्तीके अनुसार पूर्वपक्षीका यह कथन भी

---

१. ननु विशेषदर्शनस्य स्वजातीयस्यैव भ्रमस्य निवर्तकत्वात्, प्रकृते च प्रापञ्चिक-भ्रमस्यापरोक्षरूपत्वात् शाब्दं ज्ञानं न तन्निवर्तन-समर्थम् इति प्रवृत्तिरुपपद्यते इति चेत्। (वही, पृ० ५७)।

२. नैतत् सारम्। प्रतिबिम्बत्वेनानुमिताऽसत्त्वानामपि तरूणां चाक्षुष प्रतीतिवत्, शाब्दज्ञानानन्तरमपि प्रपञ्चप्रतीतिरास्तां नाम, न तु जातु प्रवृत्तिः। अन्यथा तत्फलार्थापि प्रवृत्तिः स्यात्। (वही, पृ० ५८)।

अनुभवानुमोदित नहीं है कि 'बाध्य-बाधक-भाव सदा सजातीयोंमें ही रहता है' क्योंकि अन्धकारमें स्थूण या स्तम्भ को मनुष्य समझ लेनेका जो भ्रमरूप चाक्षुष ज्ञान होता है उसका बाध उसके विजातीय स्पर्शात्मक ज्ञानसे या आप्तवाक्यसे होना सार्वजनिक अनुभवसे सिद्ध है। अतः पूर्वपक्षीका यह कथन कि 'परोक्ष शाब्द ज्ञानसे जगत्प्रत्यायक प्रत्यक्षका बाध न हो सकनेके कारण प्रवृत्ति उपपन्न है' स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार पूर्ववर्ती अनुच्छेदमें उन्होंने जो समाधान दिया है वह अकिञ्चित्कर है।

* ५.२.८ * सिद्धान्तीका कथन है कि यदि पूर्वपक्षीका यह मत कि 'बाध्य-बाधक-भाव सजातीय ज्ञानोंमें ही होता है' स्वीकार भी कर लिया जाये तो भी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होगी क्योंकि 'दर्शपौर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ स्वर्गके साधन हैं' इत्यादिरूप ज्ञान प्रत्यक्षजन्य नहीं प्रत्युत वेदैकसमधिगम्य शाब्द ज्ञान है और 'प्रपञ्चान्तःपाती होनेसे सारे स्वर्गके साधन मिथ्या हैं' यह ज्ञान भी शाब्दज्ञान ही है। इस प्रकार ये दोनों ज्ञान सजातीय हैं और इनमें बाध्य-बाधक-भाव हो सकता है। अतः पूर्वपक्षीका उपर्युक्त मत मानकर भी व्यक्तिकी स्वर्गादिके साधनभूत यज्ञादिमें प्रवृत्तिको उपपन्न नहीं सिद्ध किया जा सकता। और यदि कथञ्चित् प्रवृत्ति सम्भव भी हो जाये तो भी मिथ्या साधनोंसे वास्तविक फलकी प्राप्ति तो असम्भव ही होगी। इन साधनोंसे प्राप्य स्वर्गादि फलोंको नश्वर होनेके कारण भले ही मिथ्या कह दिया जाये किन्तु मोक्षको मिथ्या कह सकना कथमपि सम्भव नहीं है, और मिथ्या साधनोंसे ऐसे मोक्षका लाभ तो सुतराम् असम्भव है।

* ५.२.९ * जीवको प्रतिबिम्बरूप माननेपर जीवन्मुक्ति स्वीकार करनेके मायावादीके स्वयं अपने ही मतसे विरोध होगा। इसे स्पष्ट करते हुए श्रीवल्लभाचार्यने लिखा है कि 'जीवको ब्रह्मका प्रतिबिम्ब मानने वाले मायावादीको यह बताना चाहिए कि ब्रह्मका प्रतिबिम्ब कहां पड़ता है अर्थात् प्रतिबिम्बका आधार या आश्रय क्या है। ब्रह्म कहां प्रतिबिम्बित होता है, अन्तःकरणमें अथवा अविद्यामें? अन्तःकरण और अविद्या दोनोंके अशुद्ध होनेके कारण उनमेंसे किसीमें भी ब्रह्म प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार अशुद्ध अधिकरणमें प्रतिबिम्बित होनेको भी उपपन्न मान लिया जाये तो भी उपर्युक्त दोनों विकल्प दोषपूर्ण ही सिद्ध होते हैं। लिङ्गपक्षमें अर्थात् ब्रह्मका प्रतिबिम्ब अन्तःकरणमें पड़ता है यह मानने वाले मतमें, उपाधिके विद्यमान होनेकी स्थितिमें, उपाधिके वर्तमान होनेके कारण मोक्ष नहीं अपितु संसार अर्थात् बन्धन की स्थिति ही माननी होगी, और उपाधिके अभाव अर्थात् अविद्यमान होने की स्थितिमें परममुक्ति हो जायेगी। इस प्रकार या तो बन्धनकी स्थिति होगी या परममुक्तिकी। तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्ति किसी भी प्रकार सम्भव न हो सकेगी। इसी प्रकार ब्रह्मके अविद्यामें प्रतिबिम्बित होनेके सिद्धान्तको स्वीकार करनेमें भी उपर्युक्त

कारणोंसे ही जीवन्मुक्तिके सिद्धान्तका विरोध होगा[१]।' इसी युक्तिका उपयोग करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि जीवको प्रतिबिम्बरूप माननेवाले मायावादियोंको इस प्रतिबिम्बको या तो अन्तःकरणगत मानना पड़ेगा या अविद्यागत। यदि वे जीवको अन्तःकरणगत प्रतिबिम्ब मानेंगे तो अन्तःकरणकी अवस्थिति-पर्यन्त जीव संसारी रहेगा तथा उसके नष्ट हो जानेपर परममुक्ति प्राप्त कर लेगा और जीवन्मुक्तिकी सम्भावना न रह सकेगी[२]। श्रीवल्लभाचार्यकी 'अविद्यायां ततोऽपि हि' (तत्त्वा० १.५९) अर्थात् 'अविद्यागत प्रतिबिम्ब माननेका पक्ष तो उपर्युक्त पक्षकी अपेक्षा और अधिक असङ्गत है' इस उक्तिका अनुसरण करते हुए गो० श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं, 'अविद्यापक्षस्तु सुतरामसङ्गतः।' (विद्व० पृ० ६३)। पुनः श्रीवल्लभाचार्यद्वारा दी गयी युक्ति[३] का ही आश्रय लेते हुए विद्वन्मण्डनकार इस असङ्गतिकी व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि जीवन्मुक्तिकी स्थितिमें अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर तद्गत-प्रतिबिम्बरूप जीवकी भी निवृत्ति हो जानेसे जीवन्मुक्तका शरीर स्पन्दन कर सकनेमें भी समर्थ नहीं रह जायेगा[४]। इस प्रकार अविद्या या अन्तःकरण किसीको भी दर्पणस्थानीय अधिष्ठानरूप क्यों न मानें, जीवन्मुक्ति सम्भव न होगी। मोक्ष होनेपर ब्रह्मज्ञान द्वारा दर्पणस्थानीय अधिष्ठानरूप अविद्या या अन्तःकरण का नाश हो जायेगा और दर्पणके अभावमें प्रतिबिम्बके अभावकी भाँति अधिष्ठाता—प्रतिबिम्बात्मक जीव—का नाश हो जाने पर जीवन्मुक्तकी देह शवकी भाँति स्पन्दनशून्य हो जायेगी।

पूर्वपक्षी इस असङ्गतिका समाधान करते हुए कहते हैं कि जीवन्मुक्तिमें अविद्या निःशेष नहीं हो जाती। ब्रह्मज्ञान होनेपर सञ्चित और सञ्चीयमान कर्म तो नष्ट हो जाते हैं किन्तु प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते। उनका क्षय तो भोगसे ही होता है[५]। इस प्रकार

---

१. दूषणान्तरमाह, 'जीवन्मुक्तिर्विरुद्धयते' इति। तत्र हेतुः, 'लिङ्गस्य विद्यमानत्वाद्' इति। क्व प्रतिबिम्बते इति वक्तव्यम्, अन्तःकरणे अविद्यायां वा ? उभयोरशुद्धत्वात् तत्प्रतिबिम्ब एव नोपपद्यते, अस्तु वा तथापि लिङ्गपक्षे उपाधेर्विद्यमानत्वात्संसार एव, तदभावे परममुक्तिरेव, न तु कथञ्चिज्जीवन्मुक्तिरित्यर्थः। (तत्त्वा० प्र० १.५९)।

२. जीवन्मुक्त्यनुपपत्तिश्च। तथा हि। अन्तःकरणे अविद्यायां वा त्वया प्रतिबिम्बो वाच्यः। अन्तःकरणपक्षे जीवन्मुक्तस्य तत्सत्त्वे संसारित्वमेव स्यात् तदसत्त्वे परम-मुक्तिरेवेति क्व जीवन्मुक्तिः ? (विद्व०, पृ० ६३)।

३. अधिष्ठातुर्विनष्टत्वान्न देहः स्पन्दितुं क्षमः। (तत्त्वा० १.६०)।

४. तस्य अपरोक्ष-ब्रह्म-ज्ञानवत्त्वेन अज्ञानस्य निवृत्त्या तत्प्रतिबिम्बरूप-जीवस्यापि निवृत्तत्वात् जीवन्मुक्तस्य देहः स्पन्दितुमप्यसमर्थः स्यात्। (विद्व०, पृ० ६३-६४)।

५. प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः,
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्सञ्चितागामिनोः। (विवेकचूडामणि ४५४)।

जीवन्मुक्तिमें अविद्याका सावशेष क्षय होनेके कारण दर्पणम्थानीया अविद्याकी सत्ता विद्यमान रहनेसे प्रतिबिम्बरूप जीवकी सत्ता बनी रहती है और जीवन्मुक्त पुरुष गमनागमनादिरूप लोकव्यवहार करता रहता है। जिस प्रकार मदिरा पीकर उसके नशेमें उन्मत्त पुरुष द्वारा धारण किया गया वस्त्र कभी दैव[1] योगसे अङ्गविशेषसे हट जाता है और कभी दैवयोगसे स्वयं ही अपने स्थान पर आ जाता है,[2] उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषका शरीर भी प्रारब्धके बलसे चलता रहता है[3]। उदाहरणार्थ जीवन्मुक्तके रूपमें सुविदित राजर्षि जनक आदिके बारेमें प्रसिद्ध है कि ब्रह्मसाक्षात्कार हो जानेके बाद भी उनकी विभिन्न कर्मोंमें प्रवृत्ति बनी रही। इसका कारण यही था कि उनके प्रारब्ध कर्म — जिनका नाश केवल भोगसे ही होता है — शेष थे और उन प्रारब्ध कर्मोंकी अवस्थिति-पर्यन्त उन राजर्षिके ब्रह्मज्ञानसे बाधित अविद्याकी अनुवृत्ति बनी रही जिसके प्रभावसे उन्हें प्रपञ्च एवं तदन्तःपाती साधनादि की ऐसी प्रतीति होती रही कि वे लोकसङ्ग्रहार्थ यज्ञादि कर्म सम्पादित कर सके। अतः जीवन्मुक्ति होनेपर अधिष्ठाताके नाश और जीवन्मुक्तके स्पन्दनशून्य हो जानेकी आशङ्का निर्मूल है।

इस विषयमें विद्वन्मण्डनकारका कथन है कि पूर्वपक्षियोंका यह कहना ठीक नहीं है कि 'जीवन्मुक्तिकी दशामें भी प्रारब्धमात्रशेष अविद्या बनी रहती है अतः उस समय भी जीवकी स्थिति, गमनागमन एवं भिक्षाटन आदि सब कुछ उपपन्न है'[4] क्योंकि वे अविद्याको ब्रह्मसाक्षात्कारैकनाश्य मानते हैं अतः ब्रह्मसाक्षात्कार हो जानेपर प्रतिबन्धकका अभाव होनेके कारण जीवन्मुक्तके जीवकी स्थिति एवं भिक्षाटनादिकी उपपत्ति दुःशक है। जीवन्मुक्तत्व-सम्पादक दृढ ब्रह्मज्ञानसे भी यदि अविद्या पूर्णतः नष्ट न हुई तब तो वह कभी भी नष्ट न होगी[5] और मुक्तिकी सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी।

'प्रारब्ध-कर्म भोगैकनाश्य हैं अतः जीवन्मुक्तिकी दशामें अविद्याका नाश हो जानेपर भी उनका क्षय नहीं होता। अतएव उस स्थितिमें भी प्रारब्ध-भोगोचित

---

१. 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते।'

२. देहश्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥
(भाग० ११.१३.३६)।

३. 'दैवादुपेतमथ दैववशादपेतम्' (भाग० ११.१३.३६) इति-न्यायेन चलति इति चेत् ? (तत्त्वा० प्र० १.६०)।

४. न च प्रारब्धमात्रशेषाऽविद्या तदा अस्ति इति सर्वमुपपद्यते इति वाच्यम्।
(विद्व०, पृ० ६४)।

५. ब्रह्मसाक्षात्कारैकनाश्यायाः तस्याः तस्मिन् सति वक्तुम् अशक्यत्वात्, प्रतिबन्धकाभावात्। तेनानिवृत्तौ कदाप्यनिवृत्ति-प्रसङ्गश्च। (वहीं)।

प्रवृत्ति उपपन्न है। जिस प्रकार कुलाल द्वारा दण्ड हटा लिये जानेपर भी कुलाल-चक्र वेग-क्षय-पर्यन्त घूमता रहता है उसी प्रकार अविद्याकी निवृत्ति हो जानेके बाद भी जीवन्मुक्तकी प्रारब्ध-क्षय-पर्यन्त तदनुरूप कर्मोंमें प्रवृत्ति होती रहती है।' इस पूर्वपक्षके सम्बन्धमें सिद्धान्तीका कहना है कि रज्जुके स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर उसमें अध्यस्त सर्पके ज्ञान एवं उस ज्ञानसे जन्य भय आदिकी किसी भी रूपमें अंशतः भी अनुवृत्ति नहीं रहती है। पूर्वपक्षीका कथन है कि उस स्थितिमें भी अध्यासकालिक भयसे जन्य शरीरकम्पन आदि तो अनुवृत्त रहता ही है। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि पूर्वकालिक भयसे जन्य वह कम्पादि भले ही किञ्चित्कालपर्यन्त स्वरूपतः बना रहे किन्तु उससे कुछ होता नहीं है। इसी प्रकार प्रारब्धसे भी देहकी स्वरूपतः अवस्थिति ही सम्पादित हो सकती है, अध्यासके अभावके कारण भोगादि सम्पन्न नहीं हो सकते। इस सम्बन्धमें श्रीवल्लभाचार्यका कथन है कि 'ब्रह्मज्ञान हो जानेपर केवल प्रारब्धकर्म शेष रह जाते हैं' यह कह कर ब्रह्मज्ञानद्वारा अविद्याके सावशेष क्षयके पक्षको स्वीकार करनेपर जीवन्मुक्तिकी स्थितिमें अधिष्ठाता अर्थात् प्रतिबिम्बरूप जीव की सत्ता अवश्य सिद्ध की जा सकती है किन्तु यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि इस स्थितिमें अधिष्ठाता जीवको अपने शरीरादिका ज्ञान या अनुसन्धान भी होता है। 'दैवादपेतमथ दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः' (भाग० ११.१३.३६), इस वाक्यके प्रामाण्यसे यही मानना होगा कि जिस प्रकार मदान्ध पुरुषको अपने शरीर परके वस्त्रका ज्ञान नहीं रहता है उसी प्रकार जीवन्मुक्तको भी अपनी देहादिका अनुसन्धान या ज्ञान नहीं रहता है। अतः जीवन्मुक्तको देहादिका अनुसन्धान न रहनेसे उसकी भोजन-भिक्षाटनादि क्रियाओंकी व्याख्या दुःशक हो जाती है क्योंकि प्रारब्ध कर्म देहकी अवस्थिति या रक्षा मात्र को ही सम्पादित कर सकते हैं, उससे अधिक कुछ भी नहीं कर सकते। देहकी भोजनादि क्रियाओंका सम्पादन करना प्रारब्धका कार्य नहीं है। इस बातकी सिद्धि सुषुप्तिमें प्रारब्ध कर्मों द्वारा देहकी अवस्थितिके सम्पादित होने किन्तु भोजनादि क्रियाओंके सम्पादित न होने के सार्वजनिक अनुभवसे होती है[1]। श्रीवल्लभाचार्यकी उपर्युक्त उक्तिका अनुसरण करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि प्रारब्धसे भी देहकी स्वरूपतः अवस्थिति ही सम्पादित हो सकती है, अध्यासके अभावके कारण भोगादि सम्पन्न नहीं हो सकते। इसकी पुष्टि सुषुप्तिके अनुभवसे होती है जिसमें देहकी अवस्थिति तो रहती है किन्तु भोगानुरूप प्रवृत्ति नहीं रहती[2]। श्रीवल्लभाचार्य एवं

---

१. प्रारब्धमात्रशेषत्वे सुषुप्तस्येव न व्रजेत्। (तत्त्वा० १.६०)।
तत्र च अधिष्ठाता वर्तत एव परं न अनुसन्धत्ते। प्रारब्धं देहविद्यमानतामेव सम्पादयति नाधिकं भोजनादिकार्यम्, सुषुप्तौ तथोपलम्भात्। (तत्त्वा० प्र० १.६०)।

२. प्रारब्धेनापि देहविद्यमानतैव सम्पादयितुं शक्या, न तु भोगादिरपि, अध्यासाभावात्,

गो० श्रीविट्ठलनाथ की उपर्युक्त युक्तिका तात्पर्य यह है कि जीवको ब्रह्मका प्रतिबिम्ब माननेवाले मायावादीके मतमें जीवन्मुक्तिकी दशामें देहादिका ज्ञान न होनेसे गमन-भोजनादि क्रियाओंके प्रारब्ध द्वारा व्याख्यात न हो सकनेके कारण सारे व्यवहारके उच्छेदका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा और इस प्रकार जीवन्मुक्तिका विरोध होगा।

और रज्जुसर्पके अध्यासके सन्दर्भमें तो यह व्याख्या दी जा सकती है कि सर्प होनेके ज्ञानसे उत्पन्न भयसे जन्य शरीरकम्पन आदि वेग-संस्कार-वश अध्यास-निवृत्तिके बाद भी किञ्चित्कालपर्यन्त बने रहते हैं किन्तु जीवन्मुक्तके भोगजनक प्रारब्धकी अनुवृत्तिकी व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि प्रारब्ध द्रव्य न होनेके कारण संस्कारोंका आश्रय नहीं है और अज्ञानका कार्य होनेके कारण उसका ज्ञानसे नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है। उपर्युक्त प्रकारसे जीवन्मुक्त दशामें प्रवचनादि कर्म भी अनुपपन्न होंगे और सम्प्रदायोच्छेदका अनिष्ट-प्रसङ्ग आपतित होगा। पूर्वपक्षीका यह कह सकना भी सम्भव नहीं है कि जीवन्मुक्ति प्रवादमात्र है क्योंकि जीवन्मुक्ति-निरूपक विभिन्न श्रुति, स्मृति एवं पुराण के स्वतःप्रमाण वाक्योंसे निर्णीत रूपसे जीवन्मुक्तिकी वास्तविकता सिद्ध है। उस प्रामाणिक ज्ञानका विरोध होनेके कारण, 'जीवन्मुक्ति होती ही नहीं है' यह कथन भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि जीवको प्रतिबिम्ब-स्वरूप और अत एव मिथ्या माननेका निर्विशेष-ब्रह्मवादीका पक्ष असङ्गत है[1]।

* ५.३.१ * पूर्वपक्षी जीवके आभासरूप होनेका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार आँखके नीचे उँगली रख कर देखनेपर चन्द्रमाके दो होनेका आभास होता है उसी प्रकार अविद्याके कारण ब्रह्मके भी अनेक होनेका आभास होता है। अनेकके रूपमें दिखनेवाले इस ब्रह्मके आभासको ही जीव कहते हैं और आभासरूप होनेके कारण यह जीव मिथ्या है।

सिद्धान्तीका कहना है कि ब्रह्मके अनेक रूपोंमें प्रतीत होनेकी व्याख्या चन्द्रमाके दृष्टान्तसे जीवोंको मिथ्या आभासरूप मानकर नहीं की जा सकती क्योंकि इससे 'अविद्याके सम्बन्धके कारण ब्रह्मकी अनेक आभासरूप जीवोंमें प्रतीति किसको होती है?' इस प्रश्नका समुचित समाधान नहीं हो पाता है। सर्वज्ञ ब्रह्मका तो भ्रमसे सम्बन्ध माना नहीं जा सकता, अतः यह भ्रमरूपा प्रतीति उसे नहीं हो सकती। यह अवभास जीवविषयक है अतः जीवके इसका विषय होनेके कारण 'यह प्रतीति जीवको होती है' यह भी नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म सर्वज्ञ है तथा उसे अपने स्वरूपमें या किसी अन्य पदार्थके स्वरूपमें अनेकताकी प्रतीति नहीं हो सकती और आभासरूप जीवोंकी इस

सुषुप्तौ तथोपलम्भात्। (विद्व०, पृ० ६४)।

१. वही, पृ० ६४–६५.

अनेकताकी प्रतीतिके पूर्व सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि जिसे अनेकताकी प्रतीति होती है उसके सिद्ध हो जानेके बाद ही उसे प्रतीयमान आभासरूप अनेक जीवोंकी सिद्धि हो सकेगी। इन दोनोंके अतिरिक्त कोई तीसरा ऐसा तत्त्व मायावादी नहीं मानते जिसे यह ब्रह्मकी आभासरूप अनेकताकी प्रतीति हो सके। अतः इस आभासरूप प्रतीतिकी व्याख्या न हो सकनेके कारण जीवको मिथ्या आभासरूप माननेका पूर्वपक्षीका मत युक्तियुक्त नहीं है।

* ५.३.२ * पूर्वपक्षीका कथन है कि 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इत्यादि महावाक्योंद्वारा श्रुति ब्रह्म एवं जीव के अभेदका प्रतिपादन करती है। यह अभेद ब्रह्म एवं जीव को परमार्थतः भिन्न मानकर नहीं सिद्ध किया जा सकता। अतः जीवको प्रतिबिम्ब या आभासरूप मानना ही युक्तियुक्त है। इसके उत्तरमें विद्वन्मण्डनकारने श्रीवल्लभाचार्यका अनुसरण करते हुए महावाक्यका स्वरूप एवं अर्थ स्पष्ट किया है तथा यह सिद्ध किया है कि इनकी व्याख्याके लिए जीवको आभास मानना अनावश्यक है और उसे ब्रह्मका अंश मानकर श्रुति, स्मृति एवं सूत्रों के तत्तद् वाक्योंकी सुसङ्गत व्याख्या की जा सकती है[1]। श्रीवल्लभाचार्यका[2] अनुसरण करते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि प्रतिबिम्बवाद या आभासवाद माननेसे गीतास्मृतिके उन भगवद्वचनोंका भी विरोध होता है जिनमें जीवको ब्रह्मका प्रतिबिम्ब या आभास नहीं प्रत्युत अंश बताया गया है। 'जीवलोकमें मेरा ही अंश' (गीता १५.७) इत्यादि वाक्यमें जीवको स्पष्टतः भगवदंश कहा गया है और 'उत्क्रमण करते हुए या स्थित जीवको' (गीता १५.१०) इत्यादि वाक्य द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि जीवको अंश माने विना उसकी उत्क्रमण आदि क्रियाओंकी व्याख्या नहीं की जा सकती अतः उसके अंशत्वको औपाधिक नहीं वास्तविक ही मानना चाहिए। इस प्रकार भगवद्वाक्योंसे भी जीवको प्रतिबिम्ब या आभास माननेके मतका खण्डन होता है। इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जीव न तो आभास है और न प्रतिबिम्ब ही,[3] वस्तुतः वह ब्रह्मका अश है।

---

१. इस विषयका विवेचन हमने ऊपर महावाक्यार्थ-विचारके प्रकरणमें (४.६ में) किया है अतः यहाँ हम उसके पिष्टपेषणसे विरत होते हैं। 'आभास' का श्रुति, स्मृति एवं सूत्रों में शुद्धाद्वैत-दर्शनके अनुसार क्या अर्थ और स्वरूप है इसे हमने अपने तत्त्वार्थ-दीपनिबन्धमें (पृष्ठ १७३–१८० पर) विवेचित किया है। विद्वन्मण्डनमें इसपर अधिक विचार नहीं किया गया है, अतः प्रकृत प्रसङ्गमें आवश्यक न होनेके कारण हम यहाँ इसका विवेचन नहीं कर रहे हैं।

२. स्मृति-विरोधमप्याह, 'भगवद्वचसामपि' इति। 'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५.७), 'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि' (गीता १५.१०) इति च। (तत्त्वा प्र० १.५८)।

३. तस्माज्जीवो नाभासो न वा प्रतिबिम्बः। (तत्त्वा० प्र० १.६०)।

* ५.४.० * उपर्युक्त प्रकारसे जीवके आभासमात्र, औपाधिक या मिथ्या होनेका निषेध करनेके बाद उसके स्वरूपके निरूपणमें प्रवृत्त विद्वन्मण्डनकार श्रुतियों, स्मृतियों एवं सूत्रों में उल्लिखित उसके ब्रह्मांश होनेका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं हैं कि श्रुति-स्मृतिके सन्दिग्धार्थ-वाक्योंके निर्णयके लिए ब्रह्मसूत्र लिखनेवाले वेदव्यासने अपनी इस कृतिमें निर्णीत रूपसे यह सिद्ध कर दिया है कि जीव ब्रह्मका अंश है। उनका यह निर्णय 'अंशो नाना-व्यपदेशात्' (ब्र० २.३.४३) इस सूत्रमें स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि 'अंशो नानाव्यपदेशात्' (ब्र० २.३.४३) इस ब्रह्मसूत्रका अर्थ यह है कि 'जीव ब्रह्मका अंश ही है क्योंकि श्रुतिमें उसका नाना-विध व्यपदेश किया गया है।' नानाविध व्यपदेशसे तात्पर्य यह है कि श्रुतिमें उसे कहीं ब्रह्मके रूपमें, कहीं उत्पन्न हुए तत्त्वके रूपमें, कहीं अंशके रूपमें, कहीं चिद्रूप-तत्त्वके रूपमें, कहीं ईशितव्य अर्थात् शासित तत्त्वके रूपमें, कहीं अणु-तत्त्वके रूपमें और कहीं व्यापक तत्त्वके रूपमें निरूपित किया गया है। उदाहरणार्थ उसे 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २.५.१९) इत्यादि वाक्योंमें ब्रह्मके रूपमें, 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' (शतप० १४.५.१.२३) इत्यादि वाक्योंमें उत्पन्न होनेवाले तत्त्वके रूपमें, 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' (श्वे० १.९) इत्यादि वाक्योंमें अंशके रूपमें, 'विज्ञानघन एवैतेभ्यः भूतेभ्यः समुत्थाय' (बृ० २.४.१२) इत्यादि वाक्योंमें चिद्रूप-तत्त्वके रूपमें, 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' (श्वे० १.१०) इत्यादि वाक्योंमें ईशितव्य तत्त्वके रूपमें, 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मु० ३.१.९) इत्यादि वाक्योंमें अणु-परिमाण तत्त्वके रूपमें, तथा स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः' (बृ० ४.४.२५) एवं 'तद्वज्जीवो नभोपमः' (ब्रह्म-बिन्दूपनिषद्, १३) इत्यादि वाक्योंमें व्यापक तत्त्वके रूपमें निरूपित किया गया है। इस प्रकार उसके विभिन्न निरूपणोंमें उसे विरुद्ध धर्मोंका आश्रय बताया गया है। किन्तु ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्वका विरुद्ध-धर्माश्रय होना सम्भव नहीं है अतः यही स्वीकार करना पड़ता है कि श्रुति जीवको ब्रह्मसे अनतिरिक्त मानती है। जीवको ब्रह्मसे अनतिरिक्त मानना किसी अन्य प्रकारसे सम्भव नहीं है अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि श्रुतिमें जीवको ब्रह्मका अंश माननेके सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया गया है[1]।

'अंशो नानाव्यपदेशात्' (ब्र० २.३.४३) इस ब्रह्मसूत्रका पूर्वोक्त अर्थ गो० श्रीविट्ठलनाथने इसके घटक 'नाना' पदको अव्यय मानकर एवं अव्ययोंके अनेकार्थक

---

१. नाना-व्यपदेशात्। नानाविधः यः व्यपदेशः। क्वचिद् ब्रह्मत्वेन, क्वचिद् उत्पन्नत्वेन, क्वचिद् अंशत्वेन, क्वचिन् चिद्रूपत्वेन, क्वचिद् ईशितव्यत्वेन, अणुत्वेन च, व्यापकत्वेन च निरूपणाद् एकस्य एव विरुद्धधर्माश्रयत्वं ब्रह्मातिरिक्तस्य न सम्भवति इति ब्रह्मांश एव जीव इत्यर्थः। (विद्व०, पृ० १४५–१४६)।

होनेके आधार पर उसका अर्थ 'नानाविध' मानकर किया है। किन्तु उन्होंने उक्त ब्रह्मसूत्रके श्रीवल्लभाचार्य द्वारा अपने अणुभाष्यमें किये गये अर्थका अनुसरण करते हुए एक वैकल्पिक अर्थ करके प्रकारान्तरसे भी जीवके ब्रह्मका अंश होनेके सिद्धान्तकी पुष्टि की है। वे लिखते हैं, "अथवा 'नानाव्यपदेशात्' का अर्थ यह है कि श्रुतिमें जीवका ब्रह्मसे भिन्न पृथक् रूपमें व्यपदेश होनेके कारण उसे ब्रह्मका अंश मानना चाहिए। श्रुतिमें 'जिस प्रकार अग्निसे छोटे-छोटे विस्फुलिङ्ग व्युच्चरित होते हैं उसी प्रकार इस आत्मासे सारे प्राण' (शतप० १४.५.१.२३) इत्यादि उपक्रम-पूर्वक कहा गया है कि उसी प्रकार 'ये सारे आत्मा व्युच्चरित होते हैं' (शतप० १४.५.१.२३)। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद्में[1] कहा गया है कि जीवोंमें जो अच्छा आचरण करनेवाले अर्थात् सदाचारी एवं पुण्यवान् होते हैं वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं और जो अशुभ आचरण करने वाले अर्थात् दुराचारी एवं पापी होते हैं वे शीघ्र ही अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं।[2]"

* १.४१ * पूर्वपक्षी यह मानते हैं कि जिस प्रकार उष्णता विस्फुलिङ्ग एवं अग्नि दोनोंका साधारण धर्म है उसी प्रकार चेतनत्व जीव एवं ईश्वर दोनोंका साधारण धर्म है।[3] इस प्रकार वे अंशत्वके औपचारिक होनेका प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार अंशत्वके औपचारिक होनेके कारण ही 'जिस प्रकार अग्निसे क्षुद्र विस्फुलिङ्ग' (बृ० २.१.२०) तथा 'जो आत्मामें रहता हुआ आत्माको अन्दर रहकर वहीसे नियमित अर्थात् नियन्त्रित करता है' (शतप० १४.५.५.३०) इत्यादि वाक्योंसे श्रुतिमें जीवका नाना-व्यपदेश अर्थात् भेद-निर्देश (जीवके ब्रह्मसे भिन्न होनेका उल्लेख) किया गया है[4]।

---

१. तद्य इह रमणीय-चरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। (छा० ५.१०.७)।

२. अथवा नानाव्यपदेशात् भेदेन व्यपदेशात् तथा इत्यर्थः। श्रुतिश्च 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (शतप० १४.५.१.२३) इत्युपक्रम्य, 'सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति' (शतप० १४.५.१.२३) इति, 'कपूयचरणा रमणीयचरणा' इति च।

३. चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्। (ब्र० शा० २.३.४३)।

४. कस्मात् पुनः निरवयवत्वात् स एव न भवति? नाना-व्यपदेशात् 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८.७.१), 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति', 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' (शतप० १४.५.५.३०) इति चैवं-जातीयको भेदनिर्देशो नास्ति भेदे युज्यते। (ब्र० शा० २.३.४३)।

श्रीशङ्कराचार्यने 'अंशो नाना-व्यपदेशात्' (ब्र० २.३.४३) के अपने भाष्यमें यह कहा है कि ब्रह्म निरवयव है और जब निरवयवके अंशकी बात कही जाती है तो अंश शब्दका मुख्यार्थ गृहीत नहीं किया जा सकता। अतः श्रुतिमें जहाँ जीवका ब्रह्मसे पृथक् निर्देश किया गया है वहाँ जीवका अंशत्व औपचारिक ही अभीष्ट है[1]।

* १.४.२ * श्रीवल्लभाचार्यने श्रीशङ्कराचार्य द्वारा सङ्केतित युक्तिको पूर्वपक्षके रूपमें उपन्यस्त करते हुए कहा है कि ब्रह्मके निरवयव होनेके कारण जीवको उसका अंश नहीं कहा जा सकता है। वे कहते हैं, 'नहि ब्रह्म निरंशं सांशमिति वा क्वचिल्लोके सिद्धम्। वेदैकसमधिगम्यत्वात्। सा च श्रुतिर्यथोपपद्यते तथा तदनुल्लङ्घनेन वेदार्थ-ज्ञानार्थं युक्तिर्वक्तव्या। सा चेत्स्वयं नावगता तपो विधेयम्। अभिज्ञा वा प्रष्टव्या इति। न तु सर्व-विप्लवः कर्तव्य इति। तत्रैषा युक्तिः।
विस्फुलिङ्गा इवाग्नेर्हि जड-जीवा विनिर्गताः।
सर्वतः पाणिपादान्तात्सर्वतोऽक्षि-शिरो-मुखात्॥
निरिन्द्रियात्स्वरूपेण तादृशादिति निश्चयः। सदंशेन जडा पूर्वं चिदंशेनेतरे अपि॥
अन्य-धर्म-तिरोभावा मूलेच्छातोऽस्वतन्त्रिणः॥ इति। ब्रह्मवादे अंशपक्ष एव।'
(अ० २.३.४३।।

जीवके अंशत्वको औपचारिक माननेके उक्त शाङ्कर-सिद्धान्तको पूर्वापर-विरोधके कारण विद्वदुपेक्षणीय बताते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि केवलाद्वैती पूर्वपक्षीके मतमें जीवका जो स्वरूप स्वीकार किया गया है उसके अनुसार जीव या तो आभास है या प्रतिबिम्ब। आभास या प्रतिबिम्ब होनेके कारण वह अलीक है। ज्ञानैकघन परमात्माके लिए इस अलीक जीवका नियमन करना अथवा इसमें स्थिति सम्भव नहीं है। उक्त कारणसे ही विस्फुलिङ्गकी उष्णताके दृष्टान्तसे चेतनत्वको ब्रह्म एवं जीव का साधारण धर्म मानकर अंशत्वकी व्याख्या उसे औपचारिक बताकर करना भी सम्भव नहीं है।

पूर्वपक्षीके अनुसार घटाकाशवत् अविद्यावच्छिन्न चैतन्यको जीव मानकर उसके अंशत्वको औपचारिक कहा जा सकता है। उसका कथन है कि जीव अविद्यावच्छिन्न-चैतन्य-स्वरूप है अतः उसका अंशत्व घटाकाशकी भाँति ही औपचारिक है। उसके इस कथनका उत्तर देते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि जीवके अंशत्वका अवगम-प्रकार (अर्थात् जीवका अंशत्व किस प्रकारका समझना चाहिए यह) तो स्वयं श्रुतिने ही 'जिस प्रकार अग्निसे क्षुद्र विस्फुलिङ्ग' (बृ० २.१.२०) इत्यादि वाक्य द्वारा स्पष्ट शब्दोंमें

---

१. जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गः। अंशः इवांशः, न हि निरवयवस्य मुख्यः अंशः सम्भवति। (ब्र० शा० २.३.४३)।

कह दिया है[1]।

* ५.४.३ * यहाँ यह अवधेय है। ब्रह्मके निरंश अथवा सांश होनेकी बात लोकसिद्ध अर्थात् लौकिक युक्ति या प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध या ज्ञेय तो है नहीं कि उसके अनुरोधसे ब्रह्मके स्वरूपके निरंश या सांश होनेके विषयमें प्रामाणिक या निश्चित रूपसे कुछ कहा जा सके; प्रत्युत ब्रह्मका स्वरूप निरंश है या सांश यह केवल वेदसे ही जाना जा सकता है। ऐसी स्थितिमें ब्रह्मका सांश या निरंश जिस रूपमें भी श्रुति वर्णन करती है ब्रह्म वैसा ही है यह मानना चाहिए। इसीलिए 'यह मति तर्कके द्वारा प्राप्त या अपनेय नहीं है' (क० १.२.९), 'जो भाव (या पदार्थ) अलौकिक हैं उन्हें तर्कसे नहीं जोड़ना चाहिए (अर्थात् तर्क-बलसे उनका साधन या खण्डन करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए,' इत्यादि श्रुति-वाक्य एवं स्मृति-वाक्य लौकिक युक्ति (अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों) द्वारा ब्रह्मके श्रुति-प्रतिपादित स्वरूपके बाध किये जानेका निषेध करते हैं[2]।

पूर्वपक्षीका कथन है कि श्रुतिके प्रतिपाद्यके निर्धारणमें लौकिक-युक्तियोंका अनुसरण अपेक्षित है और उनका ऐसा अर्थ नहीं स्वीकार करना चाहिए जो लौकिक-युक्तियोंसे बाधित हो। अतः ब्रह्मके निरंशत्व या सांशत्व का निश्चय करनेमें भी लौकिक-युक्तियोंका अनुसरण करना उचित है। श्रुतिके जिस अर्थका लौकिक युक्तिसे बाध होता हो उसे स्वीकार करना ठीक नहीं है। किन्तु सिद्धान्ती 'यह मति तर्कके द्वारा प्राप्त या अपनेय नहीं' (क० १.२.९) इत्यादि श्रुतिवाक्योंके बलसे पूर्वपक्षीकी इस धारणाका खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि पूर्वपक्षीका यह मत कि 'श्रुतिका प्रतिपाद्य लौकिक-युक्तिसे विरुद्ध हो तो बाधित होता है' ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं श्रुतिके ही पूर्वोक्त वाक्यमें लौकिकयुक्तिसे अपने प्रतिपाद्यको बाधित माननेका निषेध किया गया है। इस निषेधको न स्वीकार करने पर उक्त श्रुति-वाक्यको व्यर्थ तो मानना ही होगा विरुद्ध अर्थका प्रतिपादक भी स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु श्रुति-वाक्यको व्यर्थ या विरुद्धार्थ-प्रतिपादक तो पूर्वपक्षी भी नहीं स्वीकार करना चाहेंगे। अतः उन्हें 'श्रुति-प्रतिपाद्यको लौकिक-युक्त्यनुसारी अवश्य होना चाहिए' इस प्रकारका आग्रह छोड़कर श्रौत पदार्थोंका स्वरूप वैसा ही स्वीकार कर लेना चाहिए जैसा श्रुतिमें वर्णित है और इस विषयमें लौकिक युक्तियोंको अनावश्यक महत्त्व नहीं देना चाहिए। इस प्रसङ्गमें लौकिक युक्ति अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सीमा, कुण्ठता एवं शिथिलता की ओर प्रतिपक्षीका ध्यान आकृष्ट करते हुए सिद्धान्तीने अयस्कान्तका उदाहरण देकर यह प्रतिपादित किया है कि अयस्कान्तका स्वभाव ही ऐसा है कि उसके समीप आनेपर लोहा उसकी ओर आकृष्ट एवं गतिशील हो जाता है और इस आकर्षण एवं गतिशीलता की

---

१. विद्व०, पृ० १४७. २. विद्व०, पृ० १४८.

व्याख्या करनेके लिए युक्ति देना सम्भव या अपेक्षित नहीं है। उसका कथन है कि जहाँ वस्तुका स्वभाव ही कारण होता है वहाँ लोकमें भी लौकिक युक्तिके प्रसरकी सम्भावना नहीं होती तो वेदमें तो ऐसा सुतराम् असम्भव है[1]। अतः जिस प्रकार लोकमें अयस्कान्त आदिके वस्तु-स्वभावकी कारणताके प्रसङ्गमें युक्तिकी अपेक्षा या सम्भावना नहीं होती उसी प्रकार ब्रह्मके निरवयवत्व एवं सांशत्व के निर्णयके प्रसङ्गमें भी श्रुति-वाक्योंके बलसे यह मान लेना चाहिए कि ब्रह्मका स्वरूप ही वैसा है कि वह निरवयव और सांश दोनों है और उसकी सिद्धिके लिए युक्ति अर्थात् लौकिक प्रमाणों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यह बात इससे स्पष्ट है कि श्रुति ही 'निष्कल, निष्क्रिय' (श्वे० ६.१९) इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्मको 'निष्कल' बताकर उसके सांश होनेका निराकरण करती है और वही 'जिस प्रकार अग्निसे' (बृ० २.१.२०) इत्यादि वाक्योंद्वारा ब्रह्मसे व्युच्चरणका उल्लेख कर जीवके ब्रह्मका अंश होनेकी बात भी कहती है। इसीलिए ब्रह्मसूत्रकार व्यासने भी इसी प्रतिपाद्य सिद्धान्तको तर्कपुष्ट करनेके लिए अपनी कृतिमें 'मन्त्रवर्णात्' (ब्र० २.३.४८) एवं 'अपि स्मर्यते' (ब्र० २.३.४५) इत्यादि सूत्रोंद्वारा अन्य हेतु भी प्रस्तुत किये हैं।

'मन्त्रवर्णात्' (ब्र० २.३.४४) सूत्रमें उपन्यस्त हेतुका आशय यह है कि 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि' (ऋ० १०.९०.३; शु० य० सं० ३१.३) अर्थात् 'सारे भूत इस परमात्माके पाद हैं' यह कहकर श्रुति भूत अर्थात् जीवों को परमात्माका पाद अर्थात् अंश बताती हुई उनके ब्रह्मका अंश होनेका ही प्रतिपादन करती है। इसी प्रकार 'अपि स्मर्यते' (ब्र० २.३.४५) सूत्रमें उपन्यस्त हेतुका आशय यह है कि भगवद्गीता-स्मृतिके 'मेरा जीवभूत सनातन अंश ही जीवलोकमें' (गीता १५.७) इत्यादि वाक्योंमें भी जीवके ब्रह्मका अंश होनेका ही प्रतिपादन किया गया है। और ब्रह्मका अंश होनेके कारण जीव ब्रह्मसे तादात्म्य-सम्बन्धसे सम्बद्ध एव अभिन्न है, इसीलिए अभेद-श्रुति उपपन्न है, क्योंकि तादात्म्यका शुद्धाद्वैत-सिद्धान्ताभिमत लक्षण 'भेदसहिष्णुरभेदः तादात्म्यम्' है। और ऐसा तो कहा नहीं जा सकता कि विस्फुलिङ्ग अग्नि नहीं है। इसी प्रकार जीव भी ब्रह्मका अंश होनेसे ब्रह्म ही है[2]।

* ५.४.४ * यहाँ ब्रह्म एवं जीव में तादात्म्य-सम्बन्ध न स्वीकार करनेवाले वास्तवभेद-वादी श्रीमध्वाचार्यके पक्षसे यह आक्षेप किया जा सकता है कि जीव यदि ब्रह्मसे अभिन्न होता तो वह भी ब्रह्मकी ही भाँति सर्वज्ञ होता, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है क्योंकि वह असर्वज्ञ है, अतः जीवको ब्रह्मका अंश माननेपर उसकी असर्वज्ञताके अनुपपन्न हो जानेके कारण उसे ब्रह्मांश मानना उचित नहीं है। इस आक्षेपके उत्तरमें विद्वन्मण्डनकारका कहना है कि ऐसा तो है नहीं कि विस्फुलिङ्ग दाहक या प्रकाशक नहीं

---

१. वहीं। २. वही, पृ० १४९.

होता[1]। उनके इस कथनका आशय यह है कि जैसे अग्निके अंशरूप विस्फुलिङ्गमें अग्निका धर्म दाहकत्व एवं प्रकाशकत्व रहता है उसी प्रकार ब्रह्मके अंश जीवमें भी ब्रह्मका धर्म चैतन्य या ज्ञान रहता ही है। अतः जीवको ब्रह्मका अंश माननेको इस आधार पर अनुपपन्न नहीं कहा जा सकता।

पूर्वपक्षीका कहना है कि 'जैसे अग्निमें अधिक प्रकाश एवं दाहकत्व रहता है और उसके अंशरूप विस्फुलिङ्गमें उसकी अपेक्षा बहुत कम प्रकाश एवं दाहकत्व रहता है उसी प्रकार ब्रह्म सर्वज्ञ है किन्तु उसका अंशरूप जीव अल्पज्ञ है' यह मान लेने पर जीवकी अल्पज्ञता तो उपपन्न हो जा सकती है; किन्तु फिर भी जीवको भ्रम होनेके तथ्यकी उपपत्ति नहीं हो पाती है[2]। इसी प्रकार जीवका अनीशत्व भी उसको ब्रह्मांश माननेपर अव्याख्येय हो जाता है। यदि जीव ईश्वरका अभिन्न अंश होता तो अनीश्वर नहीं होता, किन्तु वह अनीश्वर है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वह ब्रह्मका अभिन्न अंश नहीं है। यहाँ यह समाधान भी अकिञ्चित्कर ही होगा कि 'जीवमें जो अनीशत्व आदि धर्म आ जाते हैं उनका कारण जीवका देहसे सम्बन्ध स्थापित होना है', क्योंकि जीवका देहसे सम्बन्ध भी तो जीवभाव होनेके बाद ही होता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वरका अंश जीव जब जीवभावको प्राप्त होता है तभी अनीशत्व आदि धर्म उसमें आ जाते हैं और उस जीवका देहसे सम्बन्ध (अर्थात् शरीर धारण करना) उसके बाद घटित होता है। अतः जीव-भावके बाद होने वाले शरीर-धारण आदिको जीवभावके साथ ही आ जाने वाले अनीशत्व आदिका कारण नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतको उपसंहृत कर निष्कृष्ट रूपमें उपस्थापित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि पूर्वपक्षीके अनुसार यह मानना ही ठीक है कि जीव ईश्वरसे भिन्न, अनीशत्वादि-विशिष्ट एवं नित्य-बद्ध (अर्थात् अनादि-कालसे ही बन्धन-ग्रस्त) होता है और भगवत्कृपासे जन्य (अर्थात् प्राप्त होनेवाले) ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त करता है। अतः जीवका ब्रह्मांश हो सकना सम्भव नहीं है अर्थात् उसे ब्रह्मका अंश नहीं माना जा सकता।

अपने इस मतके अनुरूप उन श्रुतियोंके अर्थकी योजना करते हुए जिनमें जीवके 'व्युच्चरण' या 'प्रभव' का उल्लेख है पूर्वपक्षी कहते हैं कि जीव ब्रह्मसे विस्फुलिङ्गके समान व्युच्चरण करते हैं यह प्रतिपादित करनेवाले श्रुतिवाक्यमें विस्फुलिङ्गके दृष्टान्त द्वारा, प्रलय-कालमें भगवान्के उदरके अन्दर स्थित जीवोंके पुनः सृष्टि होनेके समय उससे निर्गमनका प्रकार ही उपमा देकर बताया गया है इससे अधिक अर्थात् उनका ब्रह्मांश होना आदि कुछ नहीं।

---

१. न हि विस्फुलिङ्गो न दाहकः प्रकाशको वा। (वही, पृ० १५२–१५३)।

२. अल्पप्रकाशवदल्पज्ञत्वोपपत्तावपि भ्रमस्तु नोपपद्यते जातु। (वही, पृ० १५३)।

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३.७.२३) अर्थात् 'इससे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा नहीं है' (बृ० ३.७.२३) इत्यादि श्रुतिवाक्यमें कहा गया है कि ब्रह्मसे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा नहीं है, किन्तु जीव भी दर्शनसम्पन्न अर्थात् द्रष्टा है, अतः उसे ब्रह्मसे भिन्न नहीं माना जा सकता। इस प्रकार उक्त श्रुतिवाक्यके स्वारस्यके लिए भी जीवको ब्रह्मका अंश मानना आवश्यक है। इस आशङ्काका समाधान करनेके लिए पूर्वपक्षी उक्त श्रुतिवाक्यकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'इससे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा नहीं है' (बृ० ३.७.२३) इत्यादि श्रुतिवाक्य ब्रह्मसे भिन्न किसी अन्यके जीव आदि सभी पदार्थों-का द्रष्टा अर्थात् सर्वद्रष्टा होनेका ही निषेध करते हैं। उनके निषेधका तात्पर्य यह नहीं है कि कोई अन्य परिच्छिन्न-दर्शन-शक्ति-सम्पन्न द्रष्टा अर्थात् अल्प-द्रष्टा भी नहीं है। जिस प्रकार 'पार्थ ही धनुर्धर हैं' इस कथनका यह अर्थ नहीं है कि पार्थसे इतर कोई अन्य धनुर्धर ही नहीं है, प्रत्युत इसका तात्पर्य यही है कि जैसे धनुर्धर पार्थ हैं वैसे उत्कृष्ट धनुर्धर अन्य नहीं हैं; उसी प्रकार उक्त श्रुतिवाक्यका भी अर्थ यही है कि जैसा द्रष्टा ब्रह्म है वैसा द्रष्टा अर्थात् सर्वद्रष्टा उससे भिन्न कोई अन्य नहीं है। इस प्रकार इस श्रुतिवाक्यसे यह नहीं सिद्ध होता है कि जीव ब्रह्मका कर-चरणादिवत् वास्तविक अंश है प्रत्युत यही सूचित होता है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न है तथा उसे ब्रह्मका अंश उपचारवश ही कहा जाता है।

● ५.४.५ ● इस पूर्वपक्षका निरास करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि पूर्वपक्षीका यह कथन वेदार्थरूप कमलके लिए सूर्यके समान भगवान् बादरायणके श्रुति, स्मृति, युक्ति एवं उदाहरण आदिसे पुष्ट 'अंशो नानाव्यपदेशात्' (ब्र० २.३.४३) आदि सूत्रोंका विरोधी है, अतः हम इसे स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि वेदोंका अर्थ करनेमें वेदान्त-विचारकोंमें मूर्द्धन्य ब्रह्मसूत्रकारके विरोधमें पूर्वपक्षियोंको कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। ब्रह्मसूत्रकारके अनुसार श्रुतिमें जीवको ब्रह्मका करचरणादिवत् अंश माना गया है और उससे अभिन्न स्वीकार किया गया है। यदि ऐसा न होता और जैसा कि पूर्वपक्षियोंका मत है उसी प्रकार ब्रह्मसूत्रकारको भी यदि यह मत अभिप्रेत होता कि जीव ब्रह्मका भिन्न अंश है या औपचारिक अंश है तो 'अंशो नाना-व्यपदेशात्' (ब्र० २.३.४३) इस सूत्रका यह पाठ न होता। उस दशामें सूत्रकारने सूत्रके घटक 'अंश' पदके पहले इसके विशेषणके रूपमें 'भिन्न' पदका निवेश किया होता तथा 'अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके' (ब्र० २.३.४३) यह अंश न जोड़ा होता अथवा 'तत्सदृशत्वाद्' ऐसा कहा होता। उक्त स्थितिमें 'मन्त्रवर्णात्' (ब्र० २.३.४४) सूत्र द्वारा निर्दिष्ट 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि' (ऋ० १०.९०.३; शु० य० सं० ३१.३) इत्यादि श्रुति-वाक्यमें अवयवत्व-बोधक 'पाद' शब्द न होता अर्थात् सूत्रकार जीवके ब्रह्मका अवयव होनेके बोधक 'पाद' शब्दसे घटित मन्त्रका निर्देश करनेके लिए

'मन्त्रवर्णात्' (ब्र० २.३.४४) इस सूत्रकी रचना न करते। इसी प्रकार वे 'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५.७) इत्यादि गीता-वाक्यको निर्दिष्ट करनेके लिए 'अपि स्मर्यते' (ब्र० २.३.४५) इस सूत्रको रचना भी न करते। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वपक्षीका जीव-सम्बन्धी मत ब्रह्मसूत्रकारके मतका विरोधी है और इसीलिए उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मसे आत्मा या जीव के व्युच्चरणका प्रतिपादन करनेवाले श्रुतिवाक्यका जो अर्थ पूर्वपक्षियोंने किया है वह युक्तियुक्त नहीं है अतः उस आधारपर भी उनके मतको स्वीकार नहीं किया जा सकता, यह स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती उक्त श्रुतिवाक्यके पूर्वपक्षियोंके द्वारा किये गये पूर्वोक्त अर्थका अनौचित्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि उक्त श्रुतिवाक्यमें विस्फुलिङ्गके दृष्टान्त द्वारा केवल जीवोंकी ही उत्पत्तिका कथन किया गया होता तो पूर्वपक्षीके द्वारा प्रतिपादित प्रकारसे उसका अर्थ करना सम्भवतः उपपन्न भी हो सकता था, किन्तु उसमें तो सभी प्राणों, लोकों, देवों एवं भूतों की भी पूर्वोक्त व्युच्चरणके प्रकारसे ही सृष्टि होनेकी बात कहकर 'सभी आत्माएँ व्युच्चरित होती हैं' ऐसा कहा गया है। ऐसी स्थितिमें जब पूर्वपक्षी प्राण, लोक, देव आदिको नित्य एव सृष्टिकालमें भगवान्के उदरसे विनिर्गत नहीं मानते तो उसी वाक्यमें उल्लिखित आत्माओंको वैसा कैसे मान सकते हैं ? एक बात और है। पूर्वपक्षी उक्त श्रुतिवाक्यमें पठित प्राण, लोक, देव आदिका नित्यत्व या उनकी सृष्टिकालमें भगवान्के उदरसे विनिर्गमनके प्रकारसे सृष्टि भी नहीं स्वीकार करते जिसके आधार पर वे उसी प्रक्रममें पठित जीवोंका उस प्रकारसे भगवान्के उदरसे विनिर्गम एवं नित्यत्व कह सकते।

और पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकते कि उक्त श्रुतिवाक्यमें आत्माओंके निर्गमनका प्रकार ही कहा गया है और उत्पत्ति प्राण आदिकी ही कही गयी है, क्योंकि प्राण, लोक, देव एवं आत्माओं का व्युच्चरण एक ही वाक्यमें पठित है। उसकी व्याख्या करते समय 'व्युच्चरण' का अर्थ प्राण, लोक, देव आदिके प्रसङ्गमें उत्पत्ति एवं आत्माओंके प्रसङ्गमें विनिर्गमन करनेसे वाक्यभेद होगा और यह अर्थ करनेमें कोई विनिगमक भी नहीं है अतः इसके स्थानपर यह अर्थ भी तो किया ही जा सकता है कि व्युच्चरणसे आत्माओंके प्रसङ्गमें उत्पत्ति अभिप्रेत है तथा प्राण, लोक एव देव आदिके प्रसङ्गमें ब्रह्मके उदरसे विनिर्गमन।

उपर्युक्त विवेचनसे श्रुतिके सिद्धान्तका निश्चय नहीं किया जा सकता और निश्चित रूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि श्रुतिमें जीवको ब्रह्मका अंश माननेका प्रतिपादन है या नहीं क्योंकि श्रुतिवाक्योंका अर्थ दोनों प्रकारसे किया जा सकता है। इस प्रकार इस सम्बन्धमें श्रुतिको साधारण मानना चाहिए और उसके आधार पर निर्णय करनेका आग्रह नहीं करना चाहिए। इस पूर्वपक्षको दृष्टिगत रख कर सिद्धान्ती

कहते हैं कि यद्यपि 'जिस प्रकार अग्निसे' (बृ० २.१.२०) इस श्रुतिवाक्यके आधारपर ही यह निश्चय कर पाना सम्भव नहीं है कि जीव ब्रह्मका अंश है अथवा नहीं क्योंकि चिन्तामणि, कल्पतरु, कामधेनु एवं योगी भी पदार्थोंकी सृष्टि कर देते हैं किन्तु उनसे उत्पन्न हुए पदार्थोंको उनका अंश नहीं माना जाता, उसी प्रकार ब्रह्मसे केवल प्राण आदिकी उत्पत्ति भी मान ली जा सकती है और तब उन्हें ब्रह्मका अंश मानना आवश्यक न होगा, तथापि ब्रह्मसूत्रों और उनमें उल्लिखित अन्य श्रुतिवाक्यों एवं स्मृतिवचनों के आधारपर जीवको ब्रह्मका अंश माननेके सिद्धान्तके प्रामाणिक होनेका निश्चय होता है।

* ५.४.६ * ब्रह्मसूत्र आदिके प्रामाण्यसे जीवको ब्रह्मका अंश मान लेनेपर भी उसके असर्वज्ञ होनेकी अनुपपत्ति आदिका जो दोष पूर्वपक्षीने बताया था उसका परिहार करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि पूर्वपक्षीका यह कथन भी उचित नहीं है कि इस प्रकारसे जीवको ब्रह्मका अंश मान लेनेका सिद्धान्त भी जीवके असर्वज्ञ होनेके दोषसे ग्रस्त है क्योंकि जीवके सर्वज्ञत्वादि धर्म भगवदिच्छासे ही तिरोहित हो जाते हैं। स्वयं ब्रह्मसूत्रकार बादरायणने भी जीवके सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंका भगवदिच्छासे ही तिरोहित होना प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि 'जीवके ऐश्वर्यादि तिरोहित हैं। जीवमें इन भगवद्धर्मोंके तिरोधानका कारण भगवान्का अभिध्यान या भगवदिच्छा है। उस तिरोधानके कारण ही जीवका बन्धन होता है और उसीके कारण उसे विपर्यय होता है।' (ब्र० ३.२.५)। सूत्रकारके इस कथनका तात्पर्य यह है कि जीवके ऐश्वर्य आदि धर्म तिरोहित हैं। इन धर्मोंके तिरोधानका कारण पर अर्थात् भगवान् का अभिध्यान या भगवदिच्छा अर्थात् स्वयं अपना और जीवका भी सर्वतः भोग करनेकी भगवत्कर्तृक इच्छा है। भगवान्के इस अभिध्यानके कारण ही जीवमें ऐश्वर्य आदि भगवद्धर्म तिरोहित हो जाते हैं। यदि जीवमें भी ऐश्वर्य आदि भगवद्धर्म पूर्णरूपसे आविर्भूत रहते तो वैचित्र्यके अभावमें भगवत्कर्तृक (स्वयं अपना और जीवोंका सर्वतः) भोग सम्भव न होता अतः भगवान्ने जीवमें अपने धर्मोंका तिरोभाव कर दिया। उस तिरोभावके फलस्वरूप ही जीवका बन्धन होता है और उसमें भगवद्धर्मोंसे विपरीत धर्म आ जाते हैं।[1]

---

१. न च एवम् असार्वज्ञ्यानुपपत्त्यादि-दूषण-ग्रासः, सर्वज्ञत्वादि-धर्माणां भगवदिच्छया एव तिरोभूतत्वात्। यतः सूत्रकारोऽपि इमाम् एव आशङ्कामपाकर्तुम् एवमेव जगाद, 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध-विपर्ययौ' (ब्र० ३.२.५) इति। अस्य जीवस्य ऐश्वर्यादि तिरोहितम्। तत्र हेतुः, पराभिध्यानात्; परस्य भगवतोऽभितो ध्यानं स्वस्य जीवस्य (च) सर्वतो भोगेच्छा तस्माद् हेतोः। ऐश्वर्यादि-सद्भावे वैचित्र्याभावाद् भोगो न भविष्यति इति जीवे तिरोभावं कृतवान् स्वधर्माणाम्।

जीवमें भगवान्के ऐश्वर्य-धर्मके तिरोहित हो जानेके कारण दीनता एवं पराधीनता आ जाती है। भगवान्के वीर्य-गुणका जीवमें तिरोभाव हो जानेके कारण उसे सारे दुःख सहन करने पड़ते हैं। भगवान्के यशोगुणके उसमें तिरोहित हो जानेके कारण वह सबसे हीन हो जाता है। भगवान्के श्रीगुणके उसमें तिरोहित हो जानेके कारण वह जन्म आदि सारी आपत्तियोंका विषय बन जाना है। भगवान्के धर्मरूप ज्ञानके तिरोहित हो जानेके कारण जीवकी देहादि में 'अहम्' बुद्धि हो जाती है और उसे अपस्मार-ग्रस्त व्यक्तिके समान सभी पदार्थोंका विपरीत-ज्ञान होने लगता है। भगवद्धर्मरूप वैराग्यका तिरोभाव हो जानेसे जीवकी विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। आनन्दांश तो पहले ही तिरोहित हो जाता है जिससे जीवभावकी प्राप्ति होती है। इसीलिए ब्रह्मसूत्रकारने 'इतर अर्थात् जीव को आनन्दमय नहीं माना जा सकता क्योंकि उसको आनन्दमय मानना अनुपपन्न है' (ब्र० १.१.१५) एवं 'श्रुतिमें जीवका उल्लेख आनन्दमयसे भिन्न पदार्थके रूपमें किया गया है. इस कारण भी जीवको आनन्दमय नहीं माना जा सकता है।' (ब्र० १.१.१६) इत्यादि सूत्रोंके द्वारा जीवको आनन्दमय माननेके मतका निषेध किया है[1]।

तत एव तिरोभावाद्बन्धो भगवद्धर्म-विपरीत-धर्मवत्त्वञ्चेत्यर्थः। (विद्व०, पृ० १५५)। तुलनीय 'ननु जीवाय भगवान् सृष्टिं करोति प्रदर्शयति च सर्वलीलाम्। अंशश्चायम्। कथमस्य दुःखित्वमित्याशङ्क्य परिहरति तु शब्दः। अस्य जीवस्य ऐश्वर्यादि तिरोहितम्। तत्र हेतुः, पराभिध्यानात्; परस्य भगवतः अभितो ध्यानं, स्वस्य एतस्य च सर्वतो भोगेच्छा, तस्माद् ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्म-तिरोभावः।' (अ० ३.२.५)।

१. ऐश्वर्य-तिरोभावाद् दीनत्वं पराधीनत्वं च; वीर्य-तिरोभावात् सर्व-दुःख-सहनम्; यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वम्; श्रीतिरोभावाज्जन्मादि-सर्वापद्-विषयत्वम्; ज्ञान-तिरोभावाद् देहाद्यहम्बुद्धिः, सर्व-विपरीत-ज्ञानम् अपस्मार-सहितस्य इव; वैराग्य-तिरोभावाद् विषयासक्तिः; आनन्दांशस्तु पूर्वम् एव तिरोहितो येन जीवभावः। अत एव 'नेतरोऽनुपपत्तेः' (ब्र० १.१.१५), 'भेद-व्यपदेशाच्च' (ब्र० १.१.१६) इत्यादिना जीवस्य आनन्दमयत्वं न्यषेधत् सूत्रकारः। (वहीं)।

तुलनीय, 'ऐश्वर्य-तिरोभावाद्दीनत्वं पराधीनत्वं, वीर्य-तिरोभावात् सर्व-दुःख-सहनं, यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वं, श्रीतिरोभावाज्जन्मादि-सर्वापद्विषयत्वं, ज्ञान-तिरोभावाद् देहादिष्वहंबुद्धिः सर्व-विपरीत-ज्ञानञ्च अपस्मार-सहितस्य इव; वैराग्य-तिरोभावाद् विषयासक्तिः। बन्धश्चतुर्णां कार्यं, विपर्ययो द्वयोः। तिरोभावाद् एव एवं, न अन्यथा।'' आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो येन जीवभावः। अत एव काममयः। अकामरूपत्वादानन्दस्य। निद्रा च सुतरां तिरोभावकर्त्री भगवच्छक्तिः। अतोऽस्मिन्

* ५.४.७ * पूर्वपक्षी प्रश्न करते हैं कि, 'ब्रह्मरूप कारणके समान होते हुए भी उसके कार्योंमेंसे कुछ जड और कुछ अन्य चेतन कैसे हो जाते हैं ? और जीवोंमें भी ज्ञानके तिरोहित होनेसे उनमें अल्पज्ञता कैसे है जब कि जड—जिसमें ज्ञान जीवकी भाँति ही तिरोहित है-- में अल्प ज्ञान भी नहीं है ?' इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि इस विषयमें प्राचीन आचार्योंने अधोलिखित बातें कही हैं जिनसे पूर्वपक्षीकी इस शङ्काका समाधान हो जाना चाहिए। श्रुतिके, 'ब्रह्म सत्य-स्वरूप, विज्ञान-स्वरूप एवं आनन्द-स्वरूप है', इस कथनसे ज्ञात होता है कि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्ममें तीन अंश हैं जो स्वरूपभूत हैं। 'जो सर्वज्ञ अर्थात् सर्वविषयकज्ञानवान्' (मु० १.१.९) इत्यादि ब्रह्मनिरूपक वाक्योंके प्रामाण्यसे यह भी मानना चाहिए कि ब्रह्ममें धर्मरूप ज्ञान भी है। 'भगवान्' इस नामकी "'भग'-शब्दवाच्य धर्मरूपज्ञान-वाले परमात्मा" इस व्युत्पत्तिसे भी ब्रह्ममें धर्मरूप ज्ञानके भी होनेका पूर्वोक्त मत माननेके सिद्धान्तकी पुष्टि होती है। ब्रह्मके स्वरूपात्मक सत्, चित् एवं आनन्द इन तीन अंशोंमेंसे एक अंश—सदंश—से जडका उद्गम होता है, यह श्रुतिमें पहले निरूपित किया गया है, तदनन्तर ब्रह्मके स्वरूपात्मक चिदंशसे चिद्रूप जीवोंके उद्गमका निरूपण किया गया है। अतः जड पदार्थोंमें चिदंशका तिरोभाव रहता है क्योंकि वे सदंश-मात्रसे उत्पन्न होते हैं। सदंशसे उद्गत होनेके कारण जीवकी उपलब्धि होती है और चिदंशसे उद्गत होनेके कारण वह चिद्रूप होता है, अतः उसमें केवल आनन्दांशका ही तिरोभाव रहता है। जडमें यदि सत्का तिरोभाव हो जाये तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा। इसी प्रकार जीवमें यदि सत् और चित् इन दोनोंका भी तिरोभाव हो जाये तो उसकी भी स्वरूपहानि हो जायेगी। अतः जीवमें सत् और चित् तिरोहित नहीं हैं प्रत्युत 'भग'-शब्दवाच्य धर्मरूपज्ञान ही तिरोहित है। अतः हमारा पूर्वोक्त सिद्धान्त निर्दोष और उपपन्न है। यहाँ यह भी जान लेना अपेक्षित है कि इस तिरोभावकी नियामिका भगवदिच्छा ही है।

● ५.५.० * जीव भगवदंश है और एतावता उसका ब्रह्मसे तादात्म्य-सम्बन्ध है, यह स्वीकार कर, भगवदिच्छासे जीवमें भगवद्गुणोंका तिरोभाव होनेका सिद्धान्त, ग्रन्थकारने प्रतिपादित किया है। इस विषयमें पूर्वपक्षी शङ्का उपस्थित करते हुए कहते हैं कि भगवान् ब्रह्म-स्वरूप जीवोंके ऐश्वर्य, वीर्य आदि सहज-गुण तिरोहित कर देते हैं और उन्हें मिथ्या-ज्ञान आदि दोषोंसे युक्त कर देते हैं यह मान लेनेपर ब्रह्ममें उपस्थितहानि और अकृताभ्यागम दोषोंके होनेका अनिष्टप्रसङ्ग आ उपस्थित होता है, अतः ऐसा मानना उचित नहीं है। सिद्धान्तीका कहना है कि पूर्वपक्षीका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उपस्थित-हानि एवं अकृताभ्यागम को ब्रह्ममें नहीं केवल जीव—और

प्रस्तावे जीवस्य धर्म-तिरोभाव उक्तः। अन्यथा भगवत ऐश्वर्यादिलीला निर्विषया स्यात्। (अ० ३.२.५)।

वह भी स्वतन्त्र नहीं बल्कि अस्वतन्त्र जीव—या उसकी कृति में ही दोष माना जाता है।

• ५.५.१ • अवधेय है कि उपस्थितहानि दोषसे तात्पर्य यहाँ कृतनाशसे नहीं प्रत्युत नित्य-सिद्ध-धर्मकी निवृत्तिसे है। इसी प्रकार अकृताभ्यागमसे तात्पर्य अकृत-कर्म-सम्बन्धी फलकी प्राप्तिसे है। ये दोनों दोष भगवदिच्छासे जीवमें आपादित होते हैं और इस प्रकार इन दोषोंका प्रयोजक ब्रह्म है। ब्रह्मके इन दोषोंका प्रयोजक होनेके कारण पूर्वपक्षीने यहाँ इनके ब्रह्ममें प्रसक्त होनेकी बात कही है। सिद्धान्ती दूषणके विषयका निर्धारण करते हुए उनकी इस आशङ्काका निराकरण करते हैं। पूर्वपक्षी उपस्थितहानि एवं अकृताभ्यागम को दोष क्यों मानते हैं? इनके कृतिके विषयको दूषित करनेके कारण या कृतिको दूषित करनेके कारण या कर्ताको दूषित करनेके कारण? इनमेंसे प्रथम विकल्पको स्वीकार करने पर तो चोरादिके द्वारा लूट लिये गये सज्जन व्यक्तिको भी दुष्ट माननेका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा; अतः प्रथम विकल्प स्वीकार नहीं किया जा सकता। द्वितीय एवं तृतीय विकल्प स्वीकार करने पर भी उपस्थित-हानि एवं अकृताभ्यागम को ब्रह्ममें दोष नहीं माना जा सकता, यह प्रतिपादित करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि इन्हें जीवकी कृतिमें अथवा जीवमें होने पर ही दोष माना जा सकता है। उनका कहना है कि वस्तुतः इन्हें स्वतन्त्र जीवोंमें भी दोष नहीं माना जाता है क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि स्वतन्त्र राजा लोग अपने विहारके लिए अपने प्राचीन विचित्र भवनों, प्राकारों एवं गोपुरों आदिको तुड़वा कर, उसी स्थान पर आँगन, उद्यान आदि बनवा देते हैं। कभी-कभी वे अपने सेवकोंके ऐश्वर्यादिका हरण कर लेते हैं और पुनः उनकी निरपेक्ष सेवासे सन्तुष्ट होकर उन्हें बहुशः ऐश्वर्यादिका दान भी करते हैं। जब लोकमें राजा लोग ऐसा कर सकते हैं तो सकल लोकोंके नियामक और सारे जगत्के कारणके भी कारण भगवान्के अपने दासस्वरूप जीवके अन्यथाकरणमें शङ्का करनेका अवसर ही कहाँ है?

और पूर्वपक्षीकी विचारसरणिका अनुसरण करने पर तो जगत्के सृजन एवं संहार के कर्ताके रूपमें भी जीवोंमें अकृताभ्यागम एवं उपस्थित-हानि के आपादक भगवान्में ये दोनों दोष प्रसक्त होंगे क्योंकि सृष्टि, स्थिति एवं संहार में भी कर्तृत्व तो भगवान्का ही होता है और वे जब सृष्टि करते हैं तो जीवोंको जिस स्थितिमें रखते हैं उसमें जीवोंमें अकृताभ्यागमका आपादन होता है एवं जब लय या संहार करते हैं तो जीवोंमें उपस्थितहानिका आपादन होता है। किन्तु श्रुतिमें उन्हें सृष्टि, स्थिति एवं संहार का कर्ता कहा गया है और इस कर्तृत्वके कारण उनमें अकृताभ्यागम एवं उपस्थित-हानि दोषोंकी प्रसक्ति स्वीकार नहीं की गयी है। अतः लोक एवं वेद दोनोंके अनुसार, भगवान्में अकृताभ्यागम एवं उपस्थितहानि को दोषरूप मानना उपपन्न नहीं है।

सिद्धान्तीका कहना है कि पूर्वपक्षीका यह कथन भी युक्तियुक्त न होगा कि

'ईश्वरको सृष्टि, स्थिति एवं संहार का कर्ता माननेसे उनमें अकृताभ्यागम और उपस्थित-हानि दोषोंकी प्रसक्ति होती है, अतः उन्हें सृष्टि-स्थिति-संहार-कर्ता नहीं मानना चाहिए अर्थात् यह मानना चाहिए कि वेदोंमें उन्हें सृष्टि-स्थिति-संहार-कर्ता नहीं माना गया है', क्योंकि यदि इस प्रकारसे दोषग्रस्त होनेके भयसे ईश्वरको सृष्टिकर्ता एवं संहार-कर्ता न माना जायेगा तो (ईश्वरेतर किसी अन्य कर्ताके भी स्वीकार न किये जानेके कारण, कर्ताके अभावमें सृष्टि एवं संहार अनुपपन्न हो जायेगा तथा उत्पत्ति एवं नाश न होनेके कारण) जगत्को नित्य मानना होगा तथा 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' माननेवाले मीमांसक दार्शनिकोंके मतमें प्रवेश होगा। अथवा ईश्वरको सृष्टिकर्ता न माननेपर (किसी अन्य सृष्टिकर्ताके भी स्वीकार न किये जानेसे, कर्ताके अभावमें) जगत्की उत्पत्ति ही सम्भव न होगी; किन्तु हमें जगत्की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है और उसकी स्थिति-शीलताका अपलाप नहीं किया जा सकता, अतः जगत्की उत्पत्तिका असम्भव होना प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है। सभी प्रत्यक्ष-ग्राह्य पदार्थ जनित होते हैं और जगत् प्रत्यक्षग्राह्य है अतः इसकी भी उत्पत्ति हुई है, यह मानना ही तर्क-सङ्गत भी है। अतः लोक और वेद के भी अनुसार भगवान्में अकृताभ्यागम एवं उपस्थितहानि को दोषरूप मानना ठीक नहीं है।

* ५.५.२ • पूर्वोक्त प्रकारसे जीवके विपर्ययको भगवदिच्छाके अधीन बताकर अब उसके बन्धनके भी भगवदिच्छाधीन या भगवत्कर्तृक, न कि अविद्या-कर्तृक, होनेका प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जीवका बन्धन भी भगवदिच्छाकृत ही है, अविद्या-कृत नहीं, क्योंकि स्वयं भगवान्ने गीता (७.१२-१४ आदि) में मायाको स्वाधीन एवं जीव-कर्तृक भगवद्विषयक अज्ञान या बन्धन को अपनी उस मायाके द्वारा हुआ बताया है। माया भगवदधीन है तथा मायाके कारण सारा जगत् मोहग्रस्त होकर भगवान्के स्वरूपसे अनभिज्ञ एवं बन्धनग्रस्त हो गया है, अतः बन्धनकी कारणभूत मायाके भगवदधीन होनेसे बन्धन भी भगवदिच्छाधीन ही है, अविद्या-संसर्ग-कृत नहीं। विद्वन्मण्डनकारके अनुसार जिस जीवको जिस स्थितिमें रखनेकी भगवदिच्छा होती है उस जीवको वैसी स्थितिमें रखनेके लिए अपेक्षित अविद्या आदि भगवच्छक्तियाँ उस जीवको व्याप्त कर लेती हैं। यह सारा ऐश्वर्य भगवत्सम्बन्धी ही है, इसमें अविद्या-संसर्ग-कृत कुछ नहीं है अर्थात् जीवके बन्धन आदिका मूल कारण भगवदिच्छा ही है,[1] शाङ्कर-मताभिमत अविद्या

---

१. यतो भगवान् स्वयमेव ··· (गीता ७.१२-१३) इति मायामोहेन स्वाज्ञानम् उक्त्वा, स्वेच्छया एव च माया मोहयति इति निरूपणार्थं स्वाधीनत्वं मायायाः, 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया' (गीता ७.१४) इति निरूपितवान्। अतोऽपि भगवदिच्छाधीनता एव बन्धस्य अपि। (विद्व०, पृ० ११८)।

नहीं। अविद्याके भगवदधीन होने तथा उपस्थित-हानि एवं अकृताभ्यागमके भगवान्में दूषणरूप न होने की पुष्टि भगवद्गीताके वाक्यों (गीता ९.१३; १०.५; १५.१५) से भी होती है।

* ५.५.३ * पूर्वपक्षीका कहना है कि अभेद-पक्ष अर्थात् ब्रह्म एवं जीव में अभेदकी स्थिति में तो यह कल्पना की जा सकती है कि उपस्थित-हानि एवं अकृताभ्यागम दोष नही हैं क्योंकि ब्रह्ममें इन्हें दोष नहीं माना जा सकता, किन्तु भेदपक्षमें अर्थात् जीवके ब्रह्मसे भिन्न होनेकी स्थितिमें तो उक्त दोषोंको जीवोंके कर्मोंके अधीन मानकर जीवको इन दोषोंसे युक्त कहा ही जा सकता है। अतः भेदपक्ष स्वीकार कर यह मानना ही ठीक है कि जीव अपने कर्मोंके कारण उपस्थित-हानि एवं अकृताभ्यागम दोषोंसे युक्त हो जाता है। इस पूर्वपक्षका निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि स्वबुद्धि-परिकल्पित युक्तियोंके आधारपर उन्नीत पदार्थमें इन दूषणोंकी उद्भावना भले ही की जा सकती हो जिससे उस पदार्थकी कल्पना इस रूपमें की जा सके कि उसमें ये दोष न आयें किन्तु श्रुतिसिद्ध पदार्थमे इन दोषोंकी उद्भावना नही की जा सकती क्योंकि श्रुति राजाज्ञाकी तरह है जो आक्षेपका विषय नहीं हो सकती।[1]

* ५.५.४ * 'यह परमात्मा जिसको इन लोकोंसे ऊपर उठाना चाहता है उससे स्वयं यह परमात्मा ही सत्कर्म कराता है और जिसको यह इन लोकोसे नीचे ले जाना चाहता है उससे स्वयं यह परमात्मा ही असाधु कर्म कराता है' (कौ० ३.८) यह श्रुतिवाक्य भी इसी अर्थको प्रतिपादित करता है जिसे हम अभी कह चुके हैं। इसी प्रकार 'जो आत्मामें रहता हुआ, आत्माका अन्तर्यामी अर्थात् अन्दरसे ही नियमन करनेवाला है' (शतप० १४.५.५.३०) इत्यादि श्रुतिवाक्यमें भी यही बात कही गयी है। इसीलिए 'इससे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा नहीं है' (बृ० ३.७.२३) यह वाक्य भी सङ्गत हो जाता है क्योंकि अन्य (अर्थात् जीव आदि) में स्वतन्त्र कर्तृत्वका अभाव है। यही कारण है कि ब्रह्मसूत्रकार भगवान् वेदव्यासने भी जीवके कर्तृत्वका निरूपण करके, 'जीवका कर्तृत्व स्वतः (अर्थात् जीवका अपना स्वयंका ही) है अथवा वह उसे ईश्वरसे प्राप्त होता है' यह आशङ्का करके, 'कर्तृत्व जीवमें पर अर्थात् ब्रह्म से ही आता है क्योंकि श्रुतिमें वर्ता एवं कारयिता ब्रह्मको ही कहा गया है' (ब्र० २.३.४१) इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। अतः जीवके सर्वथा परतन्त्र होनेके कारण अकृताभ्यागमको जीवमें दोषरूप नहीं माना जा सकता[2]।

---

१. स्वयोक्तिकेऽर्थे तु इदं दूषणम् उद्भाव्यं स्याद् येन तथैव कल्प्येत, न तु श्रुतिसिद्धे, राजाज्ञायाः पर्यनुयोगानर्हत्वात्। (वही, पृ० १५९)।

२. अतः अकृताभ्यागमो जीवे न दोषाय, सर्वथा परतन्त्रत्वात्। (वहीं)।

ग्रन्थकारके उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि जैसे राजाज्ञा पर्यनुयोगार्ह नहीं होती, उसे उसी रूपमें स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार 'वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्' (गीता १५.१५) कहनेवाले भगवान्‌की आज्ञारूप श्रुतिवाक्य भी पर्यनुयोगार्ह नहीं हैं, उन्हें केवल समझा और माना ही जा सकता है, उनमें प्रतिपादित अर्थ पर वर्जनार्थक प्रश्न या आक्षेप नहीं किया जा सकता। और उन वाक्योंमें सभी कुछ (अर्थात् सर्व-कर्मकारयितृत्व, सर्व-जीव-संयमन-कर्तृत्व एवं सर्वजीवप्रेरकत्व आदि) भगवदिच्छाधीन बताया गया है। अतः जीवका बन्धन एवं मोक्ष भगवदिच्छाधीन ही है और उसका सब कुछ भगवदिच्छाधीन होनेके कारण उसमें उपस्थित-हानि एवं अकृताभ्युपगम को दोषरूप नहीं माना जा सकता। स्वतन्त्र कर्तृत्व एवं द्रष्टृत्व केवल भगवान्‌में ही है, इसीलिए 'इस परमात्मासे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा नहीं है' (बृ० ३.७.२३) इत्यादि श्रुतिवाक्य भी सङ्गत हो जाते हैं। इस श्रौत-मतको दृढ करनेके लिए, इसकी पुष्टिके लिए ब्रह्म-सूत्रकारको एतद्विषयक सम्मतिका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि व्यासने भी 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (ब्र० २.३.३३) इस सूत्रसे प्रारम्भ होनेवाले अष्टसूत्रात्मक अधिकरणमें जीवके कर्तृत्वका निरूपण कर, 'जीव स्वतन्त्रतया कर्ता है या उसका कर्तृत्व भगवदधीन है', इस संशयका निराकरण करते हुए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि जीवका कर्तृत्व स्वतन्त्र नहीं भगवदधीन है क्योंकि श्रुतिसे जीवका कर्तृत्व भगवदधीन ही सिद्ध होता है। अतः जीवके सर्वथा परतन्त्र अर्थात् भगवदधीन होनेके कारण अकृताभ्यागम जीवमें होते हुए भी, श्रुतिसिद्ध होनेसे दूषण नहीं माना जा सकता, और इस दोषके कारण सिद्धान्तीके मतके सदोष होनेकी बात नहीं कही जा सकती।

* ५.५.५ * पार्थसारथि मिश्र प्रभृति जो मीमांसा-दार्शनिक ईश्वरवादी हैं और यह मानते हैं कि ईश्वर जीवकृत धर्माधर्मसापेक्ष होकर जीवोंसे सुकृत या दुष्कृत कराते हैं उनके द्वारा दिये गये उपस्थितहानि एवं अकृताभ्यागम दोषोंके समाधानको अनुपयुक्तता दिखाते हुए ग्रन्थकार बताते हैं कि उनके इस मतको मान लेने पर अन्ततः अनीश्वरवाद ही आपतित होता है[1]।

यहाँ विद्वन्मण्डनकार जिस पूर्वपक्षका निराकरण कर रहे हैं वह उन पूर्व-मीमांसकोंका मत है जो ईश्वरवादी हैं। इसे स्पष्ट करते हुए विद्वन्मण्डन-टिप्पणीकार कहते हैं कि यह वस्तुतः पार्थसारथि मिश्र प्रभृति मीमांसकोंका मत है क्योंकि अन्य

---

१. ये तु इमां शङ्कां परिहर्तुं, पूर्वं जीवकृत-धर्माधर्म-सापेक्ष एव ईश्वरः कारयति— अतो न अकृताभ्यागमो जीवे इति वदन्ति, तेषाम् अनीश्वरवाद एव आपद्येत। (विद्व०, पृ० १६०-१६१)।

मीमांसक ईश्वरको स्वीकार नहीं करते और 'धर्माधर्म-सापेक्ष ईश्वर कर्म कराते हैं', इस मतको उन अनीश्वरवादी मीमांसकोंका अभिमत मत नहीं कहा जा सकता। यहाँ टिप्पणीकारने अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि 'जैमिनिको भी ईश्वरकी सत्ता अस्वीकार नहीं है', ऐसा कहा जा सकता है। वे लिखते हैं, "जैमिनेरपि नेश्वरोऽनभिमतः इति वक्तुं शक्यम्। 'अन्यार्थं तु जैमिनिः'··· (ब्र० १.४.१८) 'सम्पत्तेरिति जैमिनिः···' (ब्र० १.२.३१) 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वाद्' (ब्र० ४.३.१३) इत्यादि-ब्रह्मसूत्रैः परमास्तिकत्वावगमात्। भारते हय-शिर-उपाख्यानादिषु जैमिनये व्यासेन परमात्मतत्त्वोपदेशाच्च। तदानीन्तन-जनाधिकारमनुसृत्य कर्मप्राधान्य-बोधनाय ईश्वरस्य व्यक्तमनुक्तेः। केवलम् अपूर्वशब्देन एव तद्बोधनात्। अतो ये सूत्र-विवरीतारः ईश्वरं नाभ्युपायन् ते इदमाशयापरिज्ञानाद् एव। अत्र विस्तरः सेश्वरमीमांसा-श्रुतप्रकाशिकादितो वेद्यः।"

(विद्व० टि० पृ० १६०)।

इस विषयमें गङ्गाधर भट्टका कथन है कि यहाँ पूर्वपक्षके रूपमें पूर्वमीमांसकों एवं उनके अनुयायी वेदान्तियों का मत उपन्यस्त किया गया है।

उन दार्शनिकोंका कथन है कि 'ईश्वर पूर्वकालमें जीवोंद्वारा किये गये धर्म या अधर्म की अपेक्षा करके नहीं, प्रत्युत स्वतन्त्रतया केवल अपनी इच्छासे ही जीवोंसे सुकृत या दुष्कृत कराते हैं', यह मान लेनेपर प्रवर्तक एवं निवर्तक दोनों ईश्वर ही हो जायेंगे और ऐसी स्थितिमें, 'स्वर्गकी कामना करनेवाले व्यक्तियोंको (ज्योतिष्टोम) यज्ञ करना चाहिए' इत्यादि विधिपरक एवं 'ब्राह्मणका वध नहीं करना चाहिए' इत्यादि निषेधपरक श्रुतिवाक्य निरर्थक हो जायेंगे। अतः यह मानना ही उचित है कि विधिपरक श्रुतिवाक्यों द्वारा प्रवृत्त हो रहे एवं निषेधपरक श्रुतिवाक्यों द्वारा निवृत्त हो रहे जीवोंको ही ईश्वर (विधि-निषेधके सहकारी, न कि मुख्य कारण होकर) प्रवर्तित या निवर्तित करते हैं। किसी व्यक्तिकी विहित कर्ममें प्रवृत्ति होती है और किसीकी नहीं होती, इसी प्रकार किसी व्यक्तिकी निषिद्ध कर्मसे निवृत्ति होती है और किसीकी नहीं होती, इसका निमित्त अर्थात् कारण भी उन व्यक्तियोंके उस प्रकारके अच्छे या बुरे अदृष्टको उत्पन्न करनेवाले पूर्वकृत कर्म ही होते हैं, क्योंकि यह प्रवाह अनादि है। अतः प्रवृत्ति एवं निवृत्ति पूर्वकृत कर्मोंका फलरूप ही है और उसे दोष नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार उपस्थितहानि एवं अकृताभ्यागम स्वरूपतः ही दोष नहीं हैं।

इन दार्शनिकोंके कथनका तात्पर्य यह है कि जीवोंको अकृत कर्मका फल भोगना नहीं पड़ता अतः उनमें अकृताभ्यागम दोष नहीं है और पूर्वकालमें उनके द्वारा किये गये कर्म निष्फल नहीं हो जाते प्रत्युत तदनुसार ही उनकी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति होती रहती है अतः उनमें कृतनाश या उपस्थित-हानि दोष भी नहीं है। इस प्रकार जीवोंके पूर्व-

पूर्वके कर्म उनकी तत्तत् प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के कारण हैं और यह प्रवाह अनादि है। ईश्वर जीवोंके इन पूर्वकृत कर्मोंको दृष्टिगत करके ही उन्हें तदनुरूप तत्तत् कर्मोंमें प्रवृत्त या उनसे निवृत्त कराते हैं। जीवोंकी प्रवृत्ति-निवृत्तिके आधार विधि-निषेधपरक श्रुति-वाक्य हैं। किन्तु इन श्रुतिवाक्योंसे सभी समान-रूपसे प्रवृत्त या निवृत्त नहीं होते प्रत्युत विभिन्न जीव अपने पूर्वकृत कर्मोंसे जन्य अदृष्टके अनुरूप ही प्रवृत्त या निवृत्त होते हैं और ईश्वर उनकी उन कर्मोंके अनुरूप ही प्रवृत्ति या निवृत्ति करानेमें सहकारी होते हैं। इस प्रकार जीवकी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में मूल-कारण उसके पूर्वकृत कर्म तथा श्रुतिके विधि-निषेध-परक वाक्य हैं, ईश्वर केवल सहकारी कारण हैं। ईश्वरको मुख्य कारण मानना और यह कहना कि ईश्वर जीवकृत-पूर्व-कर्म-निरपेक्ष होकर (अर्थात् जीव-कृत पूर्व-कर्मोंको दृष्टिगत न करते हुए) स्वतन्त्रतया केवल अपनी इच्छासे ही जीवोंसे सुकृत या दुष्कृत कराते हैं, श्रुतिके विधि-निषेध-परक वाक्योंको निरर्थक बना देगा। यदि जीव अपनी इच्छासे स्वतन्त्रतया कर्म कर ही नहीं सकता तो उसके लिए 'यज्ञ करना चाहिए' या 'ब्राह्मण-वध नहीं करना चाहिए' आदि वाक्योंकी क्या सार्थकता है? जब वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं, ईश्वर-परतन्त्र है, तो उसके लिए न तो विधि-निषेध-वाक्योंकी सार्थकता है और न फलके आकर्षणकी ही। ऐसी स्थितिमें वैदिक वाक्योंको निरर्थक एवं अनवसर-पराहत होनेसे बचानेके लिए ईश्वरको केवल सहकारी कारण मानना ही उचित है।

* ५.५.६ * सिद्धान्तीका कथन है कि पूर्वपक्षी मीमांसकोंके उक्त मतको स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि कर्म-सापेक्ष ईश्वरकी कल्पनाकी अपेक्षा ईश्वरानपेक्ष कर्मकी कल्पनामें ही कल्पना-लाघव होनेके कारण अन्ततः इस मतका पर्यवसान अनीश्वरवादमें ही होता है। इन पूर्वपक्षियोंका यह कहना भी ठीक न होगा कि 'जड होनेके कारण कर्म फल-समर्पक नहीं हो सकता, अतः कर्मफलकी अन्यथानुपपत्तिसे कर्मफलसमर्पक ईश्वरकी सिद्धि होती है', क्योंकि उक्त अन्यथानुपपत्तिसे तो कर्मके ही फल-समर्पक होनेकी बात भी कही जा सकती है। और इन पूर्वपक्षियोंका यह कहना कि 'कर्मापेक्ष ईश्वरकी उक्त कल्पना निराधार नहीं प्रत्युत 'कृत-प्रयत्ना-पेक्षस्तु विहित-प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' (ब्र० २.३.४२) इस ब्रह्मसूत्रके अनुसार की गयी है', उक्त ब्रह्मसूत्रके ठीक अर्थको न समझकर उससे अविचारित-रमणीय निष्कर्ष निकालना होगा।

वस्तुतः 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र० २.३.४१) इत्यादि सूत्रद्वयात्मक इस अधिकरणमें सूत्रकारने यह समझाया है कि जीवका कर्तृत्व—जो प्रकृति या प्राकृत उपाधि से घटित नहीं प्रत्युत निरुपाधिक एवं स्वाभाविक है—जीवके स्वभावके भगवन्निर्भर होनेके कारण मूलतः भगवन्निर्भर है, क्योंकि जैसे जीव स्वयं भगवान्का अंश है वैसे ही उसका कर्तृत्व

भी भगवान्‌के अलौकिक कर्तृत्वकी अंशात्मिका अभिव्यक्ति है। जैसे ऐश्वर्यादि गुणोंकी आंशिक उपलब्धि जीवमें होती है किन्तु मूलतः ऐश्वर्यादि गुण हैं भगवदीय ही; उसी तरह सभी जीवोंके कर्तृत्व मूलतः भगवत्सामर्थ्यकी ही लोकमें आंशिक अभिव्यक्ति हैं। वस्तुतः कर्ता-कारयिता भगवान् ही होते हैं। वह भगवान् सर्वकर्त्ता, सर्वभोक्ता, सर्वनियन्ता हैं। जब वे सर्वरूप ही हैं तो फिर उनमें किसी भी प्रकारके दोषकी सम्भावना ही नहीं रह जाती[1]।

* २.३.७ * इस अधिकरणके घटक 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित-प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' (ब्र० २.३.४२) इस सूत्रका अर्थ यह है कि 'एकोऽहं बहु स्याम्' (तै० २.६.१) इस श्रुतिवाक्यके अनुसार विचार करें तो भगवान्‌का क्रीडार्थ सृष्टिरूप प्रयत्न रमणेच्छावश है। अतः यहाँ क्रीडा ही मुख्य है और अन्य सभी कुछ गौण है। अतः विचित्र रसानुभवार्थ भगवान् क्रीडा-सापेक्ष होकर 'जो ऐसे कर्म करेगा उसे ऐसा फल दूँगा' ऐसी मर्यादा बाँधते हैं तथा इस मर्यादाको वेद आदि शास्त्रों द्वारा लोकमें प्रकट करते हैं। इस तरह वे जीवके व्युच्चरणके समय ही किस जीवको किस समय कहाँ किस कर्ममें प्रवृत्त और किस कर्मसे निवृत्त कर कैसा फल देंगे यह निर्धारण कर लेते हैं। तत्पश्चात् इसीके अनुसार जीवकी रुचि, इच्छा, प्रयत्न और कृति होती रहती हैं और तत्तत् कर्मके अनुसार उन्हें तत्तत् फल पूर्व-निर्धारित रीतिसे भगवान् देते रहते हैं। इस तरह जीवोंकी रुचि, इच्छा तथा प्रयत्न उनके भगवन्निर्धारित स्वभावपर, जिसे भगवान् क्रीडार्थ निर्धारित करते हैं, अवलम्बित होते हैं। इसी जीव-स्वभाव-भेदको लक्ष्यमें रखकर भगवान् तत्तत् जीवोंको कर्मार्थ प्रेरित करते हैं क्योंकि यागादि विहित एवं ब्रह्महत्यादि निषिद्ध कर्मोंके स्वर्ग एवं नरक आदिरूप तत्तत् फलोंका साधन होने की सार्थकता इसी प्रकार सम्भव है अन्यथा ईश्वरके ही कारयिता एवं फलदाता होनेसे वे व्यर्थ हो जायेंगे। इसीलिए सूत्रस्थ 'आदि' पदसे यह सूचित किया गया है कि भगवान् बिना तत्तत् कर्म कराये उनके फल नहीं देते। अत एव श्रुतिमें भी भगवान् द्वारा जीवोंसे कर्म करानेमें उन्हें उन कर्मोंका फल देनेकी इच्छाको ही हेतु बताते हुए कहा गया है कि वे जिसको उन्नतिरूप फल देना चाहते हैं उससे साधु कर्म कराते हैं और जिसे अधःपतनरूप फल देना चाहते हैं उससे असाधु कर्म कराते हैं[2]।

---

१. कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव। तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्वं तदंशत्वाद् ऐश्वर्यादिवत्। न तु जडगतमिति। अतो 'नान्योऽतोऽस्ति' (ब्र० ३.७.२३) इति सर्व-कर्तृत्वं घटते।... तस्यैव कर्तृत्व-कारयितृत्व-श्रवणात्। 'यमधो निनीषति तमसाधु कारयति' (द्र०, को० ३.८) इति। सर्वकर्ता सर्वभोक्ता सर्वनियन्ता इति। सर्वरूपत्वान्न भगवति दोषः। (अ० २.३.४१)।

२. 'एकोऽहं बहु स्याम्' (तै० २.६.१) इति प्रपञ्चे रमणेच्छया हि भगवान् क्रीडार्थं

श्रीवल्लभाचार्यने इसे समझाते हुए अपने अणुभाष्यमें कहा है कि जिस प्रकार पिता पहले अपने बालक पुत्रको पदार्थोंका गुण-दोष बता देता है और उसके बाद उसका जिस प्रकारके पदार्थको प्राप्त करनेके प्रयत्नमें अभिनिवेश देखता है उससे उसी प्रकारका कर्म कराता है, उसी प्रकार ईश्वर भी जीवको फल देनेके लिए उससे कर्म कराते हैं। श्रुतिमें कहा गया है कि भगवान् कर्मापेक्ष होकर फलदान करते हैं अतः यह मानना ही उचित है कि भगवान् फलदानार्थ कर्मोंकी अपेक्षा, कर्म करानेमें जीवकृत-प्रयत्नोंकी अपेक्षा, जीवकृत प्रयत्नोंमें जीवोंकी कामनाओं या इच्छाओं की अपेक्षा, और स्वर्गादिरूप कामनाओंमें लोक-प्रवाह एवं जीवके स्वभाव की अपेक्षा से जीवोंको कर्म कराते हैं। इस प्रकार जीवसे कर्म कराते हुए उसका नियन्त्रण करनेसे भगवान्में कर्मादि-सापेक्षत्व-जन्य अनीश्वरत्व नहीं आता, क्योंकि उन्होंने स्वयं ही मर्यादा-मार्गका निर्माण की अपनी स्वतन्त्र इच्छासे इसी रूपमें किया है। पुष्टिमार्गमें भगवान् अपनी इस स्वस्थापित मर्यादाकी भी उपेक्षा करते हैं, अतः जहाँ स्वतन्त्र भगवान्के इस मर्यादासे न बँधनेका उल्लेख मिले उसे पुष्टिका उदाहरण समझना चाहिए[1]।

विद्वन्मण्डनकारके अनुसार श्रीवल्लभाचार्य द्वारा निरूपित यह पक्ष उनके अपने पक्षसे भिन्न नहीं है क्योंकि इसमें भी हेतुरूपमें भगवत्कृत मर्यादाको उपन्यस्त किया गया है और उस मर्यादाकरणका भगवान्की क्रीडनेच्छासे भिन्न अन्य कोई कारण नहीं हो सकता[2]।

कृत-प्रयत्नः। तदा हि क्रीडैव मुख्या, अन्यत्सर्वमुपसर्जनीभूतम्। तथा च तदपेक्षो भगवान् विचित्र-रसानुभवार्थम् 'एवं यः करिष्यति तमेवं करिष्यामि' इति स्वयमेव मर्यादां चकार।···ततश्च स्वकृत-तद्रक्षणाय ज्ञापनाय च वेदं चकार। तथा च जीवोत्पादन-समय एव 'एनं जीवमस्मिन् देशेऽस्मिन् काले एतत्प्रयुक्त-प्रवृत्ति-निवृत्ति-मन्तं विधायैतदेतत्फलं दास्यामि' इत्यामोक्षं प्रतिजीवं विचारितवानिति तदनुसारेणैव ते तथा भवन्तीत्येवंप्रकारेण कृतो यः क्रीडार्थं प्रयत्न उद्यमो, जीवादिवैचित्र्यादि-करणे तदपेक्षस्तदधीन एव कारयति भगवान्।···श्रुतिरपि कर्मकारणे फलदानेच्छामेव हेतुत्वेनानुवदति, 'यम् · उन्निनीषति ···अधो निनीषति' (को० ३.८) इति। (विद्व०, पृ० १६४)।

१. आचार्याः तु, 'यथा पुत्रं यतमानं बालं वा पदार्थ-गुण-दोषौ वर्णयन्नपि यत्प्रयत्नाभिनिवेशं पश्यति तथैव कारयति। फल-दानार्थं श्रुतौ कर्मापेक्षाकथनात् फल-दाने कर्मापेक्षः, कर्म-कारणे जीव-कृतप्रयत्नापेक्षः, प्रयत्ने तत्कामापेक्षः स्वर्गादिकामे च लोक-प्रवाहापेक्षः कारयति, इति न ब्रह्मणो दोषगन्धोऽपि। न च एवम् अनीश्वरत्वम्, मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्। यत्र तु अन्यथा तत्र पुष्टि-मार्गाङ्गीकारः।' (द्र०, अ० २.३.४२) इत्याहुः। (विद्व०, पृ० १६५)।

२. अयम् अपि पक्षः स्वकृत-मर्यादायाः एव हेतुत्वेन कथनात् मर्यादाकरणे च क्रीडेच्छाम् ऋते हेत्वन्तरस्य असम्भवाद् अस्मदुक्तात् न अतिरिच्यते। (वहीं)।

● ५.५.८ ● जीव-स्वरूप-सम्बन्धी उपर्युक्त विचारसे स्पष्ट है कि जीव भगवान्‌का अंश है तथा भगवान्‌ने स्वयं अपने गुणधर्मोंके या स्वरूपानन्दके अनुभवार्थ जिस रूपमें आवश्यक प्रतीत हुआ, उस रूपमें स्वयं ही अंशात्मना अपने आपको प्रकट किया है, या जो क्रीडा भगवान् करना चाहते हैं, उसमें सभी स्वात्मक अंशोंको उनका चरित्र पूर्व-निर्धारित कर जगत्‌के रङ्गमञ्चपर उसी प्रकार भेज दिया है जैसे सूत्रधार अपने नटोंको, तत्तत् पात्रोंको, उनका चरित्र समझा कर रङ्गमञ्चपर उपस्थापित करता है। यदि भगवान् उन्हें जगत्‌में कर्मफल-दानार्थ भी भेजते हैं तो पुनः कर्म और कर्मफल स्वयं उनके ही अधीन होनेसे तथा ब्रह्मवादमें कर्मके स्वयं ब्रह्मात्मक होनेके सिद्धान्तके कारण, ईश्वर ही ऐहिक और पारलौकिक सारे फल दे रहा है[1], कोई अन्य तो समर्थ ही नहीं है कि उसकी इच्छाके विपरीत कोई भी फल स्वयं या अन्यद्वारा प्राप्त कर सके। अतः वही हो रहा है जो वह चाहता है। ऐसी स्थितिमें जब जीव स्वयं स्वतन्त्र नहीं है तो उसकी इच्छा, प्रयत्न, कृति या फल कैसे स्वतन्त्र हो सकते हैं ? ब्रह्म क्रीडार्थ ही प्रपञ्चके रूपमें आविर्भूत हुआ है और क्रीडार्थ ही जीवके रूपमें। जीवकृत-साधनरूपमें भी वह स्वयं आविर्भूत है और तत्साधन-लभ्य फलरूपमें भी। अत एव जो व्यक्ति यह सोचता है कि मैं कर्ता हूँ, इस क्रिया द्वारा उत्पन्न फलका स्वामी और भोक्ता मैं हूँ, वह निश्चय ही स्वयंको, अपने कर्मोंको तथा उनके फलोंको भ्रान्तिवश अब्रह्मात्मक मान बैठा है, और उसमें यह अहन्ता-ममतात्मक भ्रान्ति भी भगवान्‌की शक्ति अविद्या द्वारा पैदा हो रही है। स्पष्टतया ऐसी स्थितिमें जीवकी इच्छा, प्रयत्न, कृति या फल किसीको भी स्वतन्त्र समझना अज्ञान है[2] और उन्हें ब्रह्मात्मक समझने वाले ब्रह्मवादीकी दृष्टिमें तो सारी सृष्टि भगवदर्थ और भगवदात्मक होगी।

---

१. कर्म फलञ्च द्वयमेवेश्वरेच्छया नियतम्। कर्म पुनर्भगवत्स्वरूपमेव ब्रह्मवादे। (अ० ३.१.११)।
ईश्वरादेव फलं भवति यत्किञ्चिदैहिकं पारलौकिकं वा।···'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' (बृ० ४.४.२२) इति श्रुतिः वस्तुमात्रेशित्वम् असङ्कुचितम् आह। न ह्यन्यस्य वस्त्वन्यो दातुं समर्थोऽतो भगवानेव तथा (=फलदाता) इत्यर्थः। (अ० ३.२.३८)।

२. इदमुक्तं भवति। वस्तुतस्तु 'स वै नैव रेमे' (बृ० १.४.३) इत्यादि-श्रुतिभ्यो रमणार्थमेव प्रपञ्च-रूपेणाविर्भावात्, तदन्तःपाति-पुरुष-रूपेण, तत्कृत-साधन-रूपेण आविर्भूय तत्फल-रूपेण चाविर्भवन् क्रीडति भगवान्। एवं सति, अहमेतत्कर्मकर्ता, एतज्जनितं फलं च मम, अहमेतस्य भोक्ता, इत्यादि-ज्ञानानि स्वस्य, स्वक्रियायाः, तत्फलस्य च अब्रह्मत्वेन ज्ञानाद्, भ्रम-रूपाणि इति मन्तव्यम्। स च अहन्ता-ममतात्मकोऽविद्यया क्रियते। (तत्त्वा० प्र० १.२३)।

* ५.५.९ * 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र० २.३.४१) इत्यादि अधिकरणका जो अर्थ विद्वन्मण्डनकारने यहाँ किया है उसका उल्लेख करते हुए अपने इस मन्तव्यको अपने एक अन्य वादग्रन्थ भक्तिहेतुनिर्णयमें स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है[1] कि 'वाजसनेयिशाखामें (शतपथब्राह्मण और बृहदारण्यकोपनिषद् में) 'पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने अन्वीक्षा करनेपर अपनेसे भिन्न कुछ नहीं देखा' (शतप० १४.४.२.१; बृ० १.४.१) इत्यादि उपक्रमपूर्वक कहा गया है कि 'वह रममाण नहीं हुआ। इसीसे एकाकी पुरुष रममाण नहीं होता। उसने दूसरेकी इच्छा की। वह (सत्य-सङ्कल्प होनेके कारण) जिस प्रकार परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं ऐसा (अर्थात् ऐसे परिमाणवाला) हो गया। उसने अपने इस शरीरको ही दो भागों में विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए।' (शतप० १४.४.३.४; बृ० १.४.३) इत्यादि। इस वाक्यमें दूसरेकी सृष्टिमें उसकी इच्छामात्रके कारण होनेकी बात कही गयी है और दूसरेकी सृष्टिकी कारणभूत इस इच्छाका प्रयोजक रमणेच्छाको बताया गया है। इस प्रकार इस वाक्यका यही अर्थ निकलता है कि उसने जगत्की रचना अपनी क्रीडाके लिए ही की है। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है कि, 'हे महत्तम! चतुर्दशभुवनात्मक समस्त ब्रह्माण्ड आपकी क्रीडाका उपकरण है' (भाग० ४.७.४३) तथा 'हे प्रभो! आपने इस सम्पूर्ण लोकत्रयात्मक जगत्की सृष्टि अपनी क्रीडाके लिए की है किन्तु अन्य दुर्बुद्धि लोग स्वयंको इसका स्वामी समझ बैठते हैं।' (भाग० ८.२२.२०)। ऐसी स्थितिमें अर्थात् सृष्टिकी रचना भगवान्ने अपनी क्रीडाके लिए ही की है यह बात निश्चितरूपसे सिद्ध हो जानेपर, श्रुत्यर्थापत्तिसे अर्थात् भगवदिच्छाको सृष्टिका कारण बतानेवाले श्रुतिवाक्योंके अन्यथा उपपन्न न होनेसे, यह निश्चय होता है कि जगत्की उत्पत्तिकी कारणभूत इच्छाके नियमनके विना जगत्में वैचित्र्य नहीं आ सकता था और जगत्के वैचित्र्यके अभावमें भगवान्की क्रीडा या लीला नहीं हो सकती थी, अतः भगवान् जगद्वैचित्र्यपूर्वक क्रीडा करनेके लिए कालविभाग कर तत्तत् कालमें तत्तत् लीला करते हैं, करेंगे और करते थे। इस प्रकार जब जिस प्रकारसे जिसके द्वारा जहाँ जो होता है, नष्ट होता है, या नहीं होता, उस समय उस प्रकारसे उसके द्वारा वहाँ उसके होने, नष्ट होने या न होने का नियम भगवान्ने सृष्टिके पहले ही बना दिया था और विभिन्न साधनोंका तत्तत् साध्योंको सिद्ध कर सकनेका सामर्थ्य तथा साध्यविशेषके साधनविशेषसे ही सिद्ध हो सकनेका नियम स्वाभाविक न होकर भगवत्कृत ही है। इसीलिए जीवका कर्तृत्व भी ईश्वराधीन ही है। यही बात श्रुतिमें, 'यही उस व्यक्तिसे सत्कर्म कराता है जिसको इन लोकोंसे उन्नत लोकोंमें ले जाना चाहता है।' (कौ० ३.८) इत्यादि

---

१. द्र०, हमारे द्वारा सम्पादित, अनूदित एवं व्याख्यात 'भक्तिहेतुनिर्णयः', पृ० ४९-५२.

वाक्य द्वारा कही गयी है। वेदान्तसूत्रकार व्यासने भी 'परात्तु तच्छ्रुतेः' अर्थात् 'जीवमें कर्तृत्व, जीवके ब्रह्मका अंश होनेके कारण, ब्रह्मके सम्बन्धसे आता है क्योंकि श्रुतिवाक्योंमें ऐसा ही कहा गया है।' (ब्र० २.३.४१) इस सूत्रके द्वारा निर्णय किया है कि श्रुतिका तात्पर्य यही है कि जीवका कर्तृत्व ईश्वराधीन ही है स्वतन्त्र नहीं। इस मतका युक्तिपुरस्सर विस्तारसे प्रतिपादन हमने अपने विद्वन्मण्डनम् नामक ग्रन्थमें किया है।"

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि शुद्धाद्वैतके सन्दर्भमें जहाँ सभी कुछ ब्रह्मात्मक, ब्रह्मकार्य एवं ब्रह्माधीन है, वहाँ जीवका स्वरूप भी केवल ऐच्छिक भेदसे ही भिन्न है। अतः जीवमें या जीवद्वारा जो भी घटित हो रहा है वह ब्रह्मकी इच्छाके विना सम्भव नहीं है और जीवकी रुचि, इच्छा, प्रयत्न, कृति और फल सभी कुछ ब्रह्मतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि केवल ब्रह्म ही स्वतन्त्र है, शेष सभी कुछ ब्रह्मतन्त्र है।

* ५.६.० * श्रीमध्वाचार्य (एवं प्रभाकर मिश्र) आदि पूर्वपक्षी दार्शनिकोंका मत है कि ब्रह्मको निरवयव मानना और जीवको उसका अंश कहना परस्पर-विरुद्ध एवं अनुपपन्न है अतः जीवके अंशत्वको औपचारिक मानना ही उचित है। वस्तुतः 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (क० २.५.१३), 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मु० ३.१.९) एवं 'स वा एष आत्मा हृदि' (छा० ८.३.३) इत्यादि श्रुतिवाक्योंका अनुसरण करते हुए यह मानना ही उचित होगा कि जीव नित्य भिन्न, चेतन, अणु एवं एक-देश-स्थित तत्त्व है और उसे ब्रह्मका अंश उपचारवश ही कहा जाता है।

* ५.६.१ * इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (ऋ० १०.९०.३) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें उल्लिखित अंशत्वकी व्याख्या, 'बहु स्याम्' (तै० २.६.१) इत्यादि वाक्योंमें निरूपित भगवदिच्छाके परिप्रेक्ष्यमें, मुख्यवृत्तिसे ही हो जाती है, अतः इसके लिए गौणी-वृत्तिका आश्रय लेना और अंशत्वको औपचारिक कहना उचित नहीं है। जीवको ब्रह्मसे भिन्न, नित्य, अणुपरिमाण चेतन तत्त्व माननेसे ब्रह्मसूत्रोंका विरोध होता है, इसलिए भी यह मत स्वीकरणीय नहीं है। सूत्रकारने 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इस एकादश-सूत्रात्मक अधिकरण (ब्र० २.३.४३-५३) में जीवको ब्रह्मका अंश माननेके सिद्धान्तमें पूर्वपक्षी द्वारा उत्प्रेक्षित दोषोंके होनेका निराकरण किया है[1]। जीवको ब्रह्मांश न माननेपर सूत्रकारके उक्त निर्णयका विरोध होगा और जीवको ब्रह्मसे भिन्न नित्य तत्त्व माननेपर, ब्रह्मके ज्ञानसे तद्भिन्न जीवका ज्ञान सम्भव न होनेसे, 'एक' के विज्ञानसे 'सर्व' के विज्ञानकी श्रौत प्रतिज्ञा भी भग्न होगी[2]। अतः जीवको ब्रह्मसे नितान्त भिन्न नित्य

१. द्र०, हमारी 'अणुभाष्यसमीक्षा', पृ० १७९-१८०.

२. जीवानां स्वतन्त्र-भिन्नत्वे च एकविज्ञानेन सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञानुपपत्तिः।
(विद्व०, पृ० १६७-१६८)।

अंश मानना और उसके ब्रह्मांशत्वको औपचारिक कहना श्रुतिविरोधी होनेके कारण भी अस्वीकार्य है।

* ५.६.२ * जीवको अणु माननेमें जिन अनुपपत्तियोंके होनेकी बात पूर्वपक्षी कहते हैं उनका खण्डन विद्वन्मण्डनमें श्रीवल्लभाचार्यके अणुभाष्यमें उपन्यस्त तर्कों द्वारा किया गया है। ये तर्क विद्वन्मण्डनकारके अपने तर्क नहीं हैं और इनका विवेचन हमने अपनी अणुभाष्यसमीक्षामें (पृ० १७३-१८० पर) एवं तत्त्वार्थदीपनिबन्धकी स्नेह-प्रपूरणी व्याख्यामें (पृ० १५७-१८६ पर) किया है अतः यहाँ उसका पिष्टपेषण करनेसे विरत रहते हुए हम उनका केवल संक्षेपमें निर्देश करेंगे।

पूर्वपक्षीकी आशङ्का है कि जीवको अणुपरिमाण माननेपर चैतन्यके सारे शरीरमें व्याप्त होनेकी व्याख्या न हो सकेगी। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि जिस प्रकार थोड़ासा चन्दन शरीरके एकदेशमें लगा होते हुए भी सारे शरीरको आनन्द प्रदान करता है उसी प्रकार जीव भी अपने सामर्थ्यसे सारे शरीरको चेतन कर देता है। यहाँ यह कहना युक्तियुक्त न होगा कि 'जीवकी एक स्थानपर स्थिति निश्चित नहीं है अतः पूर्वोक्त दृष्टान्त अकिञ्चित्कर है', क्योंकि 'गुहां प्रविष्टौ' (क० १.३.१) इत्यादि श्रुतिवाक्यमें जीवकी हृदयमें सुनिश्चित स्थितिका स्पष्ट प्रतिपादन मिलता है, अतः दृष्टान्त-वैषम्य नहीं है। जिस प्रकार मणिकी कान्ति बहुदेशव्यापिनी होती है, उसी प्रकार जीव अपने चैतन्य गुणसे सारे शरीरको व्याप्त करता है। जिस प्रकार चम्पकादि-पुष्पोंकी गन्ध चम्पकादि पुष्पोंकी स्थितिके स्थानसे अधिक देशमें व्याप्त रहती है उसी प्रकार जीवका चैतन्य-गुण भी स्वाश्रयाधिक-देश-वृत्ति होता है। कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद् (४.१९) में आत्माके हृदयायतनत्व एवं अणुपरिमाणत्व का सङ्केत कर चैतन्यगुणसे उसकी समस्त-शरीर-व्यापिताका उल्लेख किया गया है। अतः पूर्वपक्षीकी पूर्वोक्त आशङ्का निरवकाश है[1]।

पूर्वपक्षीका कहना है कि चैतन्यको सर्वशरीरव्यापी माननेका सिद्धान्तीका मत स्वीकार कर लेनेपर भी जीवको अणु मान लेना आवश्यक नहीं है क्योंकि जीव चैतन्य-मात्रस्वरूप एवं व्यापक है। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि श्रुतिमें जीवको ज्ञानधर्मा एवं ज्ञानरूप कहा गया है अतः उसे चिद्धर्मा और चिद्रूप ही मानना चाहिए, नैयायिकोंकी भाँति केवल चिद्धर्मा या साङ्ख्योंकी भाँति केवल चिद्रूप नहीं। 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (को० ३.६) इत्यादि वाक्यमें प्रज्ञाका करणके रूपमें पृथक् उपदेश उपलब्ध होनेसे ज्ञात होता है कि चैतन्य जीवका गुण है और इस वाक्यमें स्वरूप-चैतन्यसे भिन्न इस गुणरूप चैतन्यका ही निरूपण हुआ है अतः जीव अणु है और अपने

---

१. द्र०, विद्व०, पृ० १९४-१९५ तथा अ० २.३.२३-२७.

चैतन्यगुणसे सारे शरीरमें व्याप्त रहता है यह सिद्धान्त श्रुतिसम्मत है[1]।

* ५.६.३ * श्रुतिमें अनेकशः[2] जीवकी स्थिति हृदय-देशमें बतायी गयी है। इन सभी वाक्योंकी सङ्गति जीवको अणु माननेपर ही लग सकती है, व्यापक माननेपर नहीं। इसी प्रकार जीवके उत्क्रमण एवं गमनागमन का उल्लेख करनेवाले (को० ३.४ एवं १.२ तथा बृ० ४.४.६ आदि) तथा उसे स्वात्मना अर्थात् निरुपाधिक स्वरूपसे गमनागमनसे सम्बद्ध बतानेवाले श्रुतिवाक्य भी जीवको अणुपरिमाण माननेपर ही सङ्गत हो सकते हैं क्योंकि व्यापककी उत्क्रान्ति आदि सम्भव नहीं है[3]। इस प्रकार गो० श्रीविट्ठलनाथके अनुसार, 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५.८),

'बालाग्र-शत-भागस्य शतधा कल्पितस्य तु।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥' (श्वे० ५.९) एवं

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।' (मु० ३.१.९) इत्यादि श्रुतिवाक्योंका ब्रह्मसूत्रानुसारी अर्थ करनेसे जीवकि अणुपरिमाण होनेकी सिद्धि होती है[4]।

इस सिद्धान्तसे असहमति व्यक्त करते हुए पूर्वपक्षी कहते हैं कि 'स वा एष महानज आत्मा' (बृ० ४.४.२२) इत्यादि वाक्योंमें आत्माको अणु नहीं प्रत्युत महान् अर्थात् व्यापक कहा गया है अतः जीवको अणु नहीं माना जा सकता। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि ब्रह्मसूत्रकार व्यासने 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्न इतराधिकारात्' (ब्र० २.३.२१) इस सूत्रमें पहले इस पूर्वपक्षका उल्लेख किया है कि 'स वा एष महानज आत्मा' (बृ० ४.४.२२) इत्यादि श्रुतिवाक्यमें आत्माको महान् एवं व्यापक माननेका प्रतिपादन हुआ प्रतीत होता है। तदनन्तर सूत्रके उत्तरांशमें इस धारणाका निराकरण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि उक्त श्रुतिवाक्य ब्रह्मप्रकरणमें पठित होनेसे ब्रह्मकी व्यापकताका निरूपण करता है और इससे जीवको अणु माननेका विरोध नहीं है[5]।

* ५.६.४ * श्रीवल्लभाचार्यने "ननु 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) आदिवाक्यैः परमेव ब्रह्म जीव इति कथम् अणुत्वम्?' (अ० २.३.२९) इस वाक्यद्वारा जिस आशङ्काका उपस्थापन किया था उसे पूर्वपक्षके रूपमें उपस्थापित करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इत्यादि वाक्योंमें ब्रह्म एवं

---

१. द्र०, विद्व०, पृ० १९० तथा अ० २.३.१८, २८.

२. द्र०, प्र० ३.६, छा० ८.३.३, बृ० ४.३.७ एवं क० १.३.१ आदि वाक्य।

३. विद्व०, पृ० १८९-१९१ तथा अ० २.३.१९-२० आदि।

४. तत्त्वसूत्रानुसारेण वेदार्थस्य निरूपणे। जीवोऽणुरेव संसिद्धयति। (विद्व० पृ० १८६)।

५. विद्व०, पृ० १८६. द्र०, अणुभाष्यसमीक्षा, पृ० १७४.

जीव के अभेदका प्रतिपादन किया गया है किन्तु इस अभेदकी व्याख्या जीवको व्यापक माननेपर ही हो सकती है। अतः अणु जीवका व्यापक ब्रह्मसे अभेद अनुपपन्न होनेसे जीवको व्यापक मानना ही श्रुत्यनुकूल मत होगा[1]।

उक्त पूर्वपक्षके अणुभाष्यमें[2] दिये गये उत्तरका शब्दान्तरोंमें उपस्थापन करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि जीवके जडसे वैलक्षण्यके बोधक प्रज्ञा, द्रष्टृत्व आदि वस्तुतः ब्रह्मके गुण हैं जीवके स्वाभाविक गुण नहीं। ब्रह्मके ये गुण ही जीवके 'सार' हैं और जीव ब्रह्मका अंश भी है इसलिए उसे उपचारवश ब्रह्म या ब्रह्मसे अभिन्न कह दिया जाता है[3]।

* ५.६.५ * इस प्रकार जीवकी व्यापकताका निरूपण करनेवाले 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि श्रुतिवाक्य एवं 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' (गीता २.२४) इत्यादि स्मृतिवाक्य[4] जीवमें भगवदावेश होनेपर भगवान्के व्यापकत्वादि धर्मोंके जीवमें उपचरित होनेके कारण सार्थक हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अग्निसन्तप्त अयोगोलकमें दाहकता रहती है फिर भी वह अयोगोलक स्वरूपतः अर्थात् अयोगोलकके रूपमें दाहक नहीं होता अपितु दाहकता अग्निमें रहती है जो सम्पर्कके कारण अयोगोलकमें उपचरित होती है उसी प्रकार जब जीवमें भगवान्का आवेश होता है तो भगवान्के व्यापकत्वादि धर्म जीवमें उपचरित होते हैं, वस्तुतः जीव स्वरूपतः अर्थात्

---

१. 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इत्यादिभिः ब्रह्माभेद-निरूपणाच्च, न हि तत्त्वतोऽणोः व्यापकाभेदः सम्भवति। (विद्व०, पृ० १८३)।
ननु 'तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) इत्याद्यभेदबोधकश्रुत्या जीवो ब्रह्मत्वेन निरूप्यते, अणुत्वे तु तदनुपपत्तिः। (विद्व०, पृ० १९१)।

२. तस्य ब्रह्मणो गुणाः प्रज्ञा-द्रष्टृत्वादयः त एव अत्र जीवे सारा इति जड-वैलक्षण्यकारिणः इति अमात्ये राजपद-प्रयोगवज्जीवे भगवद्व्यपदेशः। 'मैत्रेयि' (बृ० २.४.१) इति सम्पूर्णे ब्राह्मणे भगवत्त्वेन जीव उक्तः।···'प्राज्ञवत्'···शारीरस्यापि जीवस्य ब्रह्मधर्मबोधिकाः श्रुतयः।···जीवस्य अणुत्वम् उपचाराद् ब्रह्मत्वम्···। (अ० २.३.२९)।

३. औपचारिकत्वात्, अमात्ये राजपदप्रयोगवत्। न हि जीवे कश्चन स्वाभाविको गुणोऽस्ति। प्रज्ञा-द्रष्टृत्वादयश्च भगवद्गुणा एव। तथा च तद्गुणैरेव अस्य उत्तमत्वाद् अंशत्वाच्च तद्व्यपदेशः। जड-वैलक्षण्यञ्च तत एव। (विद्व०, पृ० १९१-१९२)।

४. नाणुः जीवो वक्तुं युक्तः, श्रुति-स्मृति-विरोधात्।···'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' (गीता २.२४) इत्यादिषु व्यापकत्वश्रवणात्।
(विद्व०, पृ० १८३)।

जीवके रूपमें व्यापक नहीं है[1]।

यद्यपि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मु० ३.२.९) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मवेत्ताके ब्रह्म हो जाने अर्थात् जीवके ब्रह्मभाव का उल्लेख है, किन्तु जीवके ब्रह्म हो जानेपर अर्थात् ब्रह्मभावकी स्थितिमें भी जीवको स्वरूपतः व्यापक या अधिक परिमाणवाला कहना ठीक नहीं है। ब्रह्मभाव या ब्रह्मत्व आनन्दांशकी अभिव्यक्ति होनेपर ही होता है अतः वह व्यापकत्व ब्रह्म (के आनन्दांश) का ही धर्म है चिदंश या जीव का नहीं। ब्रह्मभावकी दशामें अणु जीव व्यापक नहीं हो जाता है अपि तु वस्तुस्थिति यह है कि ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण अणु एवं व्यापक दोनों है अर्थात् अणु होते हुए भी व्यापक है और जिस प्रकार श्रीकृष्ण यशोदाकी गोदमें रहते हुए भी निखिल जगत्के आधार हैं उसी प्रकार जब आनन्दांश प्रकट होता है तो जीवमें करोड़ों ब्रह्माण्ड प्रकट हो जाते हैं। अतः आनन्दांशके अभिव्यक्त होने अर्थात् ब्रह्मभाव हो जानेपर आनन्दांश (ब्रह्म) के विरुद्धधर्माश्रयत्वरूप धर्मके भी अभिव्यक्त हो जानेसे, परिच्छिन्न होनेपर भी व्यापकत्वकी सिद्धि सम्भव है। अतः 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मु० ३.२.९) इत्यादि वाक्योंके अनुरोधसे जीवकी व्यापकता या अधिक-परिमाणता स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। वस्तुतः परिच्छिन्नत्व एवं व्यापकत्व ये दोनों परस्पर-विरुद्ध धर्म ब्रह्मके हैं अतः ब्रह्मभावकी स्थितिमें ये दोनों ही वास्तविक और सत्य हैं। जीवके परिच्छिन्नत्व और व्यापकत्व से यही परिच्छिन्नत्व और व्यापकत्व अभिप्रेत है। अलौकिक धर्मोंके सम्बन्धमें शब्द-प्रमाणका ही अनुसरण करना चाहिए न कि लौकिक उदाहरणों एवं युक्तियों का। अतः जीवको, उक्त प्रकारसे व्यापक होते हुए भी, स्वरूपतः अणु माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है[2]।

---

१. ननु 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' (गीता २.२४) इतिवाक्याद् व्यापको भविष्यति इति आशङ्क्य आह, 'व्यापकत्व-श्रुतिस्त्वस्य भगवत्त्वेन युज्यते' (तत्त्वा० १.५३) इति। भगवदावेशे भगवद्धर्माः व्यापकत्वादयः तत्र श्रूयन्ते न तु जीवो व्यापकः। (तत्त्वा० प्र० १.५३)।

२. आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः।
प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वञ्च तस्य तत् ॥ (तत्त्वा० १.५४)।
'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मु० ३.२.९) इतिवाक्याद्··· ब्रह्मत्वेऽपि नाधिकपरिमाणता वक्तव्या। अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति। यथा कृष्णो यशोदा-क्रोडे स्थितोऽपि सर्वजगदाधारो भवति तथा जीवस्यापि आनन्दांशेदभिव्यक्तः तदा तस्मिन् ब्रह्माण्ड-कोटयो भवन्ति। अत एव परिच्छेदेऽपि व्यापकत्व-सिद्धेः, न तदनुरोधेन अधिक-परिमाणत्वम् अङ्गीकर्तव्यम् इत्याह, 'परिच्छेदो व्यापकत्वञ्च तस्य तत्' इति।

* ५.६.६ * पूर्वपक्षीका कथन है कि जीवको नित्य तभी माना जा सकता है जब उसे विभु या अणु स्वीकार कर लिया जाये, इसीलिए सिद्धान्तीने उसे अणु माना है, किन्तु जीवकी नित्यता तो उसे विभु माननेपर भी अक्षुण्ण ही रहेगी, अतः जीवको व्यापक माननेके बहुवादिसम्मत मतको स्वीकार कर लेनेमें सिद्धान्तीको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

सिद्धान्तीका उत्तर है कि जीवको व्यापक मान लेनेपर 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मु० ३.१.९) इत्यादि श्रुतिवाक्योंका विरोध होता है अतः उसे विभु नहीं माना जा सकता और पूर्वपक्षीकी यह धारणा ठीक नहीं है कि 'अणुपरिमाणसे भिन्न जीवके अन्य सभी परिमाणोंके तर्ककी दृष्टिसे अनुपपन्न होनेके कारण ही ब्रह्मवादमें जीवको अणुपरिमाण माना गया है।' वस्तुतः जीवके परिमाणका निर्णय करनेमें उसकी नित्यता या अनित्यता आदिका विचार नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि वैदिक शास्त्र होनेके कारण ब्रह्मवादमें सारे निर्णय श्रुतिवाक्योंके आधारपर ही किये जाते हैं, युक्तिके आधारपर नहीं; और अन्य सिद्धान्तोंकी ही भाँति जीवके अणुपरिमाण होनेका सिद्धान्त भी 'एषोऽणुरात्मा' (मु० ३.१.९) आदि श्रुतिवाक्योंपर ही आधारित है तर्कपर नहीं[1]। सिद्धान्ती तो श्रुतिके बलसे मध्यम-परिमाणवाली प्रादेशमात्र, हंस, वराह तथा नृसिंह आदि आकृतियोंको भी नित्य स्वीकार करते हैं[2]। अतः श्रुतिमें जीवके आराग्र-मात्र—जो अवान्तर परिमाण है—कहे जानेपर भी उसे नित्य माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है,[3] क्योंकि श्रुतिमें उसे आराग्रमात्र भी कहा गया है और नित्य भी।

* ५.६.७ * अत एव विद्वन्मण्डनकारका निष्कर्ष है कि अणुपरिमाण एवं विस्फुलिङ्ग-न्यायसे ब्रह्मसे निर्गत अर्थात् ब्रह्म द्वारा अपने ऐश्वर्यको निर्विषय न हो जाने देनेके लिए अपनी सेवाके लिए प्रकट किये गये जीव[4] सहज भगवद्दास हैं और उनका स्वधर्म अपने अंशी एवं सहज प्रभु श्रीगोकुलनाथके चरण-कमलोंकी सेवा करना ही है। उस सेवासे सन्तुष्ट होकर भगवान् स्वयं प्रकट होकर उसे अपने गुण देकर

अलौकिकेषु धर्मेषु प्रमाणमेवानुसर्तव्यं, न तु लौकिकी युक्तिः, अतो व्यापकत्वेऽपि न आराग्रमात्रत्वं दोषाय। (तत्त्वा० प्र० १.५४)।

१. न तु तदन्यथानुपपत्त्या तावत्परिमाणः। वैदिके शास्त्रे वाचनिकी एव व्यवस्था। (तत्त्वा० प्र० १.५३)।

२. द्र०, तत्त्वा० प्र० १.५३ की श्रीबालकृष्णभट्टकृत 'योजना' व्याख्या।

३. नापि अवान्तरपरिमाणेऽपि अनित्यता भवति। यथा भगवतः प्रादेशमात्रस्य अङ्गुष्ठ-पर्वमात्रस्य हंसाकृतिः तथा आराग्रमात्र एव हंसाकृतिः। (तत्त्वा० प्र० १.५३)।

४. भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्। (पुष्टिप्र० १२)।

स्वरूपानन्दका अनुभव करानेके लिए अपनेमें ही प्रविष्ट कर लेते हैं अथवा अत्यधिक अनुग्रह करके उससे भी अधिक रसात्मक दास्यकर्म करनेके लिए अपने समीप रख लेते हैं[1]।

* ५.६.८ * गो० श्रीविट्ठलनाथके अनुसार जीवके अणुत्व, उस अणुत्वके कारण होनेवाले उसके भगवत्प्रवेश एवं उसके साधनरूप भगवद्भजन आदिके असहिष्णु श्रीशङ्कराचार्य आदिने जीवाणुत्वसाधक एवं सिद्धान्तप्रतिपादक 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' (ब्र० २.३.१९) से प्रारम्भ कर 'पृथगुपदेशात्' (ब्र० २.३.२८) तक दस सूत्रोंको पूर्वपक्षका सूत्र कहते हुए 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' (ब्र० २.३.२९) सूत्रको व्यासाभिमत सिद्धान्तका निरूपक सूत्र बताया है और इस सूत्रका अर्थ 'जीवमें अणुत्वादिव्यपदेश उपाधिगुणरूप अणुत्वादि-प्रयुक्त है' इस प्रकार करते हुए जीवके व्यापक होनेके मतका प्रतिपादन किया है। उनके इस प्रयत्नके सम्बन्धमें हमें यही कहना है कि यदि जीवत्व औपाधिक होता तो कदाचित् उनका अर्थ स्वीकार कर लिया जा सकता था किन्तु जीवको औपाधिक मानना श्रुति, स्मृति एवं ब्रह्मसूत्र के विरुद्ध है यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, अतः उनका एतद्विषयक मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'तद्गुणसारत्वात्..' (ब्र० २.३.२९) सूत्रका 'तस्याः बुद्धेः गुणाः=तद्गुणाः सारः=प्रधानं यस्यात्मनः.. स तद्गुणसारः, तस्य भावः तद्गुणसारत्वं.. तस्मात् तद्गुणसारत्वाद् बुद्धिपरिमाणेन अस्य परिमाण-व्यपदेशः, तदुत्क्रान्त्यादिभिश्च अस्य उत्क्रान्त्यादि-व्यपदेशो न स्वतः' (ब्र० शा० २.३.२९) इत्यादि कह कर श्रीशङ्कराचार्यने जो अर्थ किया है उसका अनौचित्य स्पष्ट करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि श्रीशङ्कराचार्यका यह कथन युक्तियुक्त नहीं है कि 'जीवकी उत्क्रान्ति आदि स्वतः नहीं होती प्रत्युत उसकी उपाधिरूप बुद्धिकी उत्क्रान्ति आदि होनेके कारण ही उस उपाधिकी उत्क्रान्तिको उपहित जीवकी उत्क्रान्ति कह दिया जाता है', क्योंकि उपाधिकी उत्क्रान्ति आदिके पूर्व ही उपहितको उत्क्रान्ति आदि हो सकना सम्भव नहीं है और 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (बृ० ४.४.२) इत्यादि श्रुति-वाक्योंमें जीवकी उत्क्रान्तिसे ही अन्य सभीकी उत्क्रान्ति आदिका उपपादन किया गया है। और उपाधिके गुणोंको जीवका सार मानना भी अनर्थरूप होनेसे उपपन्न नहीं है,

---

१. अणु-परिमाणस्य एव जीवस्य पूर्वोक्त-न्यायेन ब्रह्मणः सकाशात् निर्गतस्य ब्रह्मणा स्वसेवार्थम् एव निर्गतस्य निर्विषयत्व-परिहाराय च तथा प्रकटीकृतस्य अत एव सहज-हार्दिकाभिन्न-तादात्म्येन ब्रह्मरूपस्य च निज-निसर्ग-प्रभु-श्रीगोकुलनाथ-चरण-कमल-दास्यम् एव स्वधर्मः। तेन च अतिसन्तुष्टः स्वयं प्रकटीभूय निजगुणान् तस्मै दत्वा स्वसन्निधौ प्रवेश्य स्वरूपानन्दानुभवार्थम्। अथवा अत्यनुग्रहे निकटे स्थापयति स्व-भक्त-रस-दास्य-करणार्थम् इति निगर्वः। (विद्व०, पृ० १९२-१९३)।

उसका सार तो भगवद्गुण ही हो सकते हैं[1]।

* ५.६.९ * ब्रह्मसूत्रकारने 'आभास एव च' (ब्र० २.३.५०) इस सूत्रमें जीवको आभास अवश्य कहा है किन्तु इससे उनका अभिप्राय अलीक या मिथ्या रूप आभाससे नहीं है। आनन्दांशके और आकारके भी तिरोहित होनेसे ब्रह्मके धर्मोंका अभाव होनेके कारण जीवको उसी प्रकार ब्रह्मका आभास कहा जाता है जिस प्रकार ब्राह्मणके वर्णाश्रमानुरूप सदाचारसे रहित व्यक्ति ब्राह्मणाभास कहा जाता है[2]।

* ५.७.० * इस प्रकार जीव ब्रह्मका अंश एवं अणुपरिमाण है और इसीलिए उसका ब्रह्ममें 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति' (ब्र० १.१.१८) एवं 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' (गीता १८.५५) इत्यादि वाक्योंमें उल्लिखित प्रवेश भी उपपन्न है[3]। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० ४.४.६) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मभाव हो जानेके अनन्तर जीवके ब्रह्ममें लीन हो जानेका निरूपण है और 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति' (ब्र० १.१.१८) इस सूत्रमें यह प्रतिपादित किया गया है कि श्रुति आनन्दमय ब्रह्ममें ब्रह्मभावापन्न जीवके योग अर्थात् लय या प्रवेश को फलके रूपमें निरूपित करती है[4]। इसी बातको गीतामें 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति' (गीता १८.५४) इत्यादि कथनपूर्वक भक्तिप्राप्ति होनेका उल्लेख कर तदनन्तर पुरुषोत्तममें प्रवेशके रूपमें प्रतिपादित किया गया है[5]।

* ५.७.१ * ब्रह्मभाव कैसे होता है इसका निरूपण श्रीवल्लभाचार्यने अपने अणुभाष्य (२.३.३०-३१) एवं तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (१.३६) में तथा विद्वन्मण्डन-कारने अपनी अणुभाष्यपूर्ति (अ० ३.३.२५-२६) में किया है। वहाँ यह कहा गया है

---

१. विद्व०, पृ० १९३-१९४.

२. 'आभास एव च' (ब्र० २.३.५०) इति सूत्रं तु यथाऽनाचारि-ब्राह्मण ब्राह्मणाभास-प्रयोगः अखिल-ब्राह्मणधर्माणाम् अभावात् तथा आनन्दांशस्य तिरोधानाद् ब्रह्म-धर्माणां सर्वेषाम् अभावाद् अंशत्वेन तद्रूपत्वाच्च तदाभासो जीवः इति-परम्, न तु अलीकः। (विद्व०, पृ० १९४)। द्र०, अ० २.३.५० तथा तत्त्वा० एवं तत्त्वा० प्र १ ...

३. द्र०, ऊपर २.३.८ पृष्ठ ६०.

४. अस्मिन् आनन्दमये अस्य जीवस्य च 'आनन्दमयमात्मान मुपसङ्क्रामति' (तै० २.८.५) इति तेन रूपेण योगं शास्ति फलत्वेन कथयति। (अ० १.१.१ ...। अस्मिन्=आनन्दमये ब्रह्मणि, अस्य=जीवस्य, तद्योगं=तद्रूपस्य योगं=ब्रह्मभाव-पन्नस्य प्राप्ति, वदति फलत्वेन इति। (विद्व०, पृ० १७२)।

५. विद्व०, पृ० १७२.

कि जीवमें विद्यमान किन्तु तिरोहित आनन्दांशके प्रकाशित अर्थात् आविर्भूत या प्रकट हो जानेपर जीवका जो ब्रह्मसाम्य हो जाता है वही ब्रह्मभाव है। इसका प्रतिपादन 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३.१.३) आदि श्रुतिवाक्योंमें हुआ है। इस ब्रह्मभावमें केवल भगवदिच्छा ही प्रयोजिका है अर्थात् भगवान्‌की इच्छा होनेपर ही ब्रह्मभाव होता है। भगवान्‌की इच्छा अनियत अर्थात् अनिश्चित है। अतः यदि भगवान्‌को ब्रह्मभाव प्रदान करनेकी इच्छा नहीं होती है तो ब्रह्मभाव नहीं होता है और उस दशामें जीवको ब्रह्मसायुज्य प्राप्त होता है अर्थात् उसकी अलक, कौस्तुभ आदिके रूपमें भगवान्‌के स्वरूपमें स्थिति होती है। अन्यथा इच्छा होनेपर भगवान् किसी जीवको ब्रह्मभाव एवं ब्रह्मसायुज्य न प्रदान कर अक्षरसायुज्य ही देते हैं। उक्त सायुज्य एवं ब्रह्मभाव की प्राप्ति भगवान् हरिकी सेवासे ही होती है किसी अन्यकी सेवासे नहीं[1]। इसी बातको विद्वन्मण्डनमें भी कहा गया है कि ब्रह्मभाव भगवदुक्त साधनोंके अनुष्ठानसे सन्तुष्ट भगवान्‌द्वारा आनन्दांशके एवं अपने ऐश्वर्य आदिके प्रकट किये जानेपर होता है।

* ५.७.२ * जीवको पुरुषोत्तममें प्रविष्ट हो जानेपर उससे भिन्न न होनेके अर्थमें अभेदकी प्रतीति होती है, किन्तु वह उससे सर्वथा अभिन्न नहीं हो जाता। लयके इस स्वरूपका श्रुतिमें 'स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयते' (बृ० २.४.१२) इत्यादि उदाहरण द्वारा निरूपण किया गया है। यह अत्यन्ताभेद नहीं प्रत्युत भेदसहिष्णु अभेदकी वह स्थिति है जिसका प्रतिपादन हम 'शुद्धाद्वैत' पदकी व्याख्या करते समय कर चुके हैं। इसीलिए इस स्थितिमें भी जीवोंके अणुस्वरूपका नाश नहीं होता और पुनः भगवान्‌का अनुग्रहातिशय होनेपर वे अपने अणुस्वरूपसे प्रकट होकर लीला-विग्रह धारण कर भगवान्‌के साथ विहार करते हैं। इस सिद्धान्तका उल्लेख 'मुक्तोपसृप्य-व्यपदेशात्' (ब्र० १.३.२) एवं 'मुक्ता अपि लीला-विग्रहं कृत्वा भजन्ते' इत्यादिवाक्योंमें भी मिलता है जिनमें मुक्त पुरुषोंके भी लीला-देह धारण कर सेवा-विहारार्थ भगवान्‌के समीप उपस्थित रहनेकी बात कही गयी है। इस सिद्धान्तका 'न च पुनरावर्तते' (छा० ८.१५.१) एवं 'अनावृत्तिः शब्दात्' (ब्र० ४.४.२२) इत्यादि श्रुतिसूत्रोंसे विरोध नहीं है, क्योंकि प्रमाणमार्गपरक इन वाक्योंमें मुक्त जीवके कर्मों एवं वासनाओं के कारण सांसारिक सुख-दुःख-भोगके लिए होनेवाले

---

१. ब्रह्मभाव-प्रकारमाह, 'आनन्दांश-प्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति।
सायुज्यं वान्यथा तस्मिन्नुभयं हरिसेवया॥' (तत्त्वा० १.३६)।
तिरोहितत्वादिभावे ब्रह्मभावः, तथा जडेऽपि। तत्र भगवदिच्छैव केवला प्रयोजिका। अतः तस्याः अनियतत्वात् सायुज्यं वा भवति।...सायुज्य-ब्रह्मभावौ हरिसेवया एव भवतः, नान्यसेवया। (तत्त्वा० प्र० १.३६)। द्र०, तत्त्वा० प्र० आ० १.३६

अहन्तामम्तात्मक संसार-सम्बन्धका ही निषेध किया गया है, लीला-देहधारणका नहीं। अतः मर्यादामार्ग तो ब्रह्मप्रवेशपर्यन्त ही है किन्तु केवल अतिशयित भगवदनुग्रहसे ही साध्य अतिदुर्लभ पुष्टिमार्गमें अङ्गीकृत जीवोंका पुनर्निर्गमन एवं नित्यलीलाप्रवेश उपपन्न है[1]।

---

१. द्र०, विद्व०, पृ० १७१-१७७.
तु०, 'ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्य भजनानन्द-योजने। लीला ··· निरूप्यते॥'
जीवके स्वरूप एवं उसकी नियति के विषयमें अधिक विवेचन हमने 'प्रमेयरत्नार्णव' की अपनी व्याख्यामें (पृष्ठ २६-४७, ११९-१४३, १५६-२१० पर) तथा तत्त्वार्थ-दीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणकी स्नेह-प्रपूरणी व्याख्यामें (पृ० १५७-२०४ पर) किया है।

सृष्टि-विचार

* ६.०.० * शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके अनुसार ब्रह्म इस सृष्टिका अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है और यह सृष्टि ब्रह्म-प्रकृतिक होनेसे सत्य है। इस सृष्टिकी रचनाके प्रयोजनके विषयमें श्रीवल्लभाचार्यने ऊहापोहपूर्वक विचार किया है। 'आप्तकाम परमात्माका प्रयोजन-सापेक्ष सृष्टि करना अनुपपन्न है', इस आशङ्काका उपन्यास करते हुए वे लिखते हैं, सृष्टिकी रचना भगवान्‌ने अपने लिए की है या जीवोंके लिए या दोनोंके लिए? उन्होंने इस सृष्टिकी रचना अपने लिए की है यह विकल्प स्वीकार करनेपर इस सृष्टमें भोक्ताके रूपमें जीवका समागमन अनुपपन्न हो जाता है और जीवके कल्याणके लिए प्रतिपादित भक्ति आदि मार्ग तथा अज्ञान, बन्धन एवं मोक्ष सब असङ्गत हो जाते हैं। अतः यह मानना ही उपयुक्त होगा कि सृष्टिकी रचना या तो उभयार्थ अर्थात् ईश्वर एवं जीव दोनोंके लिए की गयी है या केवल जीवके लिए। सृष्टिरचना उभयार्थ की गयी है यह विकल्प स्वीकार करनेपर 'ब्रह्मने सृष्टि स्वयं अपने लिए की' इस अंशमें ब्रह्मकी आनन्दपूर्णता खण्डित होती है तथा 'ब्रह्मने सृष्टि जीवोंके लिए की' इस अंशमें ब्रह्ममें वैषम्य एवं नैर्घृण्य आदि दोष प्रसक्त होते हैं। इन सबका समाधान ब्रह्मके अखिलात्मा होनेसे हो जाता है। जड-जीवात्मक इस सम्पूर्ण प्रपञ्चका ब्रह्मने स्वयं अपनी आत्मामेंसे ही निर्माण किया है, अतः उसमें वैषम्यादि दोष नहीं आते और न उसकी आनन्दपूर्णतामें ही कुछ बाधा आती है, क्योंकि आत्मसृष्ट आत्माके लिए इस जगत्‌की सृष्टि की गयी है। इसमें भगवान् जीवके आनन्दोपभोगका सम्पादन भी करते हैं तथा स्वयं अपनेमें जो पूर्ण आनन्द है उसका स्वयं भोगके द्वारा उपचय भी करते हैं। तथापि न तो यह आनन्द अनित्य होता है और न इसमें कुछ न्यूनता ही आती है। अतः उभयार्थ-सृष्टिपक्षका सिद्धान्त तर्कसङ्गत है[1] क्योंकि इस सिद्धान्तमें सर्वकर्ता एवं

---

१. ननु भगवान् सृष्टिं नार्हति कर्तुम्। प्रयोजनविरोधात्। स हि स्वार्थं वा जीवार्थं वा करोति। स्वार्थं करणे जीवानामनुत्पादनं स्यात्। ततो भक्तिमार्गो विरुध्येत। सर्वेऽपि मार्गा विरुध्येरन्। बन्धमोक्षाद्यभावाद्वैचित्र्यमज्ञानं च न स्यात्। अत उभयार्थं जीवार्थं वा कर्त्तव्यमिति मन्तव्यम्। तत्र स्वांशे स्वस्यानन्दपूर्णत्वं भज्येत। परार्थत्वे वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्ज्येयाताम्। अत आह, अखिलात्मन इति। अखिलानामात्मा। आत्मसृष्टेर्न वैषम्यादि। आनन्दादिविरोधस्तु नास्ति। अखिलत्वात्। यथा खिला आत्मानो न भवन्ति केनाऽप्यंशेन। तेषां चार्थे सृष्टिश्च क्रियते। उपभोगश्च सम्पाद्यते। एवं स्वस्य यः पूर्ण आनन्दस्तस्याप्यात्मा। भोगादिना

सर्वभोक्ता भगवान्का अंश होनेके कारण जीवमें स्वाभाविक (अर्थात् भगवदीय कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अंशभूत) कर्तृत्व[1] और भोक्तृत्व माना जाता है। जीवके आनन्दोपभोग और भगवान्के पूर्णानन्दोपचय में स्वाभाविक अद्वैत होते हुए भी ऐच्छिक द्वैत है यह स्वीकार करनेके कारण शुद्धाद्वैतमें उभयार्थ-सृष्टिका विकल्प उपपन्न है।

* ६.१.० * उभयार्थ-सृष्टि माननेपर भी प्रवृत्ति-बीज विभिन्न माने जा सकते हैं। ईश्वर अपने लिए सृष्टि करते हैं यह स्वीकार करने पर कहा जा सकता है कि वे स्वच्छन्द रूपसे विना किसी प्रयोजनके यथारुचि सृष्टिरचनामें प्रवृत्त होते हैं; अथवा वे क्रीडया या लीलया (न कि लीलाके प्रयोजनसे) सृष्टि करते हैं; या वे सृष्टि-निर्माणमें स्वभावतः प्रवृत्त होते हैं[2]। ईश्वर परार्थ सृष्टि करते हैं यह स्वीकार करने पर

तस्याऽप्युपचयं करोति। तथापि न तस्याऽनित्यत्वं न्यूनत्वं वा। तस्मादुभयविधाऽपि सृष्टिर्भगवतः कर्तुं युक्ता। (सुबो० २.५.१७)।

१. कर्ता जीव एव। कुतः। शास्त्रार्थवत्त्वात्। जीवमेवाधिकृत्य वेदेऽभ्युदय-निःश्रेयस-फलार्थं सर्वाणि कर्माणि विहितानि; ब्रह्मणोऽनुपयोगात्, जडस्याशक्यत्वात्;··· तस्यैव गान्धर्वादिलोकेषु 'यद्यत्कामयते तत्तद्भवति' (तुल०, छा० ८.२.१०) इति विहार उपदिष्टः। ततश्च कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः 'साधुकारी साधुर्भवति' (बृ० ४.४.५) इति सामानाधिकरण्यश्रवणाज्जीव एव कर्ता। (अणु० २.३.३३-३४)।
द्र०, ऊपर पृ० २१५ तथा अ० १.१.२.

२. 'न प्रयोजनवत्त्वात्' (ब्र० २.१.३३), 'अर्थैष एव परम आनन्दः' इत्यादिना कृतकृत्यत्वात् न प्रयोजनाय सृष्टिः, किन्तु 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्र० २.१.३४); यथा लोके मत्तस्य सुखोद्रेकादेव नृत्तगानादिलीला, न प्रयोजनापेक्षया, एवमेव ईश्वरस्य। नारायणसंहितायाञ्च,
सृष्ट्यादिकं हरिर्नैव प्रयोजनमपेक्ष्य तु।कुरुते केवलानन्दाद्यथा मत्तस्य नर्तनम्॥
पूर्णानन्दस्य तस्येह प्रयोजनमतिः कुतः ?
मुक्ता अप्याप्तकामाः स्युः किमु तस्याखिलात्मनः ?? इति।
··· 'आप्तकामस्य का स्पृहा' इति च श्रुतिः। (ब्र० मा० २.१.३३-३४)।
ब्रह्मणि पुनः प्रयोजनवत्त्वं सम्भावयितुमपि न शक्यते, आप्तकामश्रुतिविरोधात्।
(अ० २.१.३३)। द्र०, ब्र० शा० २.१.३३.
क्रीडां प्रयोजनं कृत्वा सृष्टिः श्रुतिविरोधिनी।
इति केवललीलैव निर्णीता प्रभुणा स्वयम्॥
आत्मप्रयोजनार्थाय स्पृहां श्रुतिरवारयत्।न प्रयोजनवत्त्वेनेत्यत आह जगद्गुरुः॥
(ब्र० मा० अनु० २.१.३३ श्लोक १०३-१०४)।

कहा जा सकता है कि वे करुणावश सृष्टिरचनामें प्रवृत्त होते हैं; अथवा इसलिए सृष्टि-निर्माण करते हैं कि जीवोंसे धर्मादिका अनुष्ठान हो सके। उभयार्थ सृष्टि माननेपर यह भी कहा जा सकता है कि सर्वतन्त्र स्वतन्त्र ईश्वर सृष्टिमें क्रीडया या करुणया प्रवृत्त होते हैं और सृष्टिकी विषमता जीवोंके स्वभाव या कर्मों के कारण घटित हो जाती है। ईश्वर इसे भी अन्यथाभावापन्न कर सकनेमें समर्थ हैं किन्तु उनका सङ्कल्प ही जीवकर्मानुसारिणी क्रीडाका है[1]। यह भी कहा जा सकता है कि यह विषमता भी पुण्य-पाप-कारयिता ईश्वर द्वारा ही सृष्ट है परन्तु इससे अखिलात्मा ईश्वरकी दोषातीतता प्रभावित नहीं होती[2]। यह भी कहा गया है कि ईश्वरकी सृष्टिरचनामें प्रवृत्ति जीवोंको उनकी प्राक्कल्पीय सदसद् वासनाओंके अनुसार सदसत् फलानुभव करानेके लिए होती है[3]।

२.१.१ पूर्वपक्षीका कथन है कि विद्वान् ईश्वरकी सृष्टिरचनामें प्रवृत्ति निष्प्रयोजन तो हो नहीं सकती क्योंकि विना किसी प्रयोजनके नासमझ व्यक्ति भी किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। ईश्वरका वह कौनसा प्रयोजन है जो सृष्टिरचनामें प्रवृत्त न होनेपर सिद्ध न हो पाता ? क्रीडा या लीला को प्रयोजन माननेपर सिद्धान्तीको अभिमत ईश्वरकी आप्त-कामताकी सिद्धि न हो सकेगी[2]। इस विषयमें सिद्धान्तीका मत यह है कि पूर्णानन्द परमात्माकी प्रयोजनापेक्षाका निषेध श्रुतिसूत्रादिमें प्रतिपादित मिलता है। क्रीडा या लीला का स्वेतर कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता और ईश्वर होनेके कारण ब्रह्मकी लीलाका पर्यनुयोग तो सम्भव ही नहीं है[4]। यद्यपि आप्तकामत्व या आत्मारामत्व तथा लीला

जगत्सर्गे लीलैव केवला प्रयोजनम्।···ब्रह्मणः स्वसङ्कल्पमात्रावकल्पितजगज्जन्मस्थिति-ध्वंसादेर्लीलैव प्रयोजनमिति। (ब्र० रा० २.१.३३)।

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥ (गी० १.९)।

१. द्र०, सर्वदर्शनसङ्ग्रहः पृष्ठ २५१-२५६; गीता रा० एवं वे० ता० च० ३.१०; ब्र० र० २.१.३४ तथा उस पर श्रुतप्रकाशिका; एवं प्रशस्तपादभाष्य पृष्ठ २९-३२.

२. स कारयेत्पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीशितापि।
ईशो यतो गुणदोषादिसत्त्वे स्वयं परोऽनादिरादिः प्रजानाम्॥ इति चतुर्वेद-शिखायाम्। (ब्र० मा० २.१.३७)।

३. जगच्चासृजतस्तस्य किं नामेष्टं न सिद्धयति। प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।
एवमेव प्रवृत्तिश्चेच्चैतन्येनास्य किं भवेत् ? क्रीडार्थायां प्रवृत्तौ च विहन्येत कृतार्थता।
(श्लोकवार्तिक पृ० ४६३ सम्बन्धाक्षेपपरिहार-श्लोक ५४-५६)।

४. न हि लीलायां किञ्चित्प्रयोजनमस्ति, लीलाया एव प्रयोजनत्वात्। ईश्वरत्वादेव न लीला पर्यनुयोक्तुं शक्या। (अ० २.१.३३)। द्र०, ऊपर पृ० २३१ टि० २.

या क्रीडा परस्पर-विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं किन्तु ब्रह्मका तो स्वरूप ही विरुद्धधर्माश्रय है अतः उसमें इन दोनोंका होना अनुपपन्न नहीं है। इसीलिए आप्तकाम एवं आत्माराम भगवान्‌के लीलया जगद्रमणका वर्णन अनेकत्र उपलब्ध होता है[1]। इस प्रकार सृष्टि आदि ब्रह्मकी लीला है। और सृष्टि आदि अनेक रूपोंमें होने वाली यह लीला ब्रह्मका स्वभाव भी है ही। सृष्टिकर्तृत्वको ब्रह्मका स्वभाव माननेपर भी उसके इस स्वभाव स्वरूप ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता कि उसके कारण ब्रह्म कर्तुमकर्तुमन्यथाक समर्थ न रह जाये। अतः शुद्धाद्वैत वेदान्ती जिस प्रकार ब्रह्मको आप्तकाम कहते हुए भी श्रुतिबलसे उसकी क्रीडाकामनाको उपपन्न मानते हैं उसी प्रकार वे यह भी स्वीकार करते हैं कि यह क्रीडा कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ब्रह्मका स्वभाव है; और यह विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मका ऐसा स्वभाव है जो उसके लिए अनुल्लङ्घ्य नहीं है।

* ६.१.२ * भगवान् द्वारा प्राक्कल्पीय कर्मफलदानार्थ सृष्टि किये जानेका पक्ष भी श्रुतिमें उपलब्ध होता है। इसमें वैषम्य एवं नैर्घृण्य दोषोंका परिहार कर्मवादकी सहायतासे किया गया है। सुखदुःखात्मक फलभोगमें जीवकृत कर्म बीजकी तरह कारण बनते हैं और भगवान् वृष्टि आदिकी तरह। अत एव श्रुति कहती है कि 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ३.८) एवं 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन कर्मणा' (बृ० ३.२.१३)। भगवान् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ होते हुए भी कर्मसापेक्ष फलदाता हैं और उनकी यह विरुद्धधर्माश्रयता — जो स्वयं अचिन्त्यताका एक पर्याय है — ही उनका माहात्म्य है। अत एव अणुभाष्य एवं विद्वन्मण्डन में इस पक्षका समर्थन भी मिलता है। कर्मफलभोगार्थ सृष्टि किये जानेका वह मत शुद्ध द्वैत-सिद्धान्तमें स्वीकार्य नहीं हो सकता है जिसके अनुसार जीवकृतधर्माधर्मसापेक्ष ईश्वर ही जीवोंसे अनादिकर्मप्रवाहके नियमानुसार कर्म करानेके लिए सृष्टि करता है तथा विधि या निषेध के अनुसार शुभाशुभ फल प्रदान करता है, क्योंकि उक्त मत अन्ततः अनीश्वरवादमें ही पर्यवसित होता है[2]। वस्तुतः कर्म भी भगवदिच्छावश ही तत्तत्-फलप्रद होता है। इतना ही नहीं अपि तु कर्म भी भगवान्‌का ही एक अन्यतम रूप है। भगवान् न केवल फलदाता हैं अपि तु कर्म-कारयिता भी हैं। वस्तुतः कर्मको ब्रह्मात्मक और इसीलिए अनादि मानकर कर्मफलभोगार्थ सृष्टि किये जानका पक्ष स्वीकार कर लेनेपर ब्रह्मको कारयिता कहनेकी भी अपेक्षा नहीं होती है क्योंकि इस

---

१. कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥ (भाग० १०.३३.२०) आदि।

२. द्र०, अ० २.३.४२; विद्व०, पृ० १६०-१६५ तथा ऊपर पृ० ५९ एवं २१२-२१७.

पक्षमें स्वयं कर्मको ब्रह्मका ही एक रूप, और उस कर्मके विहित या निषिद्ध होनेको ब्रह्मकी इच्छा या उसके अभिव्यञ्जक ब्रह्मनिःश्वासरूप वेद पर निर्भर मान जाता है। ब्रह्मात्मक अनादिकर्मवश जीव सुखदुःख प्राप्त करता रहता है और ईश्वर सृष्टयुत्तरकालमें (वर्षाकी तरह, सादि कारयितृत्वके साथ, तटस्थ भावसे) फलदाताके रूपमें उसे फल प्राप्त कराता रहता है। इस प्रकार ईश्वरको सर्वसमर्थ मानते हुए भी उसकी कर्मसापेक्षताकी व्याख्या इस मतमें हो जाती है। एक अन्य पक्ष ईश्वरके श्रौत एवं अनादि कारयितृत्वके आधार पर—स्वतन्त्र कर्मको बीचमें लाये विना ही—कर्मफलभोगार्थ सृष्टि माननेका हो सकता है। इन दोनों पक्षोंका आधार विद्वन्मण्डनमें प्रतिपादित क्रीडार्थ कर्मफलभोग और कर्मफलभोगार्थ सृष्टि माननेका सिद्धान्त है।

* ६.१.३ * सृष्टिको मायिक और इसीलिए निष्प्रयोजन माननेके जगन्मिथ्यात्ववादी दार्शनिकोंके मतका विस्तारसे खण्डन श्रीवल्लभाचार्यने तथा विद्वन्मण्डनकारने भी किया है। अद्वैतवेदान्तमें मायाका जो स्वरूप माना गया है वह अनुपपन्न है और उससे जगत्प्रतीतिकी व्याख्या नहीं की जा सकती इसे तर्कपुरस्सर समझाते हुए, ब्रह्मके जगत्कर्तृत्वको पारमार्थिक न स्वीकार कर अविद्योपाधिक माननेके पूर्वपक्षीके मतका खण्डन कर शुद्धब्रह्मके ही जगत्कर्ता होनेका विस्तारसे प्रतिपादन विद्वन्मण्डनमें किया गया है[1]।

सृष्टिको मायिक एवं निष्प्रयोजन माननेका मत भी शुद्धाद्वैत वेदान्ती स्वीकार कर सकते हैं यदि मायाको ब्रह्मकी अन्यतम शक्ति माननेका सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाये, क्योंकि उस स्थितिमें मायानिष्ठ निष्प्रयोजनता अन्ततः ब्रह्मनिष्ठ निष्प्रयोजनतामें पर्यवसित होगी।

* ६.१.४ * उपर्युक्त विवेचनका निष्कृष्टार्थ यह है कि सृष्टिकी सप्रयोजनताके क्रीडा, स्वभाव एवं कर्मफलदान ये तीन कल्प हैं और एक चौथा कल्प सृष्टिकी निष्प्रयोजनताका है। ये सभी शुद्धाद्वैतवेदान्तीको अस्वीकार्य भी हैं और प्रकारविशेषसे मान्य भी हैं। क्रीडा एवं स्वभाव आदिको विना ब्रह्मात्मक माने विरुद्धधर्माश्रय नहीं कहा जा सकता[2] अतः शुद्धाद्वैतवेदान्तमें इन्हें ब्रह्मात्मक मानकर ब्रह्मकी ही तरह विरुद्धधर्माश्रय स्वीकार कर लेनेपर उपर्युक्त कल्पोंको ग्राह्य माना जा सकता है; किन्तु जिस प्रकार ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण कल्प्य एवं वाच्य होते हुए भी इदमित्थंतया

---

१. द्र०, विद्व०, पृ० २४-३९, ७५, १३०-१३५, ३५०-३५३. तत्त्वा० शा० पृ० २५४-३००; ऊपर पृष्ठ ५१-५५, ७७-७९, ११३-११८ एवं १४४-१६६.

२. न हि विरुद्धधर्माश्रयत्वं भगवद्व्यतिरिक्ते सम्भवति, सर्वभवनसामर्थ्याभावात्। (अ० १.२.२४)।

या इयत्तया वाच्य या कल्प्य नहीं हो पाता है[1] उसी प्रकार उपर्युक्त कल्पोंमेंसे कोई भी शुद्धाद्वैत ब्रह्मवादके सन्दर्भमें कल्प्य होनेपर भी इदमित्थंतया कल्प्य या वाच्य नहीं हो पाता है।

* ६.१.५ * इन सभी मतोंपर विचार कर श्रीवल्लभाचार्य इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि जगत्की सृष्टिमें ब्रह्मका प्रयोजन क्या है इसका इदमित्थं निरूपण दुःशक है। इस सृष्टिको उत्पन्न कर भगवान् तिरोहित हो गये हैं और जीव अपनी देश-कालमें सीमित चेतनामें अनन्त-मूर्ति भगवान्का स्वरूप या सृष्टिका भगवदीय प्रयोजन कैसे समझ सकता है? उसके समक्ष सृष्टिका जितना प्रकट स्वरूप है वही ब्रह्मके अप्रकट स्वरूपको समझनेमें व्यवधान-रूप है। अतः सृष्टिमें उत्पन्न कोई भी व्यक्ति न तो भगवान्का और नउनसे सम्बन्धित अन्य बातोंका पूर्णतया आकलन कर सकता है। प्रलयदशामें तो ज्ञानसामग्री भी नहीं रह जाती है[2] अतः उस दशामें भी ज्ञानकी सम्भावना नहीं रहती। इस ब्रह्माण्डरूप उदुम्बर (गूलर) फलमें कीटसे भी गयी बीती स्थितिमें अवस्थित जीव जब स्वयं अपनी गति या प्रयोजन नहीं जानता तो भगवान्की गति या प्रयोजन कहाँसे जान सकता है? वह यहाँ वहाँ थोड़ी बहुत जो उत्प्रेक्षा करता रहता है वह तो कोई प्रमाण नहीं है[3]। अतः प्रयोजन-जिज्ञासा द्वारा किसी तर्कशुद्ध निर्णय पर पहुँच पाना सम्भव नहीं है, परन्तु जैसे सृष्टि सदंश एवं चिदंश के रूपमें ब्रह्मका आंशिक प्रकाशन है उसी तरह श्रुति में कहीं-कहीं सृष्टिके प्रयोजनका आंशिक प्रकाशन मिलता है। उपनिषदोंमें उक्त प्रकारसे जो आंशिक उल्लेख उपलब्ध होते हैं हम उन्हींका यथाबुद्धि अवधारण कर सकते हैं।

* ६.१.६ * इसीलिए भागवतके तृतीय स्कन्धमें वर्णित विदुरके, "चिन्मात्र अविकारी निर्गुण भगवान्का लीलार्थ ही सही गुणवान् और क्रियावान् होना कैसे सम्भव है, क्योंकि किसी बच्चेका क्रीडार्थ उद्यम काममूलक होता है—खेलनेकी उसकी इच्छा किसी अन्य (अपनेसे भिन्न) के साथ ही होती है—अतः अन्यरहित स्वतःतृप्त भगवान् क्रीडार्थ जगत्की सृष्टि करते हैं यह कैसे समझा जाये? यदि 'गुणमयी माया द्वारा भगवान्ने विश्वकी सृष्टि की है, मायासे ही इसका पालन करते हैं तथा मायासे ही इसे

---

१. ब्रह्मणि व्यवहारोऽस्ति कश्चिन्न वेति। तत्र प्रथमसूत्र एव व्यवहारः स्थापितः। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै० २.४.१, २.९.१) इत्यादीनां विशेषेण इदमित्थतया निरूपण-निषेधन-परत्वम्। एवमेव कार्यसिद्धे। (अ० १.२.१)।

२. द्र०,सुबो० १०.८७.२४.

३. अपरे पुनस्तत्प्रेर्याः, क्वचिद् ब्रह्माण्डोदुम्बरे मशकवत्स्थिताः, स्वगतिमेव न जानन्ति कुतो भगवद्गतिम्? उत्प्रेक्षा त्वप्रमाणम्। (सुबो० ३.६.३९)।

पुनः उपसंहृत भी करेंगे' यह मानें तो जो भगवान् देशतः, कालतः या अवस्थातः सभी तरहसे नित्य-प्रकट ज्ञानरूप या बोधरूप हैं उनका अज्ञानात्मिका मायासे सम्बन्ध कैसे जुड़ सकता है ? भगवान तो एकमेवाद्वितीय हैं। तो फिर यह दुर्गम क्लेशरूप जड-जीव-भावापत्ति उनको कैसे होती है[1] ?" (भाग० ३.७.१-६)। इस ज्ञानसङ्कट या सन्देहका निवारण मैत्रेय यहीं कह कर करना चाहते हैं कि 'भगवान्की इस मायाका स्वरूप ही ऐसा है कि यह मानव-बुद्धिसे आकलनीय नहीं है।' (भाग० ३.७.८)। भगवान्ने सृष्टि क्यों की या कैसे की इस सम्बन्धमें जो-जो सन्देह उठते हैं वे स्वयं अपने आपमें प्रश्न नहीं पैदा करते हैं प्रत्युत समाधान देते हैं कि यह तत्त्व अगम्य है—मानव-बुद्धिसे परे है। अतः अविकृत रहते हुए भी भगवान् ही सारी सृष्टि स्वयं अपनेमें रचते हैं। श्रुतिके प्रामाण्यके बलपर ब्रह्मका स्वरूप ही ऐसा स्वीकार करना चाहिए जिस स्वरूपके कारण ही सारी बातोंका समाधान हो जाये और माया आदि पदार्थोंकी कल्पना न करनी पड़े। यदि माया आदिकी कल्पना करनी ही पड़ती हो तो वह भी उन्हें ब्रह्मात्मक मानकर ही करनी चाहिए तभी श्रौतार्थता निभेगी अन्यथा स्वकपोल-कल्पनाके कारण अप्रामाणिकता आ जायेगी। अतः जडजीवात्मक जगद्रूप कार्य और सच्चिदानन्दात्मक कारणरूप भगवान् का वैजात्य भगवान्की सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा माया—जो भगवान्की ही एक अन्यतम शक्ति है—के स्वरूपको भलीभांति न समझनेके कारण प्रतीत होता है। यह माया-शक्ति अज्ञानात्मिका नहीं है। यह शक्तिमान् ब्रह्मसे तादात्म्य-सम्बन्ध वाली है। इस प्रकारकी मायाको—जो प्रकारान्तरसे ब्रह्मका ही दूसरा नाम है—कारण मान लेनेपर सभी दोषोंका परिहार हो जाता है क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप और ब्रह्मगत सृष्टिप्रयोजन अचिन्त्य हैं[2]। इसी अचिन्त्यताको जब उपनिषद् 'लीला' कहते हैं तो शुद्धाद्वैतवादी भी 'लीला' कह देते हैं तथा जब उपनिषद् इसे 'स्वभाव' अथवा प्राक्कल्पीय कर्मफलदानार्थ 'सृष्टि' कहते हैं तो वे वह भी स्वीकार कर लेते हैं। यदि उपनिषद् इन सारे प्रयोजनोंको मोड़कर 'निष्प्रयोजन मायावश'

---

१. द्र०, सुबो० ३.७.२-३.

२. अविकृत एव भगवान् सर्वं करोति तादृशमेव भगवत्स्वरूपम्, श्रुतिप्रामाण्यात्, यादृशे अङ्गीक्रियमाणे सर्वसमाधानं भवति। तस्मात्तत्र न मायादिकल्पना। योऽनुपपत्ति-परिहारो मायया सोऽपि स्वरूपेणैव। एवं सति श्रौतार्थता भवति, अन्यथा स्वप्रामाणिकं स्यात्, स्वकपोलकल्पनात्···। कार्यकारणवैजात्यं माययैव समाहितम्। ··· इयं भगवतो माया सा एव याऽस्माभिर्जगत्कारणत्वेन निरूपिता। तव वाक्येऽपि सैव। अतो यदस्माभिर्निरूपितम्, तदेव त्वया तस्या विरुद्धधर्मनिरूपणेन निरूपितमिति नाऽत्र किञ्चित्समाधाधातव्यम्, यतः सा नयेन न्यायशास्त्रेण विरुद्धयते। स विरोधः स्वयैव निरूपित इति नाऽस्माभिर्बोधनीयः, अस्यैव सिद्धान्तत्वात्। (सुबो० ३.७.८)।

सृष्टि की बात कहते हैं तो शुद्धाद्वैतीको वह भी स्वीकार्य है, किन्तु इनमेंसे कोई भी पक्ष युक्तिबलसे और ब्रह्मवादके मूल्यपर नहीं।

६.२.० पूर्वपक्षीका कथन है कि,

आत्मानमेवात्मतया विजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोग-भवाभवौ यथा॥

(भाग० १०.१४.२५)।

इत्यादि वाक्योंमें प्रपञ्चके ज्ञान-नाश्य होनेका उल्लेख हुआ है और ज्ञानसे केवल अज्ञानका ही नाश होता है, अतः प्रपञ्चको अज्ञानकार्य एवं मिथ्या मानना ही उचित है[1]। इस सम्बन्धमें सिद्धान्तीका कहना है कि पूर्वपक्षीका यह मानना ठीक नहीं है कि ज्ञानसे केवल अज्ञानका ही नाश होता है, क्योंकि भगवत्स्मरण एवं नामग्रहण आदिरूप ज्ञानसे पापों जिन्हें अज्ञानकार्य नहीं माना जाता—के नाशका उल्लेख भी मिलता ही है[2]। इसे स्पष्ट करते हुए प्राभञ्जनकार कहते हैं[3] कि (पूर्वपक्षीको भी अज्ञानके कार्यके रूपमें अनभिमत) पापोंकी भगवत्स्मरणरूप ज्ञानसे निवृत्ति होती है, अतः ज्ञानको केवल अज्ञानका ही निवर्तक कहना और इसी नियमके अनुरोधसे प्रपञ्चको अज्ञानका कार्य मान लेना उचित नहीं है।

६.२.१ पूर्वपक्षीका कथन है कि हम शब्दबलसे ब्रह्मज्ञानद्वारा केवल अज्ञानके नाश होनेका उपपादन करते हैं, (उसके ज्ञानत्वके आधारपर नहीं), अतः किसी अन्य प्रकारके भगवत्स्मरणादिरूप ज्ञानसे पापादि इतर-पदार्थोंका नाश होनेके सिद्धान्तीके मतसे हमारा पक्ष प्रभावित नहीं होता क्योंकि यह मान लेनेमें परस्पर-विरोध नहीं है कि ब्रह्मज्ञानसे भावरूप अज्ञानका तथा भगवत्स्मरणादिरूप ज्ञानसे पापका नाश होता है।

इस विषयमें सिद्धान्तीका कहना है कि ब्रह्मज्ञान जिसका निवर्तक बताया गया है वह ज्ञाननिवर्त्य भावरूप अज्ञान संसाररूप ही है, प्रपञ्चरूप नहीं,[4] क्योंकि ब्रह्मज्ञान पञ्चपर्वा अविद्याके नाशपूर्वक उस अविद्याके कार्य अहन्ता-ममतारूप अभिमत्यात्मक

---

१. ज्ञाननाश्यत्वोक्त्या, अस्य ज्ञानस्य च अज्ञानमात्र-निवर्तकत्वेन अस्यापि अज्ञान-कार्यत्वम्। (विद्व०, पृ० १३१)।

२. विष्णु-स्मरणादिना अतद्रूपाणां पापानां नाशात्। (विद्व०, पृ० १३१)।

३. व्यवहारदशायां स्मरणरूप-ज्ञानेन पापानामज्ञानकार्यत्वेनोभयवाद्यनभिमतानां निवृत्ति-दर्शनेन ज्ञानस्याज्ञानमात्रनिवर्तकत्वं न सम्भवतीति तादृश-नियमानुरोधेन प्रपञ्चस्या-ज्ञान-कार्यत्वं न वक्तुं शक्यते इत्यभिप्राय इति प्राभञ्जनः। (विद्व०, टिप्पणी पृ० १३१)।

४. अस्तु वा ब्रह्मज्ञानस्य अज्ञानमात्र-निवर्तकत्वम्, तच्च संसाररूपमेव, न तु प्रपञ्चः। (विद्व०, पृ० १३२-१३३)।

संसारका ही नाश करता है भगवत्कार्यरूप प्रपञ्चका नहीं, अन्यथा अर्थात् यह न स्वीकार करने पर तो ब्रह्मवेत्ताके स्वपुत्र-दर्शनाभाव आदिका अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा[1]। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार यह प्रपञ्च मिथ्या नहीं सत्य एवं सद्रूप है और इसे सद्रूप न स्वीकार कर मिथ्या, असत् या असत्य कहनेवाले मायावादी वैनाशिक हैं जिनका यह मत मान लेनेपर भगवान् या ब्रह्मा को असत् एवं अज्ञानकार्य इस जगत्का कर्ता स्वीकार करनेका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होता है[2]। गो० श्रीविट्ठलनाथके अनुसार तो उन लोगोंने जगन्मध्यपाती भगवन्मूर्ति एवं उसकी सेवा आदिके प्रति असहिष्णु होनेके कारण ही जगत्के असत् होनेके मतका प्रचार किया है और उनके ऐसा करनेमें कलियुगमें ऐसा करनेकी भगवदिच्छा ही हेतु है[3]। वस्तुतः 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० २.२.८) इत्यादि प्रमाणवाक्योंसे निर्णीत रूपसे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मज्ञान केवल अज्ञानका ही निवर्तक नहीं अपितु पुण्य एवं पाप का भी निवर्तक है,[4] अतः ब्रह्मज्ञान-निवर्त्य मानकर जगत्को अज्ञानकार्य एवं मिथ्या कहनेका मायावादीका मत युक्तियुक्त नहीं है।

६.२.२ पूर्वपक्षीका कहना है कि उपलब्धि होने मात्रसे जगत्को सत्य स्वीकार कर लेना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर तो स्वप्न आदिको भी सत्य स्वीकार करनेका अनिष्ट-प्रसङ्ग आ उपस्थित होगा। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि जगत्को सत्य स्वीकार किये विना पूर्वपक्षी उसकी प्रतीतिकी व्याख्या नहीं कर सकते। वासना या अदृष्ट से जगत्की प्रतीति होनेके मतका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं

---

१. स्वरूपाज्ञान-देहेन्द्रियान्तःकरण-प्राणाध्यासरूप-पञ्चपर्वात्मकाविद्या-नाशे तत्कार्यरूपाहन्ता-ममतारूप-संसारनाश एव ज्ञानकार्यं, न तु प्रपञ्चनाशोऽपि, ब्रह्मविदः स्वपुत्रादिदर्शनाभाव-प्रसङ्गात्। (विद्व, पृ० १३३)।

२. अस्य=जगतः, सतः=सद्रूपस्य। अनेन मायावादादि-पक्षा निराकृताः। ते हि वैनाशिकाः। 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' (गीता १६.८) इतिवाक्यात्। तेषामेव मते अस्य जगतः असत्यत्वम्। अन्यथा असतः अज्ञानकार्यस्य कर्ता भगवान् को वा स्यात्। (सुबो० १०.२.२८)।
तस्मादविद्यामात्रत्वकथनं मोहनाय हि। (तत्त्वा० १.८९)।

३. येषामप्यसत्त्वेन जगदभिमतं तेषामपि जगन्मध्यपाति-भगवन्मूर्ति-तद्भजनाद्यसहिष्णुतयैव। तेषां तथात्वं तु कलौ तथा भगवदिच्छयैवेत्युक्तम्। (विद्व०, पृ० ३५३)। द्र०, विद्व०, पृ० ६१ तथा तत्त्वा० शा० पृ० ५३-६३ एवं २६३-२६८.

४. वस्तुतस्तु ब्रह्मज्ञानस्य न अज्ञान-मात्र-निवर्तकत्वं, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० २.२.८) इति श्रुति-स्मृतिवचनात् पुण्य-पापयोरपि निवृत्तिः।
(विद्व०, पृ० १३३-१३४)।

कि पूर्वपक्षीका मत स्वीकार करनेपर ब्रह्मसूत्रोंका विरोध होता है। 'नाभाव उपलब्धेः' (ब्र० २.२.२८) इस सूत्रसे प्रारम्भ होनेवाले अधिकरणमें प्रथम सूत्रमें यह कहा गया है कि प्रपञ्चकी उपलब्धि होती है अतः उसका अभाव नहीं स्वीकार किया जा सकता। द्वितीय सूत्रमें इस आशङ्काको प्रस्तुत किया गया है कि उपलब्ध होने मात्रसे वस्तुका अस्तित्व सिद्ध होना मान लेनेपर तो स्वप्न, (इन्द्रजालादिरूप) माया एवं भ्रम आदिमें उपलब्ध पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार करनेका अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा और इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि बाह्य प्रपञ्च बहुकाल-स्थायी होनेसे स्वप्नादिसे विलक्षण है। स्वप्नादिमें उसी समय या स्वप्नसे जागते ही स्वप्नमें उपलब्ध वस्तुके अभावका बोध होता है किन्तु बाह्य प्रपञ्चके स्तम्भ-पर्वतादि पदार्थोंकी उपलब्धिके बाद ऐसा नहीं होता। अतः स्वप्नादिका दृष्टान्त असङ्गत है। तृतीय-सूत्रमें वासनाके आधारपर जगत्के अस्तित्वकी व्याख्याकी अनुपपन्नताका उपपादन करते हुए कहा गया है कि बाह्यार्थके अभावमें वासनाका अस्तित्व ही उपपन्न नहीं है अतः बाह्यार्थोंका सत्यत्व न मानने वाले वासनासे प्रपञ्च-प्रतीतिकी व्याख्या नहीं कर सकते। मायावादी जगत्को आभासमात्र मानते हैं अतः वे सद् वस्तुके अभावमें प्राथमिक अनुभवके ही सम्भव न होनेसे तज्जन्य वासनासे जगत्प्रतीतिकी व्याख्या नहीं कर सकते। यदि श्रुति प्रपञ्चको असत्य मानती होती तो ब्रह्मसूत्रकार ऐसा न कहते, अतः जगत्को मिथ्या न कह कर सत्य स्वीकार करना ही उचित है[1]।

६.२.३ अत एव श्रीवल्लभाचार्य एवं गो० श्रीविट्ठलनाथ ने इस सिद्धान्तका पुरस्कार किया है कि जगत् ब्रह्मका अविकृत परिणाम है और ब्रह्म इसका समवायिकारण है। यह परमकाष्ठापन्न-वस्तु-कृतिसाध्य, भगवत्कार्य एवं ब्रह्मात्मक है[2]। इसीलिए ब्रह्मज्ञानसे इसका नाश नहीं होता। श्रीवल्लभाचार्यने अपने तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें इसे स्पष्ट करते हुए कहा है[3] कि भगवान्के प्रपञ्चरूपमें आविर्भूत होनेके निरूपक श्रुतिवाक्योंसे यह ज्ञात होता है कि भगवान् प्रपञ्चरूपमें प्रपञ्चान्तःपाती पुरुष या जीव के रूपमें तथा जीवकृत साधन और उस साधनके फलके रूपमें आविर्भूत होकर क्रीडा करते हैं। ऐसी स्थितिमें 'मैं इस कर्मका कर्ता हूँ, इस कर्मसे होनेवाला फल मेरा है, मैं इस फलका भोक्ता हूँ' इत्यादि ज्ञान भ्रमरूप हैं, क्योंकि इनमें स्वयं अपनेको, अपनी क्रियाको और उसके फलको अब्रह्मत्वेन (अर्थात् ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न रूपमें) समझा जाता है। उक्त अहन्ता-ममतारूप अभिमत्यात्मक संसार अविद्याकी कृति है और तत्त्वज्ञान हो जानेपर

---

१. द्र०, विद्व०, पृ० ४०-४३.

२. द्र०, ऊपर पृ० ६३-६४, ११३-११८ तथा १५७-१६६.

३. एतत्सर्वं भागवत-तत्त्वदीप-निबन्धे प्रपञ्चितं पितृचरणैः इति नात्र वितन्यते। (विद्व०, पृ० १३३)।

उपर्युक्त सभीके ब्रह्मस्वरूप होनेका ज्ञान हो जानेके कारण उस अविद्याजन्य संसारकी निवृत्ति हो जाती है, किन्तु प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं होती क्योंकि वह ब्रह्मात्मक है[१]। इस प्रकार संसारके स्वरूपका अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक ज्ञान नहीं हो जाता[२]। ज्ञान हो जाने अर्थात् जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाने पर मुक्त पुरुषके अहन्ता-ममतात्मक संसारका नाश हो जाता है किन्तु प्रपञ्चका नाश तो उस दशामें भी नहीं होता है। प्रपञ्चका विलय तो तभी होता है जब भगवान् कृष्ण आत्मरमण करना चाहते हैं[३]। जिस प्रकार भगवान् जीवोंके हितके लिए विश्रामदायिनी रात्रिकी रचना करते हैं उसी प्रकार, आत्मरमणकी इच्छा होनेपर, वे जीवोंके सुखके लिए प्रपञ्चको अपनेमें विलीन करके रमण करते है[४]।

उदाप्लुतं विश्वमिदं यदासीद्यन्निद्रयाऽमीलित-दृङ् न्यमीलयत्।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतो निरीहः॥ (भाग० ३.८.१०)।

श्रीमद्भागवतके इस पद्य में इसी आत्मरतिका निरूपण है।

महावाक्यार्थके प्रसङ्गमें (ऊपर पृष्ठ ११८ एवं १६४-१७०) पर हमने प्रपञ्चकी ब्रह्मरूपता एवं नित्यता के ही श्रुत्यभिमत सिद्धान्त होनेके श्रीवल्लभाचार्यके मतका उल्लेख किया है। श्रीवल्लभाचार्य प्रपञ्चकी ब्रह्मताका प्रतिपादन श्रुतिबलसे करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्मात्मक प्रपञ्चके नित्य होनेके कारण उसके आविर्भाव एवं तिरोभाव का प्रतिपादन किया जाता है। और वह आविर्भाव एवं तिरोभाव विद्यमान वस्तुका ही सम्भव है, असत्का नहीं। इसी प्रकार सत् पदार्थका अभाव भी 'नाभावो विद्यते सतः' (गीता २.१६) इत्यादि वाक्योंके विपरीत और असम्भव है[५]। उनके उपर्युक्त

---

१. वस्तुतस्तु ·· रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेणाविर्भावात्, तदन्तःपातिपुरुषरूपेण, तत्कृत-साधनरूपेण आविर्भूय तत्फलरूपेण चाविर्भवन् क्रीडति भगवान्। एवं सति, 'अहमेतत्कर्मकर्ता, एतज्जनितं फलं च मम, अहमेतस्य भोक्ता' इत्यादिज्ञानानि स्वस्य, स्वक्रियायाः, तत्फलस्य च अब्रह्मत्वेन ज्ञानाद्, भ्रमरूपाणि इति मन्तव्यम्। स च अहन्ता-ममतात्मकोऽविद्यया क्रियते। तत्त्वज्ञाने सति, उक्तरूपत्वज्ञानात्, निवर्तते; न तु प्रपञ्चः, ब्रह्मात्मकत्वात्। (तत्त्वा० शा० १.२३)।

२. अस्य स्वरूपं ज्ञानपर्यन्तमेव तिष्ठति। (तत्त्वा० प्र० १.२४)।

३. 'संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचित्।
कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः॥' (तत्त्वा० १.२४)।

४. यदा स्वरतीच्छा, तदा प्रपञ्चरूपं स्वस्मिन् विलाप्य रमते।···जीवानां तदा सुखार्थं प्रलयं करोति, यथा रात्रिम्। (तत्त्वा० प्र० १.२४)।

५. श्रुतितो हि प्रपञ्चस्य ब्रह्मतोच्यते। तस्य नित्यत्वादाविर्भाव-तिरोभावावुच्येते, तौ च विद्यमानस्यैव वस्तुनः सम्भवतो, नासतः। सतश्च नासत्त्वम्। (तत्त्वा० प्र० १.२३)।

मतका निर्देश करते हुए गो० श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं कि श्रुतिमें जगत्के अब्रह्मत्वकी आशङ्काका निरास करनेके लिए ही 'तत्सत्यम्' (छा० ६.८.७) इत्यादि वाक्योंमें उसे सत्य कहा गया है, अतः श्रुतिको जगत्के आविर्भाव एवं तिरोभाव का प्रतिपादन ही अभीष्ट है और उसके नष्ट एवं उत्पन्न होनेकी प्रतीति भ्रममात्र है[1]।

•६.३.०• जगत्को ज्ञाननाश्य माननेका यह भ्रम वस्तुतः संसार एवं जगत् के भेदको हृदयङ्गम न कर सकनेके कारण होता है। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार संसार एवं प्रपञ्च के भेदका ज्ञान न होनेसे लोगोंको मोह या भ्रम हो जाता है[2]। अतः उन्होंने एवं उनका अनुसरण करते हुए सम्प्रदायके परवर्ती ग्रन्थकारोंने इनका विशद विवेचन करते हुए इस प्रकार प्रतिपादन किया है[3] कि साधारणतया संसार एवं प्रपञ्च के विवेकको वाल्लभ मतका अन्यतम वैशिष्ट्य और व्यावर्तक सिद्धान्त कहा जाने लगा है। हमने प्रपञ्च एवं संसार के स्वरूप और उनके भेद का तत्त्वार्थदीपनिबन्धकी अपनी स्नेहप्रपूरणी व्याख्या (पृ० ७५-८७, २६९-२७७ तथा ३०३-३०४) में एव प्रमेयरत्नार्णवके अपने अनुवाद (पृ० १-२६ तथा २११-२६१) में विस्तारसे विवेचन किया है। अनावश्यक होनेसे उसकी पुनरुक्ति न करते हुए हम यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त समझते हैं कि श्रीवल्लभाचार्य एवं उनके अनुयायी विद्वानों ने अपने पूर्वोल्लिखित विवेचनोंमें इसे श्रुति, स्मृति एवं पुराणों के सिद्धान्तके रूपमें ही प्रतिपादित किया है, अपनी नवीन उद्भावनाके रूपमें नहीं।

•६.३.१• प्रपञ्च ब्रह्मोपादानक एवं सर्वभवनसामर्थ्यरूप-माया-करणक है जब कि संसार निरुपादानक एवं अविद्याकरणक[4] है अतः स्वरूप एवं लय-प्रकार में भेद होनेके साथ

---

१. 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६.८.७) इति जडस्य सर्वस्य अपि तदात्मकत्वम् उक्तम्। ततो जडस्य विनाशित्व-दर्शनेन अब्रह्मत्व-शङ्का-निरासाय आह, 'तत् सत्यम्' (छा० ६.८.१) इति। तेन आविर्भाव-तिरोभावौ एव श्रुत्यभिमतौ, नाशोत्पत्ति-प्रतीती भ्रान्ते। (विद्व०, पृ० ७४-७५)।

२. संसार-प्रपञ्चयोः भेदाज्ञानात् केचिन्मुग्धा भवन्ति। (तत्त्वा० शा० १.२३)।

३. उदाहरणार्थं द्र०, सुबो० १.१.१; २.९.३२; ३.७.१६; १०.१४.२५; १०.८०.३७; ११.३.३; तत्त्वा० प्र० एवं तत्त्वा० प्र० आ० १.२३; १.८३; १.८९; सुव० पृ० १३२-१३३; प्र० र० 'प्रपञ्चविवेक' एवं 'ख्यातिविवेक' तथा सिद्धान्त-मुक्तावली ४ की विवृति एवं योजना आदि टीकाएँ।

४. श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार "अविद्यापि तच्छक्तिः, मुख्यासु द्वादश-शक्तिषु गणनात्, 'श्रिया पुष्ट्या गिरा' (भाग० १०.३९.५५) इतिवाक्यात्" (तत्त्वा० प्र० १.२३) अर्थात् अविद्या भी भगवान्की ही एक अन्य शक्ति है जो मायासे भिन्न है क्योंकि

ही कारणभेद होनेसे भी प्रपञ्च तथा संसार के परस्पर-भिन्न होनेके मतकी ही पुष्टि होती है[1] और इसीलिए आन्तरालिकी-सृष्टिरूप अभिमत्यात्मक संसारको ब्रह्मात्मक प्रपञ्चसे अभिन्न समझना उचित नहीं है। शास्त्रोंमें अज्ञान, भ्रम एवं असत् आदि शब्दों द्वारा निरूपित पदार्थ अभिमत्यात्मक एवं अहन्ता-ममतारूप संसार ही है, ब्रह्मात्मक प्रपञ्च नहीं[2]।

३.४.१ श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार श्रुति ब्रह्मकी जगत्कारणताका प्रतिपादन करनेके साथ ही जगद्रूप कार्यकी ब्रह्मात्मकताका अथवा कार्यरूप जगत्के ब्रह्मत्वका प्रतिपादन भी करती है[3]। श्रुतिके जिन वाक्योंमें जगत्के मिथ्या या मायिक होनेका निरूपण हुआ बताया जाता है उनमें प्रयुक्त 'माया' आदि पदोंका अर्थ क्या है इस पर श्रीवल्लभाचार्यने अपने तत्त्वार्थदीप-निबन्धमें विचार किया है। उनका कहना है कि मायावादी दार्शनिक 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ० २.५.१९), 'अनृतापिधानाः' (छा० ३.८.१), 'वाचारम्भणं विकारः' (छा० ६.१.४), 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे० ४.१०), 'एवमेवैषा माया····जीवेशावाभासेन करोति, माया च अविद्या च स्वयमेव भवति' (नृ० उ० ता० ९.३), एवं 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३.४.२) आदि वाक्योंमें प्रयुक्त 'माया' आदि पदोंका अर्थ अविद्यारूप माया करते हैं, किन्तु वह इन पदोंका श्रुति-विवक्षित अर्थ न होकर अर्थप्राय (अर्थात् ठीक अर्थसे कुछ कम) है ऐसा समझना चाहिए क्योंकि मायावादियोंको अभिमत मायाका प्रपञ्चके सत्यत्वके बोधक श्रुतिवाक्योंसे

इसकी गणना इसी रूपमें भगवान्की द्वादश मुख्य-शक्तियोंमें श्रीमद्भागवतके अधोलिखित श्लोकमें की गयी है।

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्॥ (भाग० १०.३९.५५)।

१. उत्पत्ति-प्रलययोः भिन्न-प्रकारत्वाद् उभयोर्भेदः। (तत्त्वा० प्र० १.२४)।

२. अस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीवस्य संसार उच्यते, न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वाद् असत्त्वेन अस्य गणनात्। अज्ञानं भ्रमः असद् इत्यादिशब्दाः अहं-ममेतिरूपे संसार एव प्रवर्तन्ते, न तु प्रपञ्चे इत्यर्थः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्। (तत्त्वा०प्र० १ २३)। द्र०, 'नैवात्मनो न देहस्य संसृतिः सुविविक्तयोः।
अविवेकः तयोर्योऽसाविह तस्यैव संसृतिः॥' (द्र०, भाग० ११.२८.१०)। इति भगवता देहात्मानौ पृथगुक्त्वा तदविवेकस्य एव संसारकथनात्। (पुव० पृ० १३२)।

३. वस्तुतस्तु 'सत्यश्चानृतञ्च सत्यमभवद्' (तै० २.६) इति, 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २.७) इति, 'प्रजायेय' (तै० २.६) इत्यादि-वाक्यैः स्वतःप्रमाणभूतैः निःसन्दिग्धं प्रतिपाद्यते कार्यरूपस्य जगतो ब्रह्मत्वम्। (तत्त्वा० प्र० १.७९)।

विरोध है और इसीलिए उसकी श्रुतिवाक्योंके अर्थके साथ सङ्गति नहीं बैठती[1]। इन वाक्योंमें प्रयुक्त माया, अनृत आदि शब्दोंका वास्तविक अर्थ क्या है यह बताते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ० २.५.१९) इत्यादि वाक्योंमें माया शब्दसे श्रुतिका अभिप्राय इन्द्रियजन्य बुद्धिवृत्तिसे है और 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे० ४.१०) आदि वाक्योंमें प्रथमकार्यरूप सूक्ष्मतत्त्वसे। 'सत्यश्चानृतश्च सत्यमभवत्' (तै० २.६) इत्यादि वाक्योंमें ब्रह्मके ही देहेन्द्रियादिरूप एवं आत्मरूप होनेका प्रतिपादन मिलता है और यहाँ 'अनृत' शब्दसे श्रुतिका तात्पर्य देहेन्द्रियादिसे है[2]। आजकल वेदकी जिन ग्यारह शाखाओंका प्रचार है उन उपलब्ध होनेवाली शाखाओंके किसी भी वाक्यमें जगत्के मायिक होनेकी चर्चा नहीं मिलती है[3]।

६.४.२ पूर्वपक्षीका कहना है कि पुराणोंमें अनेक श्लोकोंमें[4] जगत्के मायिक

---

१. एतेषां पदार्थप्राया माया वाक्यविरोधेन न वाक्यार्थे सङ्गच्छते। (तत्त्वा० प्र० १.७९)। द्र०, तत्त्वा० प्र० आ० १.७९.

२. यथायथं मायाशब्देन क्वचिदिन्द्रियवृत्तिः, क्वचित्प्रथमं कार्यं सूक्ष्ममनृतशब्देन देहेन्द्रियादिकं, 'सत्यश्चानृतश्च सत्यमभवद्' (तै० २.६) इति ब्रह्मण एव देहेन्द्रियादिरूपत्वमात्मरूपत्वञ्च। (तत्त्वा० प्र० १.७९)। द्र०, तत्त्वा० प्र० आ० १.७९.

३. नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासु कुत्रचित्। (तत्त्वा० १.८२)।
यदि जगतो मायिकत्वं ज्ञानार्थं कर्मार्थं वाभिमतं स्यात् तदा काण्डद्वयमध्ये क्वचिदुक्तं स्यात्। · एकादश-शाखाः साम्प्रतं प्रचरन्ति, तासु न दृश्यत इत्यर्थः।
(तत्त्वा० प्र० १.८२)।

४. उदाहरणार्थं श्रीमद्भागवतके अधोलिखित श्लोक अवधेय हैं।
यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम्॥ (भाग० ११.७.७)।
त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधः विकारो मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत्।
जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्युराद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये॥
(भाग० ११.१३.७)।
य एष संसारतरुः पुराणः···मायामयं वेद स वेद वेदम्॥
(भाग० ११.१२.२१-२३)।
असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां यत्कृता भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा॥ (भाग० ११.१३.३१)।
ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥
(भाग० ११.१३.३४)।

होनेका निरूपण किया गया है। जगत्को मायिक मान लेनेमें कल्पना-लाघव एवं बुद्धिसौकर्य भी है अतः जगत्को सत्य न स्वीकार कर मायिक माननेका मायावादका मत ही अङ्गीकार कर लेना उचित है[1]। 'मायावादको स्वीकार करनेमें कल्पनालाघव है' इस कथनका तात्पर्य यह है कि सिद्धान्तीको अभिमत ब्रह्मवादमें जगत्को सत्य माना जाता है, अतः उसमें अद्वैतनिरूपक श्रुतिवाक्योंकी व्याख्या करके अद्वैतकी सिद्धि करनेके लिए, श्रुति-स्मृति-ब्रह्मसूत्रादिके वाक्योंद्वारा जगत्की प्रपञ्चके रूपमें पारमार्थिक सत्यताका निराकरण कर, ब्रह्मके रूपमें पारमार्थिक सत्यताका प्रतिपादन किया जाता है; किन्तु मायावादमें जगत्के पारमार्थिक सत्यत्वका निराकरण कर अद्वैत-निरूपक श्रुतियोंकी व्याख्या सरलतापूर्वक कर दी जाती है; अतः अद्वैतपरक श्रुतिवाक्योंकी मायावादीको अभिमत रीतिसे व्याख्या करनेमें कल्पना-लाघव है और सिद्धान्ती ब्रह्मवादीको अभिमत प्रकारसे व्याख्या करनेमें कल्पना-गौरव है। इसीलिए,

'कल्पना-गौरवं यत्र तं पक्षं नाद्रियामहे। कल्पना-लाघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे॥'

इस न्यायसे मायावादीका लाघवपक्ष ही स्वीकार्य है, सिद्धान्तीका गौरवपक्ष नहीं। इसी प्रकार 'मायावादको स्वीकार करनेमें बुद्धिसौकर्य है' इस उक्तिका आशय यह है कि श्रुतिवाक्योंकी व्याख्या पुराणानुसारिणी होनेपर ही ग्राह्य होती है[2] और पुराणोंमें उपर्युक्त प्रकारसे अनेक श्लोकोंमें उल्लिखित मायावाद पुराणानुसारी है, अतः इसे स्वीकार करनेमें बुद्धिसौकर्य है। और षड्भावविकारयुक्त एवं जनसाधारणके अनुभवके विषय इस जगत्को ब्रह्म कहनेकी अपेक्षा (गौडपादाचार्यकी माण्डूक्य-कारिकाओंके वैतथ्य-प्रकरणमें निरूपित प्रकारसे) मायिक कहना ही अधिक बुद्धिग्राह्य होनेके कारण भी इसे स्वीकार करनेमें बुद्धिसौकर्य है।

* ६.४.३ * श्रीवल्लभाचार्यका उत्तर है कि पुराणोंमें प्रपञ्चको मायिक कहे जानेकी जो उपलब्धि होती है वह सृष्टिके इन्द्रजालपक्षका निरूपण है। इस इन्द्र-जालपक्षका विवरण उन्होंने,

महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्माययासृजत्।

---

१. ननु पुराणेषु मायिकत्वं श्रूयते प्रपञ्चस्य"। ततो लाघवात् मायावाद एव बुद्धि-सौकर्यादङ्गीकर्तव्यः। (तत्त्वा० प्र० १.८२)।

२. यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥
'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥' (ब्रह्माण्डपु० १.१.१७१)।

तदा ज्ञानादयः सर्वे वार्तामात्रं न वस्तुतः[1] ॥ (तत्त्वा० १.३८) इत्यादि कह कर दिया है। इसी पक्षका निरूपण पुराणोंमें वैराग्यकी सिद्धिके लिए किया गया है। अतः जगन्मायिकत्व-निरूपक वाक्य वस्तुका निरूपण नहीं करते हैं और वे वैदिक सिद्धान्तके प्रतिपादक नहीं हैं[2]।

६.४.४ पुराण मित्रके समान उपदेश देते हैं अतः लौकिक रीतिसे समझाते हुए कभी-कभी प्रपञ्चके मायिक होनेकी बात भी कहते हैं[3] किन्तु वहाँ भी उनका तात्पर्य प्रपञ्चके मिथ्या होनेके सिद्धान्तका प्रतिपादन करना नहीं होता। जिस प्रकार जब कोई मित्र कहता है कि 'विष खा लो पर इस व्यक्तिके घर भोजन न करो' तो उसका तात्पर्य व्यक्ति-विशेषके घरमें भोजन करनेका निषेध करना ही होता है, विष खा लेनेकी सलाह देना नहीं, उसी प्रकार पुराणोंके मित्रसम्मित प्रपञ्च-मायिकत्व-बोधक वाक्योंका तात्पर्य भी प्रपञ्चसे निर्वेद और विराग प्राप्त कराना ही है, प्रपञ्चके मिथ्या होनेके सिद्धान्तकी पुष्टि करना नहीं। इसीलिए पुराणोंमें भी प्रपञ्चके मायिक होनेकी बात वहीं कही गयी है जहाँ शोकनिवृत्तिका प्रसङ्ग है और पुराणकर्ता श्रोताकी आसक्ति दूर करने एवं वैराग्य या निर्वेद उत्पन्न करने की आवश्यकताका अनुभव करते हैं, अन्यथा साधारणतया पुराणोंमें भी प्रपञ्चके वस्तुतः नित्य होनेका ही प्रतिपादन हुआ है। पुराणोंमें प्रपञ्चके मायिक होनेकी बात प्रपञ्चमें होनेवाली आसक्तिकी निवृत्तिके लिए कही गयी है[4], इस सिद्धान्तकी पुष्टि आवरणभङ्गकारने अवान्तर-प्रकरणोंका विस्तारसे विवेचन करते हुए की है (द्र०, तत्त्वा० प्र० आ० पृ० १५५-१५७)।

६.४.५ श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्के नवम खण्डमें

---

१. स्वप्नादि-सृष्टि-सङ्ग्रहार्थमाह।....मायया केवलया, न तु तत्र प्रविष्टः। तत्सृष्टौ न कोऽपि पुरुषार्थः इत्याह....। सन्ति ज्ञानादयः परं वार्तामात्रं, न तु फलसाधकाः। (तत्त्वा० प्र० १.३८)। द्र०, तत्त्वा० शा० पृ० ११८-११९.

२. यन्मायिकत्वकथनं पुराणेषु प्रदृश्यते।
तदैन्द्रजालपक्षेण मतान्तरमिति ध्रुवम् ॥ (तत्त्वा० १.८२)।
सृष्टि-प्रभेदेषु ऐन्द्रजाल-पक्षो निरूपितः। स एव पुराणेषु वैराग्यार्थं निरूप्यते। अतो न वस्तुनिरूपकं किन्तु तत् मतान्तरम् असुर-व्यामोहजनकम्। (तत्त्वा० प्र० १.८२)।

३. पुराणं तु मित्रसम्मितम् इति लोकरीत्या प्रबोधयत् कदाचित् मायिकत्वं बोधयति। (तत्त्वा० प्र० १.८९)।

४. मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते। (तत्त्वा० १.८९)।
आसक्ति-निवृत्त्यर्थं तथा बोध्यते, अवान्तर-प्रकरणानुरोधाच्च तथा अवसीयते। (तत्त्वा० प्र० १.८९)।

जगत्के मायिक होनेके पक्षका उपस्थापन कर, उसका खण्डन कर, जगत्के सत्य होनेके मुख्य पक्ष या सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार 'न सत्यं तेषु विद्यते' (गीता १६.७) और 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' (गीता १६.८) इत्यादि वाक्योंमें जगत्के मायिकत्वका जो कथन उपलब्ध होता है वह मतान्तर अर्थात् कल्पित और आसुर मत है, श्रुतिस्मृति आदिका अभिमत सिद्धान्त नहीं। इस प्रकार जगन्मायिकत्व-प्रतिपादक श्रुतिवाक्य वस्तुका निरूपण नहीं करते हैं प्रत्युत वे असुरोंमें व्यामोह उत्पन्न करनेवाले मतान्तरके प्रतिपादक हैं। पुराणोंमें भगवान्के चरित्रका प्रतिपादन हुआ है और भगवान्के चरित्रके प्रतिपादक पुराणग्रन्थ दैत्योंमें उसी प्रकार मोह उत्पन्न कर देते हैं जिस प्रकार भगवान्के चरित्र[1]। जिस प्रकार छान्दोग्योपनिषद्में इन्द्र-प्रजापति-संवादमें प्रजापतिके वाक्योंको सुनकर विरोचन और उसके अनुयायी असुरों को व्यामोह हो गया जिसके कारण उन्होंने देहात्मवादके आसुर मत ('असुराणां ह्येषोपनिषद्'—छा० ८.८.५) को श्रौत सिद्धान्त समझ लिया, उसी प्रकार जगन्मायिकत्व-प्रतिपादक वाक्य भी मतान्तर-प्रतिपादक वाक्य हैं जिनसे असुरोंमें व्यामोह उत्पन्न हो जाता है। अतः श्रीवल्लभाचार्यका निष्कर्ष है कि प्रपञ्चके अविद्यामात्र होनेका मायावादी दार्शनिकोंका कथन लोगोंको मोहित या प्रतारित करनेके लिए ही किया गया है[2]। प्रपञ्चको अविद्यामात्र माननेके इस मायावादी मतका प्रतिपादन ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होनेके श्रौत सिद्धान्त एवं प्रपञ्च-मायिकत्व-निरूपक पौराणिक वाक्योंके सन्दर्भों या अवान्तर-प्रकरणों की उपेक्षा करने और उन्हें ठीकसे न समझने के कारण हुआ है तथा इससे लोग मोहमें पड़ जाते हैं।

६.४.६ 'मायेत्यसुराः' (मुद्गलोप० ३), 'मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकता' एवं 'जना न विदुरासुराः····असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' (गीता १६.७-८) इत्यादि श्रुति-स्मृति-वाक्योंसे ज्ञात होता है कि जिस मतमें जगत्को असत्य, मायिक या मिथ्या माननेका प्रतिपादन किया जाता है वह आसुर मत है[3] जो सर्वोपास्य भगवान्के सर्वेश्वरत्व, सर्वकर्तृत्व एवं सर्वकारणत्व रूप माहात्म्यका नाश कर देने वाला प्रतारणा-शास्त्र है[4]। इसीलिए इसे स्वीकार करनेवाले भगवद्विमुख हो जाते हैं। इस मतमें जानने

---

१. पुराणानि भगवल्लीलाप्रतिपादकानि भगवच्चरित्रवद्दैत्यानां मोहमुत्पादयन्ति। (तत्त्वा० प्र० १.८१)। द्र०, तत्त्वा० प्र० आ० १.८१ पृ० १४५.

२. तस्मादविद्यामात्रत्व-कथनं मोहनाय हि। (तत्त्वा० १.८९)।

३. यत्र क्वचिज्जगतो मिथ्यात्वम् असत्यत्वं मायिकत्वम् इति बोध्यते तद् आसुरम् इति निश्चयः। (तत्त्वा० प्र० १.९०)।

४. एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम्। (तत्त्वा० १.९०)।

योग्य कोई बात नहीं है और यह श्रुति-स्मृति-विरोधी भी है[1], अतः भगवद्भक्तोंको इसकी उपेक्षा करनी चाहिए[2]। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार कलियुगमें ऐसे मोहक और प्रतारक शास्त्रका जनतामें विशेषरूपसे आदर होता है। फलतः इस शास्त्रमें आस्था रखनेवालोंको भगवद्विमुख होनेका फल अर्थात् तम या नरक भोगना पड़ता है[3]।

६.५.० प्रपञ्च एवं संसार के शुद्धाद्वैत-वेदान्ताभिमत जिस भेदकी चर्चा हमने ऊपर की है वह वल्लभ-सम्प्रदायकी स्वोत्प्रेक्षित नवीन कल्पना नहीं प्रत्युत वेदान्त-परम्परा-प्राप्त सिद्धान्त है यह हम बता चुके हैं। इसी सन्दर्भमें अब हम श्रीशङ्कराचार्य एवं उनका अनुसरण करनेवाले अद्वैत दार्शनिकों की कृतियोंमें उपलब्ध होने वाले कुछ विचारोंके इस सिद्धान्तसे साधर्म्य-वैधर्म्यका विवेचन करेंगे।

६.५.१ 'प्रपञ्च भगवत्कार्य है और ज्ञान होने मात्रसे नष्ट नहीं हो जाता', इस शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तसे श्रीशङ्कराचार्यके उन वचनोंका सादृश्य अवधेय है जिनमें वे कहते हैं कि व्यक्तिद्वारा देहादिलक्षण आध्यात्मिक प्रपञ्च तथा पृथिव्यादि-लक्षण बाह्य प्रपञ्च का प्रलय किया जा सकना सम्भव नहीं है। यह बात न स्वीकार करनेपर तो यह माननेका अनिष्टप्रसङ्ग आ उपस्थित होगा कि प्रथम व्यक्तिके मुक्त होनेसे ही पृथिवी आदिका प्रलय हो जाना चाहिए था और आज पृथिवी आदिको स्थिति नहीं होनी चाहिए थी[4]। 'ज्ञान होनेपर अहन्ता-ममतात्मक संसारका ही नाश होता है प्रपञ्चात्मक देहादिका नहीं', इस शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तके अनुरूप ही श्रीशङ्कराचार्य जीवन्मुक्तका लक्षण बताते

यद्धि सर्वोपास्यं तस्य माहात्म्यं नाशयति, सर्वेश्वरः सर्वकर्ता सर्वकारणरूप इत्यादि-रूपम्। (तत्त्वा० प्र० १.८०)।

१. यथा प्राणिनो भगवद्विमुखा भवन्ति तथा उपायो रचितः, न तु अत्र किञ्चिज्ज्ञातव्यमस्ति।....स्वप्रकरण-पठितैः 'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३.६) इति, 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (गीता ७.६) इति वाक्य-सहस्रैः मायावादो विरुद्धयते। (तत्त्वा० प्र० १.८०)।

२. उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुति-स्मृति-विरोधतः। (तत्त्वा० १.८०)।
असद्भावनया स्वस्यापि बुद्धिनाशः स्याद्, अतः तत्र उपेक्षा एव कर्तव्या, सुतरां भगवद्भक्तैः, भक्तिमार्ग-विरोधात्। (तत्त्वा० प्र० १.८०)।

३. बलो तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतस्तमः। (तत्त्वा० १.८०)।

४. यदि तावद् विद्यमानोऽयं प्रपञ्चो देहादि-लक्षण आध्यात्मिको बाह्यश्च पृथिव्यादि-लक्षणः प्रविलापयितव्य इत्युच्येत स पुरुषमात्रेणाशक्यः प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयोपदेशोऽशक्यविषय एव स्यात्। एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगदभविष्यत् (ब्र० शा० ३.२.२१)।

हुए कहते हैं कि उसका यह शरीर विद्यमान रहता है, केवल इस शरीरमें अहन्ता-ममताकी बुद्धि—अर्थात् अभिमत्यात्मक संसार—का अभाव या नाश हो जाता है[1]।

६.५.२ श्रीविद्यारण्य-मुनिने अपनी पञ्चदशीमें शुद्धाद्वैताभिमत आविर्भाव-तिरोभावका प्रतिपादन तो किया ही है[2] द्वैत-विवेक-प्रकरणमें जिस द्विविध—ईश्वर एवं जीव द्वारा सृष्ट द्वैतका विवेचन किया है,[3] उसका शुद्धाद्वैताभिमत प्रपञ्च-संसार-भेदसे साधर्म्य एवं वैधर्म्य भी विचारणीय है। वहाँ द्विविध विषय—मृण्मय घट एवं मनोमय घट—की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि मृण्मय घट ईश्वरसृष्ट है और मनोमय घट जीवसृष्ट। यह मनोमय घटादिरूप मानस जगत्—जिसका शुद्धाद्वैताभिमत अहन्तामम-तात्मक संसारसे पर्याप्त साम्य है—ही बन्धनका कारण है[4]। किन्तु अद्वैतवेदान्तमें

---

१. वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिन्····अहन्ता-ममताऽभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥
(विवेकचूडामणिः ४३२)।

२. जगद्योनिर्भवेदेषः प्रभवाप्ययकृत्त्वतः।
आविर्भाव-तिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ॥ (पञ्चदशी, ६.१८२)।
तु०, "आविर्भाव-तिरोभावावेव श्रुत्यभिमतौ, नाशोत्पत्ति-प्रतीती भ्रान्ते।
तथा च····, 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भाव-तिरोभाव-जन्म-नाशविकल्पवद् ॥' (विष्णुपु० १.२२.२०) इति।"
(विद्व०, पृ० ७५)।

आविर्भावयति स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगत्।
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत्प्रसारितः ॥
पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत्।
प्राणिकर्मक्षयवशात्सङ्कोचित-पटो यथा ॥ (पञ्चदशी, ६.१८३-१८४)।
तु०, 'यथा संवेष्टितो पटो न व्यक्तं गृह्यते विस्तृतस्तु गृह्यते तथा आविर्भावानाविर्भावेन जगतः अपि।' (अ० २.१.१९)।
आविर्भाव-तिरोभाव-शक्तिमत्त्वेन हेतुना।
आरम्भ-परिणामादि-वोद्यानां नात्र सम्भवः ॥ (पञ्चदशी, ६.१८६)।
तु०, 'आविर्भाव-तिरोभावौ शक्ती तै सुरवैरिणः।' (तत्त्वा० २.१४०)।

३. ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते। (पञ्चदशी, ४.१)।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ॥
····द्वैतं जीवसृष्टं प्रपञ्चितम्। (पञ्चदशी, ४.१३-१४)।

४. ईशनिर्मित मण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते।
भोक्तृ-धीवृत्ति-नानात्वात् तद्भोगो बहुधेष्यते ॥

ब्रह्मज्ञानसे मृण्मय-घटका भी बाध हो जानेकी बात कही जाती है जब कि शुद्धाद्वैतमें ईश्वरसृष्ट द्वैतको बाध्य नहीं माना जाता है। इस प्रकार 'ईश्वरसृष्ट द्वैत – अर्थात् प्रपञ्च – साधारण या सामान्य अर्थात् सर्वजन-ग्राह्य है तथा जीव-नाश्य नहीं है' यह माननेमें दोनों दार्शनिक सम्प्रदायोंमें सहमति है। श्रीविद्यारण्यका कथन है कि ईश्वर-निर्मित द्वैत या प्रपञ्च ब्रह्मज्ञानका बाधक नहीं प्रत्युत गुरु, शास्त्र आदिके रूपमें साधक ही है, और आकाशादिरूप उस ईश्वरसृष्ट द्वैत या प्रपञ्च को जीव नष्ट भी नहीं कर सकता। उस ईश्वरसृष्ट द्वैतकी निवृत्ति प्रलय होनेपर ही होती है। अतः उक्त ईश्वरकृत द्वैतसे हमें कोई द्वेष नहीं हो सकता[1]। इस साधर्म्यके साथ दोनों वेदान्त-सम्प्रदायोंके प्रपञ्चविषयक मतोंमें वैधर्म्य यह है कि शाङ्कर-सम्प्रदायमें प्रपञ्चके बाधपर बल दिया गया है जब कि वाल्लभ-सम्प्रदायमें उसकी ब्रह्मरूपताके अनुभवपर प्रकर्ष है। शाङ्कर-मतके अनुसार ब्रह्मज्ञानसे ईश्वर-सृष्टिरूप प्रपञ्चका नाश तो शक्य नहीं है किन्तु बाध अवश्य हो जाता है। वाल्लभ-मतके अनुसार ब्रह्मज्ञानसे जगत्का बाध नहीं होता, उसकी निवृत्ति नहीं होती प्रत्युत उसमें ब्रह्मकी अनुगति प्रतीत होती है। शुद्धाद्वैतके अनुसार ब्रह्मज्ञान सम्पूर्ण प्रपञ्चके द्वैतमें ब्रह्मकी अनुगतिकी अनुभूतिके रूपमें होता है, ब्रह्मावगतिमें द्वैतके बाधकी प्रतीतिके रूपमें नहीं, यही उसका केवलाद्वैतसे प्रमुख भेद है।

६.५.३ इसी प्रकार शाङ्कर-मतमें की गयी मनोमय या मानसद्वैत रूप जीवकृत सृष्टिकी परिकल्पना और वाल्लभ-मतमें प्रतिपादित अहन्ता-ममतात्मक संसारकी अवधारणा

हृष्यत्येकोऽ मणिं लब्ध्वा, कुप्यत्यन्यो ह्यलाभतः।
पश्येत्यत्र विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ॥
प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥ (पञ्चदशी, ४.२०-२२)।

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात्, साक्षिभास्यस्तु धीमयः ॥
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत्।
सत्यस्मिन् सुख-दुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम् ॥ (पञ्चदशी, ४.३१-३२)।
अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत् ॥ (पञ्चदशी, ४.३५)।

१. अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वर-निर्मितम्।
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद् द्विष्यते कुतः?? (पञ्चदशी, ४.४२)।
प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरु-शास्त्राद्यभावतः।
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमव्ययम् ॥ (पञ्चदशी, ४.४१)।

में पर्याप्त सादृश्य है और दोनों सम्प्रदाय अहन्ता-ममताकी निवृत्तिसे जीवन्मुक्ति[1] एवं लिङ्गशरीरकी निवृत्तिसे विदेहमुक्ति होना स्वीकार करते हैं। किन्तु इस सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि शाङ्कर मतमें द्वैतनिवृत्तिसे मुक्ति होनेकी बात कही जाती है जब कि वाल्लभ-मतमें मुक्तिको द्वैत-निवृत्तिसे सम्बद्ध करनेपर बल नहीं दिया जाता। शाङ्कर-वेदान्तमें मुक्तिमें द्वैतनिवृत्ति या अद्वैतानुभूति को नियामक माना जाता है जबकि वाल्लभ-वेदान्तमें ऐसा नहीं है। वहाँ द्वैत-निवृत्ति पर भार नहीं दिया गया है। वहाँ तो अहन्ता-ममता-रहित ब्रह्मानुभूति—वह चाहे द्वैतसहित हो या द्वैतरहित—ही मोक्षकी नियामिका मानी गयी है। यद्यपि शुद्धाद्वैती ब्रह्मानुभूतिकी पृष्ठलग्न चली आ रही एक अद्वैतानुभूतिसे इन्कार नहीं करते, किन्तु वे यह कहना चाहते हैं कि (ब्रह्मानुभूतिके 'द्वैताभावरूप अद्वैत' नहीं प्रत्युत 'भेद-सहिष्णु अभेद' होनेके कारण) उस अद्वैतानुभूतिकी पृष्ठलग्न एक द्वैतानुभूति भी चली आ रही है। इस प्रकार शुद्धाद्वैती द्वैतनिवृत्ति या अद्वैतानुभूति को मोक्षका नियामक नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार मोक्षका स्वरूप है संसार-रहित-ब्रह्मानुभूति, और 'संसार द्वैतानुभूति ही है,' ऐसा वे नहीं कहते। वे संसारको अहन्ता-ममतासे परिभाषित करते हैं। अतः उनके अनुसार अहन्ता-ममताकी निवृत्ति हो जाये तो द्वैतके बने रहनेके बावजूद संसारकी निवृत्ति हो जायेगी।

---

१. जीवन्मुक्तेः पराकाष्ठा जीव-द्वैत-विवर्जनात्। लभ्यते·· ॥ (पञ्चदशी, ४.६९)।
अहन्ता-ममता-नाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥ (बालबोधः, ७)।

नित्य-लीला-विचार

* ७.०.० * विद्वन्मण्डनकारने ग्रन्थके प्रारम्भमें ही अपनी इस रचनाका प्रयोजन दुःख-सन्तप्त प्राणियोंके अपवर्गके लिए श्रुति-स्मृति आदिमें प्रतिपादित श्रवणादिके विषय ब्रह्मके स्वरूपका निर्द्धारण करना बताया है। वह निर्द्धारण तो धर्म-विशिष्ट ब्रह्मके स्वरूपके विचारके साथ ही सम्पन्न हो गया और उसके साथ ही धर्मोंके उपर्युक्त विवेचनसे ही ब्रह्मके धर्मोंकी ही भाँति उसकी लीलाओंका नित्यत्व भी सिद्ध हो जानेके कारण ग्रन्थ-रचनाका प्रयोजन पूरा हो गया। अतः स्वतन्त्रतया लीला और उसकी नित्यता का निरूपण आवश्यक नहीं था। किन्तु पूर्वपक्षी भगवल्लीलाओंके नित्यत्वका सिद्धान्त स्वीकार नहीं करते और लीलानित्यत्ववाद एवं लीलार्थ-सृष्टिवाद विद्वन्मण्डनकारके प्रतिपाद्य सिद्धान्तके महत्त्वपूर्ण घटक हैं अतः उन्होंने पूर्वपक्षीकी एतद्विषयक आपत्तियोंका उत्तर देते हुए भगवल्लीलाओंकी नित्यता प्रतिपादित की है।

* ७.१.० * 'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास' (बृ० १.४.३) इत्यादि श्रुतिवाक्यों, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्र० २.१.३३) इत्यादि सूत्रवचनों तथा श्रीमद्भागवतके 'क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य' (भाग० ४.७.४३) एवं 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते' (भाग० ८.२२.२०) इत्यादि वाक्यों का अनुसरण करते हुए श्रीवल्लभाचार्यने,

'नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुत-कर्मणे।
रूप-नाम-विभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः॥' (तत्त्वा० १.१)। इत्यादि कह कर अपने ग्रन्थोंमें इस लीलावादका प्रतिपादन किया है। उन्होंने इस सिद्धान्तमें होनेवाले सन्देहोंका विवेचन करनेका अवसर अपनी श्रीमद्भागवतकी सुबोधिनी-व्याख्यामें वहाँ निकाला है जहाँ विदुर, मैत्रेयसे,

'ब्रह्मन्! कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः?? (भाग० ३.७.१)।
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषाऽन्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदाऽन्यतः??' (भाग० ३.७.२)।

इत्यादि कहते हुए एतद्विषयक जिज्ञासा करते हैं। अन्यत्र भी तथा अपनी अन्य कृतियोंमें[1] भी उन्होंने इस पर जो विचार किया है उसे हृदयङ्गम कर विद्वन्मण्डनकारने अपनी इस कृतिमें लीला-नित्यत्व-वादका प्रतिपादन किया है। स्थान-सङ्कोचके कारण

---

१. उदाहरणार्थ द्रष्टव्य, अ० २.१.३३ आदि।

हम यहाँ उनकी उक्तियों एवं युक्तियों के प्रेरक वाक्योंका उल्लेख करनेके लोभका संवरण करेंगे।

* ७.१.१ * श्रीवल्लभाचार्यने लीलाका स्वरूप समझाते हुए सुबोधिनीमें लिखा है, 'लीला नाम विलासेच्छा, कार्य-व्यतिरेकेण एव कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जन्यते। जनितमपि कार्यं न अभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्तु अन्तःकरणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्य-जनन-सदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते, यथा लोके राज्ञः, सा लीला।' (सुबो० ३.७.२)। श्रीवल्लभाचार्य एवं गो० श्रीविट्ठलनाथ की कृतियोंके अप्रतिम पण्डित गो० श्रीपुरुषोत्तमने विद्वन्मण्डनकी अपनी सुवर्णसूत्र व्याख्यामें लीलाका लक्षण उपर्युक्तके अनुरूप ही 'लीला नाम अनायासेन क्रियमाणं कर्म'[1] कह कर बताया है। प्राभञ्जनकारने 'लीला हि स्वानन्द-रसास्वादः' कहकर लीलाकी व्याख्या की है। इन लक्षणोंमें परस्पर विसङ्गति है ऐसी धारणा अविचारित-रमणीय ही कही जायेगी। स्वानन्दरसास्वाद अनायास रूपसे किये गये कर्मोंसे ही होता है अतः लीलाके 'अनायासेन क्रियमाणं कर्म' कह कर दिये गये लक्षणकी 'स्वानन्द-रसास्वाद' के प्रकारका निरूपक होनेके कारण उससे विसङ्गति नहीं है। वस्तुतः भगवत्कर्तृक (अनायासेन क्रियमाण) कर्म आनन्दरूप ही हैं इसलिए भी इन दोनों परिभाषाओंमें विरोध नहीं है।

* ७.१.२ * गो० श्रीपुरुषोत्तमके अनुसार 'अनायासेन क्रियमाणं कर्म' लीला है और इस कर्मके उत्क्षेपणादि पाँच अथवा प्रकारान्तरसे विसर्ग-रत्यर्त्यभिजल्प-शिल्परूप पाँच भेद माने जाते हैं, किन्तु कर्मके इन सभी वर्गीकरणों या विभाजनों को अस्वीकार न करते हुए भी एक अन्य दृष्टिसे कर्मके प्रतियोगि-सापेक्ष कर्म एवं प्रतियोगि-निरपेक्ष कर्म ये दो भेद किये जा सकते हैं[2]। इनमेंसे दूसरा अर्थात् प्रतियोगि-निरपेक्ष कर्म भगवदेकतन्त्र है। 'तदेजति' (ई० ५) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे सिद्ध यह कर्म पर्यनुयोगार्ह नहीं है क्योंकि ईश्वरकी अप्राकृतता ग्रन्थकार स्थापित कर चुके हैं। अतः प्रतियोगिसापेक्ष कर्मका पर्यनुयोग करते हुए पूर्वपक्षी कहते हैं कि अन्य प्रतियोगियोंकी अपेक्षा करनेके कारण उनके संयोगकी ही भाँति भगवत्कर्तृक प्रतियोगि-सापेक्ष लीला अनित्य है।

७.१.३ पूर्वपक्षीका प्रश्न लीलाकी नित्यता पर आक्षेप है अतः उसका खण्डन करना चाहिए था किन्तु उसका स्वागत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं 'साध्वी ते वाणी, यत्तन्नित्यता-शुश्रूषामपि तवाभिव्यनक्ति।' इसका कारण यह है कि फलानुभवादिकी

---

१. विद्व०, सुव०, पृ० २७९.

२. लीला नाम अनायासेन क्रियमाणं कर्म। तच्च उत्क्षेपणादिभेदेन विसर्ग-रत्यर्त्यभिजल्प-शिल्प-भेदेन वा तत्र तत्र पञ्चविधत्वेन उच्यमानमपि प्रतियोगि-सापेक्ष-तन्निरपेक्ष-भेदेन द्विविधम्। (विद्व०, सुव०, पृ० २७९-२८०)।

नित्यता सिद्ध किये विना, सम्बन्धीकी अनित्यता होनेपर 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (तै० २.१.१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें निरूपित परम-फलकी नित्यता सिद्ध न हो सकेगी, और सम्बन्धी एवं फलानुभवादि की नित्यता सिद्ध हो जानेसे उक्त परम-फलकी नित्यता भी सिद्ध हो जायेगी। अतः लीलाकी नित्यता सिद्ध करनेमें प्रवृत्त ग्रन्थकार उसकी सिद्धिमें प्रेरकके रूपमें उपयोगी पूर्वपक्षीकी पूर्वोल्लिखित उक्तिका अभिनन्दन करते हुए, प्रकृत शास्त्रके श्रौत शास्त्र होनेके कारण इसके लौकिक-युक्तिसे होनेवाले विरोधके अकिञ्चित्कर होनेसे, शब्द-बलसे ही लीला और तत्सम्बन्धी पदार्थों की नित्यता सिद्ध करनेका उपक्रम करते हुए कहते हैं कि लीलाकी नित्यताका निश्चयात्मक ज्ञान शब्द-प्रमाणसे ही होता है। उनके इस कथनका आशय यह है कि प्रापञ्चिक पदार्थ कारणात्मना नित्य होते हैं, अपने स्वरूपसे (स्वस्वरूपेण) नहीं, किन्तु लीला स्थित पदार्थ अपने स्वरूपसे ही (स्वस्वरूपेण) नित्य होते हैं, अतः श्रुति-स्मृतिमें उनके नित्यत्वका पृथक् एवं स्वतन्त्रतया निरूपण है और इसीलिए वे यहाँ लीला-स्थित पदार्थोंकी नित्यताका अलगसे प्रतिपादन कर रहे हैं।

* ७.१.४ * श्रीवल्लभाचार्यने श्रीमद्भागवतके श्रीशुकदेव द्वारा कहे गये,

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवर-परिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिर-चर-वृजिनघ्नः सुस्मित-श्रीमुखेन व्रजपुर-वनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्॥

(भाग० १०.९०.४८) इस श्लोककी अपनी सुबोधिनी व्याख्यामें लीलाको नित्यताका निरूपण किया है। उसे बुद्धिस्थ कर विद्वन्मण्डनकारने इस श्लोकमें लीलाकी नित्यताका प्रतिपादन होनेके आधारपर उसकी सिद्धि की है। इस श्लोकका सुबोधिनी और उसपर गो० श्रीवल्लभकृत लेख के अनुसार अर्थ अधोलिखित है।

'भगवान् जन-निवास हैं अर्थात् वे स्वभावतः सभी जनोंमें निवास करनेवाले हैं। सदा सर्वत्र उपस्थित रहने वाले उन सर्वान्तर परमात्माके भी देवकीके गर्भसे जन्म लेनेकी बात वादमात्र (के लिए कही जाती) है (अर्थात् भगवान्को देवकी-गर्भजन्मा कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि उनकी स्थिति केवल वहीं है और उनका एकमात्र वही रूप है)[1]। ये यदुवंशियोंकी सभामें स्वकीय बाहुरूपापन्न सेवकों द्वारा (एवं स्वयं भी,

---

१. एतादृशोऽपि भगवान् साम्प्रतं क्वास्ति इत्याकाङ्क्षायाम् आह, जयति जन-निवास इति। स कृष्णो भगवान् इदानीमपि तत्सम्बन्धिजनेषु सर्वेष्वेव जयति=सर्वोत्कर्षेण वर्तते। यतोऽयं जन-निवासः स्वभावतोऽपि सर्वेषु जनेषु निवसति; परमात्मा सर्वान्तरः। ननु देवकीपुत्रं पृच्छामि यो देवक्यां जातः स क्व वर्तत इति तत्र आह, देवकी-जन्मवादः इति। देवक्यां जन्म वादमात्रम्। लोकाः विवादे सति भगवान् क्वापि नास्ति इत्युक्तौ सिद्धान्तनिरूपण-प्रस्तावे वीतरागाः देवक्यां जातोऽस्ति इत्याहुः, न तु तावन्मात्र-रूपत्वं तस्य इत्यर्थः। (सुबो० १०.९०.४८)।

दैत्यादिरूप) अधर्मका निरसन करते हुए आज भी सर्वोत्कर्षपूर्वक विराजमान हैं। (द्वारका-निवासियोंका तो पापसे सम्बन्ध ही सम्भव नहीं है अतः) भगवान् (द्वारकासे इतर तत्तत् स्थानोंपर) परिभ्रमण करते हुए (पुरुष-वृक्षादिरूप) चराचर जगत्के सभी पापों (स्थिर अर्थात् प्रकारतापन्न हननादिरूप पाप जिनका विना भोगके नाश नहीं होता और चर अर्थात् मनसे भावित वासनारूप पाप, इन उभयविध पापों) का नाश करनेवाले है[1]। वे अपने मधुर मुस्कानकी शोभासे युक्त मुख द्वारा व्रजकी (गोपियों आदि), मथुरापुरीकी (कुब्जा आदि) एवं द्वारकापुरीकी (अपनी महिषियों आदि) स्त्रियोंके हृदयमें कामदेवको संवर्द्धित करते हुए (अर्थात् भगवत्प्रेमका सञ्चार करते हुए) सर्वोत्कर्षसे स्थितिशील या जयशील हैं[2]।' (भाग० १०.९०.४८)।

१. ननु स सर्वत्र किं कुर्वन् तिष्ठति इत्याकाङ्क्षायां तस्य त्रिविधं कर्म आह। तत्र सात्त्विकं निरूपयति। यदुवराणां परिषदि=सभायाम् अपि केवल-लौकिकपरेऽपि ये स्वाः=स्वकीयाः सेवकाः सन्ति तैः अपि अधर्मजातं सर्वम् एव दैत्यादिरूपम् अस्यन् =क्षिपन् अद्यापि भगवान् द्वारकायां यादव-सभायां सेवकैः सह विराजते। यदि कश्चिद् एतन्मध्ये दैत्यः प्रकटो भवेत् तदा तत एव कश्चित् प्रेषयित्वा तं मारयति इत्यर्थः। तामसं चरित्रम् आह, स्थिर-चर-वृजिनघ्न इति। द्वारका-व्यतिरिक्त-स्थाने सर्वत्र एव यत्र तत्र परिभ्रमणं कृतवान् तेषां सर्वेषामेव प्रसङ्गादपि वृजिनं=पापं दूरीकरोति। ये वा पुरुषा ये वा वृक्षाः। वृजिनस्य एव वा स्थिर-चर-भेदौ प्रकार-वासना-रूपौ। अनेन सर्वत्र एव भगवानस्ति यदि भक्तो भवेदिति निरूपितम्। (सुबो० १०.९०.४८)।

'जयति' इत्यत्र 'तैरपि' इति 'अपि'-शब्दात् स्वयमपि तथा करोति इत्यर्थः। 'यदु-वर-परिषद्' इति। ये स्वाः सेवकाः ते क्षतत्राणाद् भगवद्बाहुरूपा इति मूले 'दोर्भिः' इति विशेषणस्य अर्थ इति ज्ञेयम्। द्वारकास्थानां वृजिन-प्राप्तिः एव नास्ति इत्याशयेन आहुः, 'द्वारका-व्यतिरिक्त'— इति। 'प्रकार'— इति निषेधे प्रकारतामापन्नं हननादि-रूपं वृजिनं स्थिरं, भोगं विना तन्नाशाभावात्। वासनारूपं मनसा भावितं वृजिनं चरं, तस्य तथा भोगापेक्षाभावाद् इत्यर्थः। (भाग० १०.९०.४८ पर श्रीविट्ठलेशरायात्मज-श्रीवल्लभकृतलेख)।

२. राजसम् आह, 'सुस्मित-श्रीमुखेन व्रज-पुर वनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्' इति। सुस्मितम्=शोभायुक्तं यन्मुखारविन्दं तेन एव व्रजे=गोकुले, पुरे=मथुरायां द्वारकायां च याः स्त्रियः गोपिकाः कुब्जा-प्रभृतयो महिष्यश्च तासां हृदये 'कामदेवं वर्धयन्' आस्ते। कामस्य देवत्वं मोक्ष-पर्यवसानात्। योऽस्त्येव सर्वेषु तमेव वर्द्धयन् स्वसम्बन्ध-मात्रेण एव मोक्षं प्रयच्छति इत्यर्थः। एषा पूर्वकथा। पूर्वं यादृशो तादृशी एव इदानीमपि। तथैव तेषु स्थानेषु करोति। अत्र अर्थान्तरम् अपि ध्वन्यते। अत्यन्त-मोहिकया लोके परमसौन्दर्यं प्राप्तया भक्त्या व्रजस्थितानां पुरस्थितानां च ग्रामेऽरण्ये च कामम् उद्बोधयन् आस्ते इति तस्य देवत्वं मन्तव्यम्। (सुबो० १०.९०.४८)।

* ७.१.५ * विद्वन्मण्डनकारके अनुसार उक्त श्लोकमें द्वारका, गोकुल एवं मथुरा में अलग-अलग समयोंमें की गयी लीलाओंके कर्ता भगवान्‌की उत्कर्ष-पूर्वक स्थिति या जय का कथन श्रीशुकदेव इस प्रकार करते हैं जिससे यह सूचित होता है कि जब श्रीशुकदेव यह बात कह रहे हैं उस समय भी पूर्वोल्लिखित लीलाओंके कर्ता भगवान् सर्वोत्कर्षपूर्वक स्थितिशील अर्थात् वर्तमान हैं। यह बात मूल श्लोकके वर्तमान-काल-सूचक 'जयति' पद के प्रयोगसे ज्ञात होती है। भगवान्‌के उस समय वर्तमान होनेके साथ ही उस समय भगवान्‌की लीलाओंके भी वर्तमान होनेका बोध करानेके लिए श्रीशुकदेवने एककालीनत्व-वाचक शतृ-प्रत्ययान्त 'अस्यन्' एवं 'वर्द्धयन्' पदोंका प्रयोग किया है। शतृ-प्रत्यय समान-कालिकताका वाचक होता है। इस प्रकार श्रीशुकदेवके इन तीन वर्तमानार्थक क्रियापदोंके प्रयोगों द्वारा अर्थात् शब्दोंके अर्थसे उक्त श्लोकके कथनके अवतार-तिरोभावावच्छिन्न समयमें, अतीतके रूपमें प्रतीत होने वाली लीलाओंके भी उक्त श्लोकके कथनके समय अर्थात् अवतार-तिरोभावानन्तर भी वर्तमान होनेकी उक्त शब्दोंके बलसे प्रतीति होती है। और यह प्रतीति तभी उपपन्न हो सकती है जब लीला नित्य हो अन्यथा (अर्थात् कर्ताके स्वरूप, अधर्म तथा व्रज एवं मथुरा-द्वारकादि-पुरियों की वनिताओं को अनित्य मान लेनेपर) नहीं। इस प्रकार वर्तमानार्थक तीन क्रियापदों 'जयति', 'अस्यन्' एवं वर्द्धयन्' के प्रयोगको अन्यथानुपपत्तिसे इन क्रियाओंके कर्म-रूपसम्बन्धीका और इस प्रकार भगवल्लीलाका नित्यत्व सिद्ध हो जाता है।

अवधेय है कि यहाँ 'अधर्मको नित्य मान लेनेपर उसके निरासके लिये किये जानेवाले प्रयत्न एवं लिये जानेवाले अवतार को व्यर्थताका अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित होगा' ऐसी आशङ्का निरवकाश है क्योंकि आविर्भाव-तिरोभावके द्वारा अधर्मके निरासकी व्याख्या हो जाती है।

* ७.१.६ * इस सम्बन्धमें पूर्वपक्षीका कहना है कि उक्त श्लोकका तात्पर्य लीलाओंका नित्यत्व प्रतिपादित करना नहीं प्रत्युत उन लीलाओंके कर्ता भगवान् श्रीकृष्णकी नित्यता एवं श्रीशुक द्वारा उक्त श्लोकके कथनके समय भी उनके विद्यमान होने का निरूपण करना मात्र है। भगवान् नित्य होनेके कारण उक्त श्लोकके कथनके समय भी विद्यमान हैं, इसीलिए उक्त श्लोकमें वर्तमान-वाचक पदोंका प्रयोग है। सिद्धान्तीका उत्तर है कि यदि श्रीशुकका अभिप्राय उक्त श्लोकके वर्तमान-सूचक पदोंसे केवल लीला-कर्ता भगवान्‌के नित्यत्वका एवं उक्त श्लोकके कथनके समय विद्यमान होनेका प्रतिपादन करना ही होता तथा लीलाओंका नित्यत्व प्रतिपादन करना उनका अभीष्ट न होता तो वे उक्त श्लोकमें लीलाओंको लक्ष्य कर वर्तमानत्वबोधक 'अस्यन्' एवं 'वर्द्धयन्' आदि शतृ-प्रत्ययान्त पदोंका प्रयोग न करते।

पूर्वपक्षीका कथन है कि 'वर्तमान-सामीप्ये वर्तमानवद्वा' (पाणिनेरष्टाध्यायी, ३.३.१३१) इत्यादि सूत्रोंमें उल्लिखित व्याकरण-शास्त्रके नियमोंके अनुसार वर्तमान-

बाचक पदोंका प्रयोग वर्तमानके समीप भूत एवं भविष्य कालसे सम्बद्ध पदार्थोंके विषयमें भी हो सकता है। लोक-व्यवहारमें भी ऐसे प्रयोग प्रचलित ही हैं। अतः वर्तमानत्व-बोधक पदोंके प्रयोगसे कृष्णकी उन लीलाओंका परीक्षित्के कथा-श्रवण-कालमें भी विद्यमान एवं नित्य होना सिद्ध नहीं हो सकता। सिद्धान्तीके मुख्यार्थको अस्वीकार कर गौणार्थ ग्रहण करनेकी अनुपयुक्तताके कथनके सम्बन्धमें पूर्वपक्षीका कहना है कि जिसकी ओर वक्ताका प्रधान लक्ष्य हो उसके वाचक शब्दोंका गौणार्थ करना अवश्य अनुचित होता है किन्तु जो पद प्रधान पदके विशेषण या उपलक्षण होते हैं उनकी गौणार्थता स्वीकार करना अनुपयुक्त नहीं होता और 'अस्यन्नधर्मम्' एवं 'वर्द्धयन् कामदेवम्' आदि पद भी विशेषणरूप होनेसे अमुख्य हैं, अतः इनका गौण अर्थ ग्रहण कर यह स्वीकार करना ही उचित होगा कि इन पदोंका आशय 'इन श्रीकृष्णने अधर्मोन्मूलन एवं रास आदि लीलाएँ की हैं' इस प्रकार अधर्मोन्मूलन-कर्ता एवं रासोत्सव-कर्ता आदिके रूपमें उनका परिचय देकर उनके सर्वोत्कर्षसे विद्यमान होनेका प्रतिपादन करना ही है। इस प्रकार इस श्लोकसे कृष्णकी नित्यता ही सिद्ध होती है, उनकी प्रतियोगि-सापेक्ष उक्त लीलाओंकी नित्यता नहीं।

* ७.१.७ * इस सम्बन्धमें सिद्धान्तीका कथन है कि यदि ऐसा होता तो इस श्लोकमें यह कहा गया होता कि इन लीलाओंका कर्ता जयशील है, किन्तु ऐसा नहीं कहा गया। अतः यही मानना चाहिए कि अवतार-तिरोभावके बाद भी इन लीलाओंका वर्तमान-सूचक शतृ-प्रत्ययान्त पदों द्वारा निरूपण करनेका मुख्य अभिप्राय इनकी उस समय भी विद्यमानता एवं नित्यता का प्रतिपादन करना ही है। विशेषणरूप होनेसे इन पदोंके अमुख्य होनेके पूर्वपक्षीके कथनके सम्बन्धमें सिद्धान्तीका कहना है कि 'सविशेषणे हि विधि-निषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतो विशेष्ये बाधके सति' इस न्यायके अनुसार ये विशेषणरूप पद ही मुख्य हैं और इनसे लीलाके ही नित्य होनेका मुख्यार्थ प्रतिपादित होता है। जिस प्रकार 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इस वाक्यमें 'प्रचरन्ति' क्रियाका अर्थ ही मुख्य एव विधेय प्रतीत होता है, किन्तु उसे पूर्वविहित होनेसे अपूर्वता-शून्य होनेके कारण प्रधान नहीं माना जाता है, और विशेषणांश 'लोहितोष्णीषता' को ही अपूर्व होनेके कारण मुख्य माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी श्रीकृष्णकी सदैव वर्तमानता मुख्य अर्थ प्रतीत होती है, किन्तु अपूर्वता-रहित होनेसे उसे प्रधान नहीं माना जा सकता और 'अस्यन्नधर्मम्' एवं 'वर्धयन् कामदेवम्' इत्यादि विशेषणांशको ही अपूर्व होनेसे मुख्य मानना होगा। अतः यहाँ गौणार्थ करना अनुचित है। इस प्रकार यहाँ कृष्णकी नहीं प्रत्युत उनकी लीलाओंकी नित्यताका प्रतिपादन ही मुख्य है।

* ७.२.० * श्रीमद्भागवतके एक अन्य श्लोककी सुबोधिनीव्याख्या भी लीलानित्यत्ववादकी सिद्धिकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। सर्वज्ञ गर्गाचार्य द्वारा श्रीकृष्णके

नामकरण-संस्कारके सन्दर्भमें कहा गया एवं पुनः नन्द द्वारा उक्त यह श्लोक श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें दो बार आया है। इसका पाठ एवं सुबोधिन्यनुसारी अर्थ अधोलिखित है।

'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥' (भाग० १०.८.१५[1] एवं १०.२६.१८)।

'तुम्हारे पुत्रके गुण-कर्मानुरूप नाम एवं रूप अनेक हैं। उन्हें मैं जानता हूँ किन्तु साधारण लोग नहीं जानते।' (भाग० १०.८.१५ एवं १०.२६.१८)।

* ७.२.१ * इस श्लोककी सुबोधिनीको बुद्धिस्थ कर विद्वन्मण्डनकारने लीलानित्यत्वकी सिद्धिके लिए युक्ति दी है। उनका कहना है कि उक्त श्लोकमें भगवान्के गुणकर्मानुरूप नामों एवं रूपों के विषयमें 'अनेक हैं' इस प्रकारके वर्तमान-सूचक कथनसे उनकी लीला एवं तत्सम्बन्धी पदार्थों की नित्यता प्रमाणित होती है। भगवान्ने अपने गुणों एवं कर्मों के प्रकाशक जो रूप प्रकट किये हैं और उन गुणों एवं कर्मों के कारण जो नाम प्रकट किये हैं उन्हीं रूपों एवं नामों को यहाँ 'गुणकर्मानुरूप' कहा गया है। उदाहरणार्थ, 'उनका एक श्रीहस्त— जिस पर गोवर्द्धन अवस्थित है— ऊपर उठा हुआ एवं दूसरा कटिपर रखा हुआ है और वे क्रोधमें आये हुए भयभीत व्रजवासियोंको दयार्द्र दृष्टिसे देखते हुए अभयवचन कह रहे हैं' यह रूप और इस रूपमें गोवर्द्धन धारण करनेके कारण उनका 'गोवर्द्धनोद्धरण' यह नाम गुणकर्मानुरूप है। यहाँ इन नामों एवं रूपों के वर्तमान-कालमें होनेकी बात कही गयी है और यह कह सकना इनके प्रयोजक स्वरूप एवं क्रिया आदिको नित्य स्वीकार करनेपर ही सम्भव है। इन नामरूपोंका गर्गाचार्यद्वारा 'सन्ति' पद द्वारा उल्लेख किये जानेके समय वर्तमान रहना तभी सम्भव है यदि ये क्रियात्मक लीलाएँ एवं इनसे सम्बद्ध सभी पदार्थ गर्गाचार्यद्वारा उल्लेख किये जानेके समय भी वर्तमान हों अर्थात् नित्य हों। यहाँ 'सन्ति' प्रधान क्रिया है, वक्ताका मुख्य लक्ष्य इसी ओर है, अतः इस क्रियाका गौण वर्तमानार्थ करना भी युक्तियुक्त न होगा।

* ७.२.२ * यहाँ पूर्वपक्षीका कहना है कि 'भगवान्के लीलाकर्मों और उनसे सम्बद्ध पदार्थों का उनके गोवर्द्धनोद्धरण आदि रूपोंके साथ ऐसा सम्बन्ध है कि उन कर्मों एवं पदार्थों के अभावमें वे रूप विद्यमान नहीं रह सकते' यह बात तो कथञ्चित् स्वीकार भी कर ली जा सकती है किन्तु उनका नामोंके साथ भी ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनके अभावमें उनके नाम भी नहीं रह सकते यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है क्योंकि गोवर्द्धन-धारण आदिकी लीलाओंके किये जानेके बाद— इनका अभाव हो जानेकी स्थितिमें— भी गोवर्द्धनोद्धरण आदि नामोंके वर्तमान रहनेमें कोई बाधा नहीं

---

१. सुबोधिनी-सहित श्रीमद्भागवतके संस्करणके अनुसार १०.८.१६.

है। लोकव्यवहारमें भी क्रिया या वस्तु के अभावमें भी नाम रहते ही हैं। अतः गर्गाचार्य द्वारा 'तुम्हारे पुत्रके अनेक नाम (वर्तमान) हैं' यह कहे जानेसे यह सिद्ध नहीं होता कि उन नामोंके अर्थसे सम्बद्ध क्रियाएँ एवं पदार्थ भी नित्य हैं।

सिद्धान्तीका कहना है कि लीला एवं तत्सम्बन्धी पदार्थों का जिस प्रकारका घनिष्ठ सम्बन्ध रूपसे है वैसा ही नामसे भी है। अर्थके अभावमें भी विद्यमान रहनेवाले लौकिक नाम वस्तुतः नामाभासमात्र हैं और केवल रूढिसे अर्थावबोध कराते हैं, अतएव जब रूढिके जाननेवाले नष्ट हो जाते हैं तो ये नाम भी नष्ट हो जाते हैं। भगवान्के नामोंको भी अर्थके अभावमें सत्ता स्वीकार करनेपर उन्हें भी इन्हीं लौकिक नामोंकी तरह अनित्य मानना पड़ेगा। किन्तु उनके नाम नित्य हैं। विना अर्थके विद्यमान रहे उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता अतः नामोंके साथ ही उनके लीलादिरूप अर्थकी भी नित्य सत्ता स्वीकार करना ही उचित है।

* ७.२.३ * पूर्वपक्षीका कहना है कि 'बहूनि सन्ति नामानि' कहनेसे नामकरणके समय अनेक नामोंके होनेकी बात ही सिद्ध हो सकती है, उनके नित्य होनेकी नहीं। इसपर सिद्धान्तीका कथन है कि यदि ये नाम—जिनकी प्रवृत्तिमें बहुत समय पूर्व प्रकाशित गुण-कर्म निमित्त हैं—नित्य न होते तो नामकरण-संस्कार के समय कैसे वर्तमान रहते ?

पूर्वपक्षीका कथन है कि भगवान्के गुणों एवं कर्मों को नित्य मानने और साथ ही उनके नामोंको भी नित्य मानने पर उन नामोंकी प्रवृत्तिमें उन गुणकर्मोंको कारण कैसे कहा जा सकता है ? श्रीगर्गाचार्यके उपर्युक्त वाक्यमें भगवान्के नामोंकी विशेषता बताते हुए कहा गया है कि वे 'भगवान्के गुणों एवं कर्मों के अनुरूप' हैं। इससे ज्ञात होता है कि भगवान्के तत्तत् नाम उनके तत्तत् गुणों एवं कर्मों के अनन्तर-भावी या पश्चाद्भावी हैं अर्थात् उन गुणकर्मोंके पहले नहीं थे। उनके गुण एवं कर्म उन नामोंकी प्रवृत्ति या उत्पत्ति के पूर्ववर्ती एवं कारण हैं। नित्य उसे ही कहा जाता है जिसको किसी कारणकी अपेक्षा नहीं होती, जिसकी उत्पत्ति नहीं होती और जिसका भूत, भवत् एवं भविष्यत् किसी भी कालमें बाध नहीं होता। यहाँ गुणकर्मोंके अनन्तर तदनुरूप नामोंकी प्रवृत्तिकी बात कही गयी है। अतः उन गुणकर्मोंके पश्चाद्भावी, और उनके पहले अर्थात् भूतकालमें बाधित इन नामोंको, लीलापश्चाद्भावी होने और (लीलाके पूर्ववर्ती कालमें न होनेसे) त्रिकालाबाध न होनेके कारण नित्य नहीं माना जा सकता।

* ७.२.४ * सिद्धान्तीका कहना है कि पूर्वपक्षीका उपर्युक्त कथन उचित नहीं है क्योंकि हम यह मानते हैं कि इन नामोंकी उत्पत्ति नहीं होती है और गर्गाचार्यके पूर्वोद्धृत कथनमें भी इनकी उत्पत्तिका उल्लेख नहीं है। वस्तुतः जिस प्रकार भगवान्का स्वरूप नित्य है और उसका देशकाल-विशेषमें प्रादुर्भाव मात्र होता है उत्पत्ति नहीं;

उसी प्रकार उनके कर्म भी नित्य हैं और उन कर्मोंका भी प्रादुर्भाव मात्र ही होता है, उत्पत्ति नहीं; इसीलिए उन कर्मोंके अनुरूप नामोंका भी प्रादुर्भाव ही होता है, उत्पत्ति नहीं[1]। नामके इस आविर्भावका अर्थ है लीला-विशिष्ट भगवत्स्वरूपका दर्शन करने वालोंमें उस स्वरूपके बोधक शब्दों द्वारा भगवद्गुण-गानका प्रारम्भ होना। जब लीला-विशिष्ट स्वरूपका दर्शन कुछ विशिष्ट भक्तोंको ही होता है तो उसके बोधक शब्दों द्वारा उसका गुणगान भी उन भक्तों तक ही सीमित रहता है किन्तु जब भगवदिच्छासे उस लीला-विशिष्ट स्वरूपका दर्शन सभीको हो जाता है तो उसके बोधक शब्दों द्वारा भगवद्गुण-गान सर्व-साधारण हो जाता है। इसे ही उस नामका आविर्भाव कहते हैं। इस प्रकार लीला-विशिष्ट स्वरूपके सार्वजनिक दर्शनका समय ही उस लीलाके बोधक नामके प्रादुर्भावका समय समझा जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उक्त समयसे पूर्व वह नाम नहीं था। वस्तुतः यह नाम नित्य है और यह उस नित्य नामके प्रादुर्भावका ही समय है, न कि उसकी उत्पत्तिका। इसे स्पष्ट करनेके लिए उदाहरण देते हुए गो० श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णके 'गोविन्द' नामकी सर्वसाधारणमें प्रसिद्धि उस समयसे हुई मानी जाती है जब उन्होंने गोवर्द्धन धारण कर इन्द्रका मान भङ्ग कर गो-गोपालादिकी रक्षा की थी और कामधेनु एवं इन्द्र ने उनका अभिषेक करते हुए उन्हें 'गोविन्द' इस नामसे सम्बोधित किया था[2]। इसे इस नामके प्रादुर्भाव या आविर्भाव का समय कहा जा सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके पहले यह नाम नहीं था क्योंकि यह नाम नित्य है और इसके पहले भी था, यद्यपि आविर्भूत न होनेसे सर्वजन-प्रसिद्ध नहीं था। यदि ऐसा न होता तो इस गोवर्द्धन-धारणलीलासे बहुत पहले ही पूतना-वधलीलाके बाद गोपियाँ भगवान्के श्रीअङ्गमें बीज-न्यास करती हुई 'क्रोडन्तं पातु गोविन्दः' (भाग० १०.६.२५) कहकर तथा भगवान् द्वारा किये गये वेणुनादका वर्णन करती हुई 'गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूर-नृत्यम्' (भाग० १०.२१.१०) कहकर 'गोविन्द' इस नामका उल्लेख कैसे करतीं ?

* ७.२.५ * इस प्रकार गोवर्द्धनलीला, गोवर्द्धनधारीरूप एवं उसके बोधक 'गोविन्द' नाम के प्रादुर्भावके पूर्वकालमें भी गोपियों द्वारा उसके सूचक 'गोविन्द' नामका कथन उपलब्ध होनेसे श्रुतार्थापत्तिसे यह मानना पड़ता है कि जिस कर्मसे विशिष्ट जिस रूपका जो नाम है उस कर्मसे विशिष्ट वह रूप नित्य है और उसका बोधक

---

१. स्वरूपवत्कर्मणामपि प्रादुर्भावेन तदनुरूप-नाम्नामपि प्रादुर्भाव एव परं न तूत्पत्तिः। (विद्व०, पृ० २८८)।

२. इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो देवमातृभिः।
अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात्॥ (भाग० १०.२७.२३)।

नाम भी नित्य है, यद्यपि लोकमें तत्तद् भक्तोंको तत्तद् रसोंका अनुभव करानेके लिए, क्रमसे उसके किसी अंशका आविर्भाव होता है और कोई अंश तिरोहित रहता है।

उक्त प्रकारसे भगवान्के रूपों एवं नामों दोनोंकी नित्यताका प्रतिपादन किये जानेसे स्पष्ट है कि भगवान् गोवर्द्धन धारण किये हुए सर्वदा स्थित हैं और यह लीला नित्य है। इसी प्रकार उनका 'गोवर्द्धनोद्धरण-धीर' यह नाम भी नित्य है। इस तरह गोवर्द्धनोद्धरण क्रिया और 'गोवर्द्धनोद्धरण-धीर' नामसे युक्त उनका गोवर्द्धनधारीरूप सदा वर्तमान रहता है अर्थात् नित्य है। इसीलिए अर्थात् उस लीला-विशिष्ट रूपके सर्वदा वर्तमान रहनेके कारण ही आज भी भक्तोंको कहीं-कहीं उसी रूपमें उसका अनुभव होता है[1]।

* ७.२.६ * इस प्रकार स्वरूपतः नित्य भगवल्लीलाओंकी नित्यताका भक्तोंको अनुभव होनेका समर्थन करनेके लिए श्रीवल्लभाचार्यके 'अद्यापि प्रतिकृत्यनुभवो भक्तानाम्' (सुबो० १०.८.१६) इत्यादि कथनका अनुसरण करते हुए गो० श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं कि भगवान्के अनन्य भक्तोंमें अनुभवके अनधिकारका अभाव तथा भक्तिरूप-साधन-सम्पन्नता है अतः उन्हें आज भी भगवल्लीलाओंका अनुभव उसी रूपमें होता है। उनके 'तथानुभवः' अर्थात् 'उसी रूपमें अनुभव होता है' इस कथनका आशय यह है कि इन भक्तोंको परिदृश्यमान नित्यलीलाका यथावस्थित रूपमें अनुभव होता है न कि अतीत एवं अनागत को सूक्ष्मरूपमें देखनेवाले योगियोंकी तरह सूक्ष्मरूपमें दर्शन।

* ७.३.० * गोकुल, गोवर्द्धन आदि लीला-परिकरकी नित्यता सिद्ध हुए विना तत्सापेक्ष भगवल्लीलाको नित्य नहीं माना जा सकता, अतः लीला-नित्यत्व-साधक प्रमाण देनेके बाद अब लीलाविशिष्टकी नित्यता एवं लीला-परिकर अर्थात् लीला-सम्बन्धी पदार्थों की नित्यताके साधक प्रमाणोंका उपन्यास करनेके लिए गो० श्रीविट्ठलनाथ लीला-परिकरकी नित्यताकी प्रतिपादक श्रुतियोंमेंसे कुछका स्थाली-पुलाकन्यायसे उपन्यास

---

१. सर्वदा भगवति 'च'-कारात् नामरूपयोः क्रियायाश्च नित्यत्वं प्रतिपादयति 'सन्ति' इति। तेन भगवान् गोवर्द्धनमुद्धरन् सर्वदा वर्तते इति गोवर्द्धनोद्धरणधीरः। क्रिया-नामभ्यां सहितो गोवर्द्धनोद्धरण रूपः सर्वदा वर्तते। अद्यापि प्रतिकृत्यनुभवो भक्तानाम्। (सुबो० १०.८.१६)।

तेन यत्कर्म-विशिष्टस्य यस्य रूपस्य यन्नाम तत्कर्म-विशिष्टं तद्रूपं नित्यम् एव, लोके पर तेषां भक्तानां तत्तद्रसानुभवार्थं क्रमेण आविर्भावः कस्यापि अंशस्य, कस्यचिद् आच्छादनम, इत्येवं मन्तव्यम्। तेन भगवान् गोवर्द्धनम् उद्धरन् सर्वदा वर्तते इति गोवर्द्धनोद्धरण-धीरः इति क्रिया-नामभ्यां सहितो गोवर्द्धनोद्धरण-रूपः सदा वर्तते इति। अत एव अद्य अपि भक्तानां तथानुभवः क्वचित्। तथा प्रतिकृतौ भजनम्। तथा स्मरणञ्च। (विद्व०, पृ० २८९-२९१)।

करते हैं। इस क्रममें वे सर्वप्रथम, ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें आये विष्णुसूक्त (सूक्त १५४) की छठी ऋचामें[1] गोकुलकी नित्यताका उल्लेख है यह बतानेके लिए उसको उद्धृत कर उसकी व्याख्या करते हैं। इस सूक्तके देवता विष्णु हैं अतः इसकी ऋचामें गोकुलका निरूपण दिखानेमें प्रकरण-विरोधकी आशङ्का न होनेके कारण पहले इसे ही उपन्यस्त करते हैं।

* ७.३.१ * ऋक्संहिताके 'ता वां वास्तूनि' इत्यादि उक्त मन्त्रका अर्थ विद्वन्मण्डनकारने अधोलिखित प्रकारसे किया है। 'ता'='तानि' या 'उन प्रसिद्ध'। 'वां'=तुम दोनों अर्थात् 'कृष्ण एवं बलराम' अथवा 'गोपीजनों एवं श्रीकृष्ण' के। 'वास्तूनि'=निवासस्थानोंको। 'गमध्यै'=जाने अर्थात् प्राप्त करने के लिए। 'उश्मसि'= हम लोग कामना करते हैं। उन प्रसिद्ध निवास-स्थानोंसे कौनसे निवास-स्थान अभिप्रेत हैं इस जिज्ञासाकी निवृत्ति करनेके लिए गूढ अभिसन्धिका उद्घाटन करते हुए श्रुति कहती है, 'यत्र'=जिस गोकुलमें, 'भूरि-शृङ्गाः'=बड़ी-बड़ी सींगों वाली; 'गावः'=गायें रहती हैं। 'रहती हैं' इस अर्थका सूचक 'वसन्ति' पद मूल ऋचामें नहीं है, अतः अर्थ करते समय इस पदका अध्याहार कर लेना चाहिए। अथवा 'भूरिशृङ्गा गावः' पद अरण्यके एवं ग्रामके पशुओंके उपलक्षक हैं यह मान लें तो इनका अर्थ 'अनेक शृङ्गों वाले कृष्णसार मृग आदि आरण्य-पशु एवं गायें' होगा। 'अयासः'=शुभ। 'अत्राह' पदके घटक 'अत्र' का अर्थ है यहां, इस स्थान पर अर्थात् भूमि पर। 'अह' निश्चय-वाचक वैदिक अव्यय है जिसका अर्थ होता है 'खलु'। 'तत्'=वह लोक-वेद-प्रसिद्ध (गोकुल)। 'उरुगायस्य'=उरुकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णका। जो कामनाओंकी वर्षा करता है अर्थात् उनकी पूर्ति करता है उसे वृषा कहते हैं। गोपियोंपर कामनाओंकी वर्षा करने वाले अर्थात् गोपियोंकी कामनाओंको पूरा करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ही वृषा हैं। 'वृष्णः' का अर्थ है उक्त प्रकारके भगवान् श्रीकृष्णका। वह गोकुल उक्त भगवान् श्रीकृष्णका 'परम पद' है। भगवान्के पद अर्थात् स्थानसे तात्पर्य है वैकुण्ठसे। जो उससे भी पर अर्थात् अधिक या श्रेष्ठ है वह गोकुल यहां परम पद कहा गया है। गोकुलको यहां परम पद अर्थात् श्रेष्ठ स्थान इसलिए भी कहा गया है कि वह प्रकृति एवं काल आदिसे अतीत है और इसलिए भी कि वह भगवान्को वैकुण्ठ आदिकी अपेक्षा अत्यधिक प्रिय है। उक्त प्रकारका यह गोकुल-नामक स्थान, 'अवभाति भूरि' अर्थात् अत्यधिक प्रकाशमान है या प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार इस श्रुतिवाक्यका निष्कृष्टार्थ यह सम्पन्न होता है कि, 'इस प्रकारका जो उन दोनोंका स्थान (गोकुल) और जो उस स्थानसे सम्बद्ध पदार्थ या परिकर उन्हें ही हम भगवत्प्रसादके रूपमें प्राप्त करनेकी

---

१. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥ (ऋ० १.१५४.६)।

कामना करते हैं, किन्हीं अन्य (स्थानों या तत्सम्बद्ध पदार्थों) को प्राप्त करनेकी नहीं।' इस ऋचामें प्रयुक्त 'भूरि' शब्दके बाहुल्यार्थक होनेके कारण इस वाक्यका तात्पर्यार्थ यह हुआ कि अनेकविध निकुञ्ज, गह्वर-प्रदेश, यमुना-पुलिन, गोवर्द्धनशिखर आदि पर निरन्तर भगवान्‌की स्थिति होनेके कारण गोकुल उतने रूपोंमें प्रकाशित हो रहा है।

'भगवान् जिनपर कृपा करते हैं उन्हें अन्य स्थलोंपर भी गोकुल एवं वहाँकी नित्यलीला के दर्शन करा देते हैं' यह प्रतिपादित करनेके लिए गो० श्रीविट्ठलनाथ 'भूरि' पदका प्रकारान्तरसे एतदनुरोधी अर्थ करते हुए कहते हैं कि यदि यहाँ 'भू' धातुका प्रयोग 'व्याप्ति' अर्थमें हुआ मानें तो 'भूरि' पदका अर्थ होगा व्यापक, अर्थात् वह गोकुल व्यापक है।

इस प्रकार गो० श्रीविट्ठलनाथके अनुसार इस श्रुतिमें गोकुलको कृष्णका 'परम पद' अर्थात् श्रेष्ठ भगवत्स्थान, 'भूरि' अर्थात् व्यापक और 'अवभाति' इस वर्तमान-कालिक-क्रियापदके प्रयोग द्वारा इस समय भी प्रकाशमान कहा गया है, जिससे उसके नित्य होनेकी सिद्धि होती है।

* ७.३.२ * इस मन्त्रकी व्याख्या निरुक्तमें सूर्यपरक की गयी है अतः इसे सूर्यपरक न मानकर इसकी गोकुलपरक व्याख्या करना उचित नहीं है, इस आशङ्काका निराकरण करनेके लिए सुवर्णसूत्रकार कहते हैं कि यह सूक्त विष्णुसूक्त है अतः प्रकरणके अनुरोधसे तथा 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क० १.२.१५) एवं 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५.१५) इत्यादि श्रुति-स्मृति-वाक्योंके प्रामाण्यसे सारे वेदोंके विष्णु-प्रतिपादक होनेसे इस मन्त्रका अर्थ विष्णु-परक करना एवं इसमें उनके परम पद गोकुलका निरूपण हुआ मानना उचित ही है। इस प्रकारका अर्थ करनेकी पूर्व-परम्पराका उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि,

अतो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥ (ऋ० १०.१५५.३)।

इस मन्त्रको अलक्ष्मीपरक माना जाता है, तथापि पुरुषोत्तम-महावाक्यमें श्रीव्यासने और श्रीविद्यारण्यने वेदभाष्यमें इसकी श्रीजगन्नाथपरक व्याख्या की है। हम उनके द्वारा दिखायी गयी सरणिका ही अनुसरण कर रहे हैं। वस्तुतः निरुक्तकारने भी 'रश्मयो गाव उच्यन्ते' कह कर ही व्याख्या की है, इसे सूर्य-निरूपक कह कर नहीं। अपनी व्याख्यामें उन्होंने शृङ्गपदकी अनेक निरुक्तियाँ दी हैं जिसमें एक 'शिरसो निर्गतम्' (अर्थात् सींग) भी है। अतः इस मन्त्रका गोकुलपरक अर्थ निरुक्तकारके विरुद्ध है ऐसा कहना भी बहुत ठीक नहीं है।

श्रीगङ्गाधरभट्टके अनुसार मन्त्ररामायण, मन्त्र-भागवत, वेद-पाद-स्तोत्र आदि शिष्टादृत ग्रन्थ जिस परम्परामें हैं उसी परम्परामें इस व्याख्याको भी रखकर स्वीकार

करना चाहिए ।

* ७.३.३ * पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य द्वारा लीला-विशिष्टकी नित्यता एवं लीला-परिकर अर्थात् लीला-सम्बन्धी पदार्थोंकी नित्यता प्रमाणित करनेके बाद ग्रन्थकारने इसे अनेकप्रमाणानुगृहीत सिद्ध करनेके लिए एक अन्य श्रुति-वाक्य[1] उद्धृत कर उसकी व्याख्या अधोलिखित प्रकारसे की है। वे कहते हैं कि तैत्तिरीय संहितामें भी इस मन्त्रसे किञ्चित् पाठभेदवाले एक मन्त्रमें कहा गया है, 'ते ते धामानि' इत्यादि । 'ते'=आपके अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके । 'ते धामानि'=उन प्रसिद्ध स्थानोंको । 'गमध्यै'=प्राप्त करनेके लिए । 'उश्मसि'=हम सब लोग कामना करते हैं । शेष मन्त्रका अर्थ पूर्वोक्त मन्त्रके अर्थके समान ही है । इस मन्त्रमें पठित 'भूरेः' इस षष्ठ्यन्त पदका अर्थ है 'बहुरूप अर्थात् अनेक रूपों वाले भगवान् श्रीकृष्णके ।' रासोत्सव आदिमें उनकी बहुरूपता के प्रकट होनेके कारण यहाँ उनका यह विशेषण दिया गया है । ग्रन्थकारके अनुसार इन मन्त्रोंमें स्वयं नित्य वेद, 'अवभाति' अर्थात् 'वह प्रकाशित हो रहा है', यह कहते हुए अपनी प्रतीतिके विषयभूत गोकुलकी भी नित्यताका ही प्रतिपादन कर रहा है । यदि अन्य लोगोंको होने वाली प्रतीतिके पक्षसे विचार करें अर्थात् अन्य लोग उस प्रकाशमान गोकुलको देख रहे हैं इस दृष्टिसे विचार करें तो भी 'अवभाति' इस वर्तमानकालिक लट्-लकारके प्रयोगसे, प्रतीतिके विषय उस गोकुलकी वर्तमानकालिकता ही सिद्ध होती है और इसका पर्यवसान भी गोकुलकी नित्यतामें ही होगा ।

* ७.३.४ * इस प्रकार इन दो मन्त्रोंकी व्याख्या द्वारा लीला-सम्बन्धी पदार्थोंकी नित्यताकी सिद्धि करते हुए ग्रन्थकारने यह प्रतिपादित किया है कि श्रीमद्भागवतके पूर्वोक्त श्लोकमें किये गये शतृ-प्रत्ययान्त प्रयोग 'अस्यन्' एवं 'वर्द्धयन्' मुख्यार्थ-विषयक हैं । एतदनन्तर नित्यलीलावादकी स्थापनाके लिए अपेक्षित, लीलाओंकी नित्यता सिद्ध करनेके लिए, गोकुलमें की गयी लीलाओंकी नित्यता प्रमाणित करनेके लिए, दो अन्य मन्त्रोंको उद्धृत करते हुए उनकी व्याख्या करनेका उपक्रम करते हुए वे कहते हैं कि इन मन्त्रोंके अनन्तर ही, तैत्तिरीय संहितामें इसी प्रकरण एवं सूक्त में,

विष्णोः कर्माणि पश्यत । यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥
तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥ (ऋ० १.२२.१९-२० तै० सं० १.३.६) ये दो मन्त्र पठित हैं । पूर्वोक्त मन्त्रमें, 'जहाँ बड़ी-बड़ी सींगों वाली शुभ गायें हैं वह उरुगाय भगवान् श्रीकृष्णका परम पद है', यह कहकर इसके बाद उस परम पदमें भगवान् द्वारा किये गये कर्मोंका भी 'विष्णुके कर्मोंको देखो' इत्यादि मन्त्र द्वारा निरूपण कर, पुनः उस पूर्वोक्त लीला-स्थानका 'विष्णुका वह परम

---

१. ते ते धामान्युश्मसि गमध्यै गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भाति भूरेः ॥ (तै० सं० १.३.६) ।

पद' इस वाक्यसे अनुवाद कर, उस लीला-स्थानकी नित्यताका निरूपण करनेके लिए श्रुति कहती है, 'सूरि उसे सदा देखते हैं।' विद्वन्मण्डनकारके अनुसार सूरिसे यहाँ तात्पर्य विद्वानोंसे हैं और विद्वत्ताका तात्पर्य है शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म के स्वरूपसे अभिज्ञ होना। भगवद्गीताके 'मुझे भक्तिके द्वारा जानता है' (गीता १८.५५) एवं श्रीमद्भागवतके 'मैं केवल भक्तिके द्वारा ही गृहीत अर्थात् प्राप्त किया जा सकता हूँ।' (भाग० ११.१४.२१) इत्यादि भगवद्वाक्योंसे सिद्ध होने वाला निर्णीत सिद्धान्त यही है कि परब्रह्मका ज्ञान भक्तिके द्वारा ही हो सकता है। अतः 'सूरि' पद यहाँ भक्तोंका ही वाचक या बोधक है।

* ७.३.५ * इस प्रकार इन श्रुतिवाक्योंकी व्याख्या करते हुए गो० श्रीविट्ठलनाथने यह सिद्ध किया है कि 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' इत्यादि वाक्योंसे भगवल्लीलास्थानरूप गोकुलकी नित्यता प्रमाणित होती है। उनके अनुसार 'दिवीव चक्षुराततम्' का आशय यह है कि उस नित्य गोकुलका दर्शन लीलामध्यपाती भक्तोंको ही होता है, जनसाधारणको नहीं[1]। इस प्रसङ्गमें 'यह नित्य-लीलास्थानरूप गोकुल कहाँ है ? यदि यह यहीं पृथ्वीपर है तो जनसाधारणको दृष्टिगोचर होना चाहिए। इसमें निवास करनेवालोंका मर्त्यलोकके निवासियोंके सदृश दुःख-संसर्ग होना भी अवश्यम्भावी है। अतः केवल आनन्दमय न होनेके कारण उसे नित्यलीलास्थान कहना उपयुक्त नहीं है।' इस आशङ्काका समाधान करनेके लिए, 'दिवीव चक्षुराततम्' इस मन्त्रांशकी प्रकारान्तरसे त्रिविध व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार स्वर्ग केवल सुखमय है उसी प्रकार यह गोकुल भी केवल सुखमय है और इसमें रहनेवाले नित्यलीलाप्रविष्ट भक्तोंका दुःखसे संसर्ग नहीं होता[2]। जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय दिव्य-ज्ञान-सम्पन्न योगियोंके सिवा अन्य किसीको दृष्टिगोचर नहीं होती, तथा जिस गोलकमें रहती है उसे भी 'चक्षु' नामसे प्रसिद्ध कर देती है, उसी प्रकार नित्य-लीलास्थानरूप गोकुल भी जिन पर भगवान्का अनुग्रह है उनके सिवा किसी अन्यको दृष्टिगोचर नहीं होता, तथा अपने अधिष्ठानरूप वर्तमान लोक-प्रत्यक्ष-गम्य स्थान (गोकुल) को भी अपने 'गोकुल' इस नामसे प्रसिद्ध कर देता है[1]। जिस प्रकार मनुष्यकी

---

१. द्र०, विद्व०, पृ० २९७-३०२.

२. यथा ····स्वर्गे दुःखासम्भिन्न-सुखरूपत्वं, तथा गोकुले आनन्दैकरसरूपत्वम्। (विद्व०, पृ० २९९)।

१. यथा चक्षुरिन्द्रियं स्वयमतीन्द्रियमेव गोलके स्थितं सत् सर्वं प्रत्याययति, गोलकेऽपि चक्षुःशब्द-वाच्यताञ्च विधत्ते, योगि-प्रत्यक्ष-विषयश्च भवति, तथा गोकुलादिकमपि अलौकिकं स्वयमतीन्द्रियमेव साधारणजन-दृश्ये स्वयोग्ये स्थाने स्थितं सत् तत्तत्

चक्षुरिन्द्रिय तैजस होती हुई भी, तेजके रूप एवं स्पर्श गुणोंके अनुद्भूत होनेके कारण अन्धकारमें पदार्थोंको प्रकाशित नहीं करती, उसी प्रकार नित्यलीलास्थान गोकुलके आनन्दमय एवं अलौकिक होते हुए भी भगवदिच्छासे अप्रकट-प्रभाव रहनेके कारण वहाँके आधुनिक निवासियोंमें काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दोषोंका दृष्टिगोचर होना उपपन्न है[1]।

* ७.३.६ * इस प्रकार 'लोकप्रत्यक्षगम्य वर्तमान गोकुल नित्यलीला-स्थानरूप आनन्दमय गोकुलका अधिष्ठान या अभिव्यक्तिस्थान है' यह अधिष्ठानपक्ष स्वीकार करें अथवा 'वर्तमान लोकप्रत्यक्षगम्य गोकुल ही नित्यलीलास्थान है, किन्तु इसके वास्तविक स्वरूपका दर्शन अविद्यादि-दोषरहित भक्तोंको ही होता है सदोषदृक् जनसाधारणको नहीं'[2] यह अन्यथाभान पक्ष स्वीकार करें, वर्तमान गोकुलवासियोंमें उपलभ्यमान दोषोंकी उपपत्ति हो जाती है।

* ७.३.७ * पूर्वपक्षीका कहना है कि जिनका गोकुलसे संसर्ग न हो उन्हें गोकुलके स्वरूपका अन्यथाज्ञान होना तो सम्भव है किन्तु जो सर्वदा गोकुलमें ही रहते हैं उनके सम्बन्धमें यह मानना सम्भव नहीं है। सच्चिदानन्दस्वरूप अलौकिक नित्यलीलास्थानोंमें अज्ञान, भ्रम या अन्यथाज्ञान आदि लौकिक धर्मोंका उदय नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें गोकुलवासियोंको उसके आनन्दमय अलौकिक स्वरूपका अनुभव क्यों नहीं होता? उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि गोकुलवासियोंको भी गोकुलके यथार्थ-स्वरूपका अन्यथाज्ञान होनेका कारण भगवान्की आसुर-व्यामोह-कारिणी इच्छा है[3]। नित्यलीलाप्रविष्ट व्रजवासियोंके क्षुधार्त होने एवं रक्षाके लिए प्रार्थना करने का

स्थानं प्रकाशयति, स्वव्यपदेशश्च प्रापयति, तत्रैव च स्थितं भवति, पूर्वोक्त-सूरित्वे दृश्यश्च भवति। (विद्व०, पृ० ३००)।

१. यथा देवदत्तचक्षुरिन्द्रियं विष्णुमित्र-शरीरे आ समन्ताद् व्याप्तमपि तैजसं सदपि अनुद्भूतरूप-स्पर्शत्वेन नान्धतमसे प्रकाशयति तापयति वा, तथा भगवदिच्छैव अप्रकटानुभावत्वेन तस्य पक्षद्वयेऽपि आधुनिक-तज्जन-दोषदर्शनमुपपद्यते इत्यर्थः। (विद्व०, पृ० ३०१)।

२. यथा चक्षुरेव रूपं गृह्णाति, न श्रोत्रादिकम्, इन्द्रियत्वाविशेषेऽपि तस्यैव तत्र सामर्थ्यात्, वस्तुन एव तथात्वात्, तथा अत्रापि इत्यर्थः। यथा दोषासहकृतमेव चक्षुः वस्तुतत्त्वं गृह्णाति, भ्रमि-कामलादि-दोषसहकृतं तु महोभ्रमि-शङ्खपीतिमादिकं, तथा अविद्यादि-दोष-रहिताः सूरय एव गोकुलादि-स्वरूपं पश्यन्ति नान्ये। (विद्व०, पृ० २९९-३००)।

३. तादृशी भगवदिच्छा तु सर्वमुक्त्यभावाय आसुर-जीवानां व्यामोहाय च। (विद्व०, पृ० ३०१-३०२)।

उल्लेख करनेवाले 'क्षुधार्ता इदमब्रुवन्' (भाग० १०.२२.३८) 'त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद् भक्तवत्सल' (भाग० १०.२५.१३) इत्यादि वाक्योंसे ज्ञात होता है कि नित्यलीलास्थान-वासियोंमें भी भगवदिच्छासे खेद, भय, विपरीतज्ञान आदि धर्मोंका उदय होता है।

* ७.४.० * भगवल्लीलाकी नित्यता सिद्ध करनेके लिए 'विष्णोः कर्माणि पश्यत' इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्रकी व्याख्या करते हुए विद्वन्मण्डनकार कहते हैं कि श्रुति भगवान् कृष्णको यशोदास्तनपान, पूतनासु-पयःपान आदि लीलाओंको वर्तमान कालमें भी देखनेका उपदेश देती है। इससे उनकी नित्यता प्रमाणित होती है[1]।

* ७.४.१ * एतदनन्तर विद्वन्मण्डनकारने,

'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्।' (ऋ० १.२२.२१) इस मन्त्रकी व्याख्या करते हुए वन, पशुओं, पक्षियों एवं मनुष्यों तथा उनसे सम्बद्ध लीलाओं की नित्यताका प्रतिपादन किया है[2]।

* ७.४.२ * इसी प्रकार,

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद् वीरो अभिपौंस्यं रणम्।
अवृश्चदद्रिमव स[3] स्यदसृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्॥ (ऋ० १०.११३.४)

इस मन्त्रका अर्थ करते हुए इसमें जन्म लेनेके अनन्तर ही पूतना, तृणावर्त आदि दैत्योंको मारने, तदनन्तर मथुरा, द्वारका आदिमें दैत्योंके साथ युद्ध करने तथा इन्द्र द्वारा कुपित होकर गोकुलके नाशके लिए वृष्टि करनेपर गोवर्द्धन-पर्वतको उठाकर विशाल

---

१. पूर्वस्मिन् मन्त्रे गोकुलस्यैव निरूपणात् तत्र कृतान्येव कर्माणि यशोदास्तनपान-पूतनासु-पयःपान-रिङ्गणादीनि कर्माणि कर्मपदेन उच्यन्ते इत्यवगम्यते। ·· तानि कर्माणि गोपीभिः सह रमण-रूपाणि पश्यत इत्युपदेशः। एतेन कर्मणां नित्यत्वं ज्ञेयम्। अन्यथा एतदुपदेशासम्भवात्।·· यद्वा यतः=कर्मभ्यः, इन्द्रस्य व्रतानि=यागादीनि, पस्पशे=बबाधे, तानि पश्यत इत्यन्वयः। (विद्व०, पृ० ३०२-३०४)।

२. विष्णोः यत्पूर्वोक्तं परमं पदमस्ति तत् पदं, विप्रासो=मेधाविनः, ·· विपन्यवो= विशेषेण स्तोतारः, ·· समिन्धते=सम्यग्दीपयन्ति प्रकाशयन्ति ·· निरन्तर-कीर्तन-रूपस्तोत्रादि-साधनैः प्रकटयन्ति इत्यर्थः। ·· स्थितस्य एव परमपदस्य समिन्धनमुक्तम् इति नित्यत्वमेव कानन-पशु-पक्षि-मनुजादीनां तत्सम्बन्धि-लीलानामपि। (विद्व०, पृ० ३०५-३०६)।

३. यद्यपि सम्प्रति प्रचरतोः शाकलसंहिता-तत्पदपाठयोः सस्यद इति द्वितीयाबहुवचनान्तं समासितमेकं पदमुपलभ्यते···सः स्यद् इति पदद्वयं सूपपन्नमेव। स्यद् इत्येकवचनान्तपाठस्तु शाखान्तरीयः। (विद्व०, टिप्पणी, पृ० ३१४)।

आकाशको आच्छादित कर देने की नित्यलीलाओंका निरूपण हुआ बताया जाता है।

* ७.४.३ * पूर्वपक्षीका कथन है कि नित्यलीलास्थानरूप गोकुलकी, 'अत्र ···परमं पदमवभाति भूरि' इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्रमें आये 'अत्र' पदसे पृथ्वीपर स्थिति एवं 'भूरि' पदसे व्यापकता का प्रतिपादन करनेवाले सिद्धान्तीका गोकुलको पृथ्वीपर स्थित मानते हुए भी नित्य मानना तर्कसङ्गत नहीं है, क्योंकि महाप्रलयकालमें अपने अधिष्ठानरूप भूमण्डलके नष्ट हो जानेपर उसकी निराधार स्थिति नहीं रह सकेगी और वह भी नष्ट हो जायेगा। अतः उसे नश्वर मानना ही युक्तियुक्त है। उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि गोकुलका अधिष्ठान पृथिवी उस प्रकार नहीं है जिस प्रकार वह घट, पट आदि परिच्छिन्न पदार्थोंका आधार है, प्रत्युत जिस प्रकार आत्माको व्यापक माननेवालोंके मतमें आत्माका अधिष्ठान शरीर—जिसके नष्ट हो जानेपर भी आत्मा नष्ट नहीं होती—है उसी प्रकार व्यापक गोकुलका अधिष्ठान पृथिवी है और पृथिवीके नष्ट हो जानेपर भी उसकी नित्यता अक्षुण्ण रहती है। गोकुलकी श्रुतिसिद्ध नित्यताका प्रलयकालमें उसके अधिष्ठानरूप भूमण्डलके नष्ट हो जानेके तर्कसे बाध नहीं हो सकता, क्योंकि 'आधारके अनित्य होनेपर आधेय भी अनित्य होगा' यह नियम लौकिक पदार्थोंपर ही लागू किया जा सकता है, श्रौत पदार्थोंपर नहीं। जिस प्रकार 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८.१.१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें 'पुर' शब्दका अर्थ 'शरीर' माननेवाले 'नास्य जरयैतज्जीर्यति' (छा० ८.१.५) इत्यादि वाक्यके अनुसार ब्रह्मपुरको नश्वर स्वीकार करते हुए भी तदन्तर्गत वेश्मको नित्य मानते हैं, उसी प्रकार पृथिवीको नश्वर मानते हुए भी गोकुलको नित्य माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

* ७.४.४ * विद्वन्मण्डनकारके अनुसार उपर्युक्त श्रुतिवाक्यमें 'ब्रह्मपुर' पदका अर्थ अनित्य 'शरीर' नहीं प्रत्युत भगवान्‌की नित्यलीलाके गोकुल, मथुरा आदि स्थान हैं, क्योंकि 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्' (छा० ८.१.५) इस परवर्ती वाक्यमें इसे 'सत्य' अर्थात् नित्य कहा गया है और जीवका शरीर ऐसा नहीं हो सकता[1]। उनके अनुसार 'अस्मिन् कामा समाहिताः' (छा० ८.१.५) इस वाक्यांशमें 'काम' पदका अर्थ है 'आनन्दभोगके साधन' और वे साधन वहाँ उस लीलास्थानमें समाहित अर्थात् सम्यक् प्रकारसे आहित या रखे हुए हैं[2]। इनका शरीरमें रखा होना सम्भव नहीं है,

---

१. अत्र ब्रह्मपुर-पदेन ब्रह्मणो=भगवतः, पुरं=लीलास्थानं श्रीगोकुल-मथुरादि उच्यते। शरीरार्थकत्वे 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्' (छा० ८.१.५) इत्यग्रिमं वाक्यं विरुध्येत। (विद्व०, पृ० ३०७)।

२. भक्तानां सर्वे कामाः तस्मिन् सम्यग् आहिताः। (वही)।
द्र०, 'कामपदेन कामभोगोपकरणान्येव तत्राभिप्रेयन्ते।' (विद्व०, सुध०, पृ० ३०८)।

इसलिए भी 'ब्रह्मपुर' का अर्थ लीलास्थान मानना ही ठीक है, शरीर नहीं। इसीलिए इसे श्रुतिने 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८.१.५) इत्यादि वाक्यांशमें आत्मा भी कहा है, क्योंकि लीलासम्बन्धी सारे स्थान ब्रह्मात्मक अर्थात् भगवत्स्वरूप हैं, अनात्म या जड नहीं। 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८.१.१) इत्यादि वाक्यमें लीलासम्बन्धी पुण्डरीक-वेश्म (भक्तहृदय-कमल) एवं तदन्तर्गत आकाश (परम व्योम) को दहर कहा गया है तथा 'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० १.३.१४-२१) इस अधिकरणद्वारा यह निर्णय किया गया है कि दहर शब्दके वाच्य स्वयं भगवान् ही हैं। यदि ये दोनों अनात्म या जड होते तो सूत्रकार इन्हें ब्रह्म या भगवद्रूप और अतएव नित्य कैसे कहते ? इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपके अन्तर्गत होनेके कारण भगवल्लीलास्थान नित्य हैं और इसीलिए उन्हें आत्मा भी कहा गया है।

* ७.४.५ * इस प्रसङ्गमें विद्वन्मण्डनकारने बृहद्वामनपुराणके ब्रह्मा एवं भृगु आदि ऋषियोंके संवादमें आये कहे जानेवाले उन श्लोकोंको भी प्रमाणरूपमें उपन्यस्त किया है[1] जिनमें यह कहा गया है कि श्रुतियोंने भगवान्से प्रार्थना की कि आप हमें अपने उस रूपका दर्शन करायें जिसे हम मन एवं वाणी से अतीत निर्गुण पर ब्रह्म कहती हैं और जिसे पुरावेत्ता आनन्दमात्र कहते हैं[2]। उनकी इस प्रार्थनाको सुनकर भगवान्ने उन्हें वृन्दावन, गोवर्द्धन, यमुना, गोपीजन आदि नित्यलीलापरिकर-सहित अपने लोकके तथा उसमें स्थित अपने स्वरूपके दर्शन कराये[3]। यदि नित्यलीला-परिकर ब्रह्मके स्वरूपके अन्तर्गत हो न होता तो ब्रह्मदर्शनेच्छु श्रुतियोंको उसका दर्शन क्यों कराया जाता ? अत एव गो० श्रीविट्ठलनाथका कहना है कि इससे वृन्दावनादि पूर्वोक्त लीलापरिकरको नित्यता भी सिद्ध होती है। वस्तुतः भगवान्का स्वरूप सदा वृन्दावनादिविशिष्ट ही रहता है, केवल नहीं, इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन उक्त प्रसङ्गमें किया गया है[4]।

---

१. द्र०, विद्व०, पृ० ३०१-३१२.

२. 'ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम्। वाङ्मनोगोचरातीतम्···॥
आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविदः। तद्रूपं दर्शयास्माकम्' ॥'
(द्र०, विद्व० पृ० ३१०)।

३. अत्र हि श्रुतिभिः 'सर्व-वेदान्त-प्रत्ययं गुणातीतं वाङ्मनोगोचरातीतम् आनन्दैकस्वरूपं यत्तव रूपं तत् प्रदर्शय' इति प्रार्थितो भगवान् गोकुलं, तत्स्थितं स्वस्वरूपं, लीलां तत्र क्रियमाणाश्च प्रदर्शितवान् इत्युच्यते। (विद्व०, पृ० ३११)।

४. न च 'तत्स्थित-स्वरूप-मात्रस्य एव नित्यता, न लोकस्य अपि' इति वाच्यम्, लोक-प्रदर्शन-वैयर्थ्यापातात्, अप्रार्थितत्वात्। तथा च स्वरूप-दर्शन-मात्रार्थं प्रार्थितो यद्

* ७.४.६ * पूर्वपक्षीका कहना है कि गोकुल, वृन्दावन आदिको लीला-विशिष्ट ब्रह्मका आधार माननेवाले सिद्धान्तीको इन्हें ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न स्वीकार करना होगा क्योंकि लोकव्यवहारमें आधारका आधेयसे भिन्न होना प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि प्रत्यक्ष-सिद्ध होनेके कारण लौकिक आधार एवं आधेय को परस्पर-भिन्न माननेमें तो कोई बाधा नहीं है, किन्तु गोकुल, वृन्दावन आदि लीलाधिकरणों एवं लीलाविशिष्ट भगवत्स्वरूप का पारस्परिक भेद या अभेद शब्दप्रमाणके सिवा किसी अन्य प्रमाणसे ज्ञेय नहीं है अतः दहराधिकरणके विवेच्य श्रुतिवाक्यों एवं बृहद्वामनपुराणके पूर्वोल्लिखित वचनों का अनुसरण करते हुए भगवत्स्वरूप एवं लीलाधिकरणों का अभेद स्वीकार करना ही उचित है, लोकदृष्टिसे उसका निषेध करना नहीं। और लीलाविशिष्ट भगवत्स्वरूपका जिस प्रकार गोकुल, वृन्दावन आदि लीलाधिकरणोंसे अभेद है उसी प्रकार लीला-प्रविष्ट भक्तोंसे भी। 'यदक्षरे परमे प्रजा' (महाना० १.३) अर्थात् 'अक्षर-ब्रह्मात्मक नित्यलीलास्थानमें जो ब्रह्म प्रजास्वरूप है' इत्यादि श्रुतिवाक्यमें इसी आशयका संसूचन किया गया है। उपलक्षणविधया यही अभेद अन्य विविध लीलापरिकरके साथ भी मानना उचित होगा।

नित्यलीलास्थानोंको भगवत्स्वरूपान्तःपाती मानने पर ब्रह्ममें स्वगतभेद मानना पड़ेगा इस आशङ्काके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि 'वस्तुन एव तथात्वात्' अर्थात् वस्तुका स्वरूप ही वैसा होनेके कारण ब्रह्ममें पूर्वोक्त प्रकारका स्वगतभेद स्वीकार करना श्रुतिविरुद्ध नहीं है[1]।

* ७.५.० * इस प्रकार विद्वन्मण्डनकारने गोकुल, वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका आदि स्थानों और वहाँ स्थित एवं लीलान्तःपाती लीलापरिकर की नित्यताका

वृन्दावनादिकमपि प्रदर्शितवान् तेन वृन्दावनाद्युक्त-सामग्री-विशिष्टमेव सदा भगवद्रूपं न केवलम् इति ज्ञापयति। वस्तुनः एव तथात्वात्, न शङ्कालेशोऽपि अत्र।
(विद्व०, पृ० ३१२)।

१. ननु लोकस्यापि स्वरूपान्तःपातित्वे यथा वृक्षस्य फल-प्रसून-पल्लवादिभिः स्वगतद्वैतं, तद्वदत्र लोके स्वगतद्वैतापत्तिरिति चेत्, तत्राहुः 'वस्तुन' इत्यादि।
तस्मान्न भिन्ना एतास्तु आभिर्भिन्नो न वै प्रभुः।
भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठ स्वर्गवासिनाम्॥ (कृष्णोपनिषद्, २५) इति गोपाल-तापनीय-श्रुतेः, 'यदक्षरे परमे प्रजाः' इति तैत्तिरीयश्रुतेः, पूर्वोक्त-छान्दोग्य-श्रुतेश्च लोकस्तत्रत्याश्च भगवतः सकाशान्नात्यन्तं भिन्नाः, नाप्यत्यन्तमभिन्नाः, किन्तु भिन्नाभिन्ना इति वृक्षफलादिवत् स्वगतभेदाङ्गीकारेऽपि न क्षतिः, श्रुत्यादि-विरोधाभावादित्यर्थः। (विद्व०, सुव०, पृ० ३१२)।

प्रतिपादन किया है[1]।

* ७.५.१ * इस सम्बन्धमें अवधेय है कि यद्यपि भगवान्ने जिस प्रकार गोकुल, वृन्दावन, मथुरा एवं द्वारका आदि स्थानोंमें लीला की है उसी प्रकार कुरुक्षेत्र, मिथिला, सुतल एवं संयमनीपुरी आदिमें भी अद्भुत कर्म किये हैं और वे कौरव-पाण्डवयुद्धके समय कुरुक्षेत्र, बहुलाश्व एवं श्रुतदेव पर अनुग्रह करनेके लिए मिथिला, देवकीके मृत पुत्र लाने बलिके पास सुतल तथा गुरुपुत्रके आनयनार्थ संयमनीपुरी गये थे, तथापि इन्हें नित्यलीलास्थान नहीं माना जाता है, क्योंकि भगवान् वहाँ तत्तत्कार्य-मात्रके लिए ही गये भर थे। मथुरा आदिमें भगवान्का नित्य सन्निधान होनेके बोधक 'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः' इत्यादि वाक्यों एवं वृन्दावनादिके माहात्म्य-निरूपक 'यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः' इत्यादि वचनों के समान वाक्य इन स्थानोंके सम्बन्धमें न मिलनेसे भी इनके नित्यलीलास्थान न होनेकी पुष्टि होती है। इसी प्रकार भावुक भक्तोंके अनुभवसे भी उक्त मतकी ही पुष्टि होती है[2]।

* ७.५.२ * पूर्वपक्षीका कथन है कि रसात्मक नित्यलीलाके लिए जिस प्रकार नित्य प्रदेशकी अपेक्षा है उसी प्रकार उसके उद्दीपक शारदी निशा एवं वसन्त ऋतु आदि रूप कालके भी नित्य होनेकी अपेक्षा है, किन्तु शारद निशा आदिका सर्वदा वर्तमान रहना लौकिक अनुभवसे बाधित है। अतः शरत्पूर्णिमादिरूप अनित्य कालसे सम्बद्ध रासोत्सवादिरूप लीलाएँ नित्य नहीं हो सकती हैं।

* ७.५.३ * इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि श्रीमद्भागवतके अनुसार व्रजकुमारिकाओंद्वारा कात्यायन्यर्चनव्रत किये जानेके बाद उन्हें वरदान देनेके देनेके लिए आये हुए श्रीकृष्णने उनसे 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' (भाग० १०.२२.२७) इत्यादि जो वाक्य कहे हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने व्रजकुमारिकाओंको सारी रात्रियाँ सामने उपस्थित करके दिखा दी थीं[3]। यहाँ 'ताः क्षपाः' न कह कर 'इमाः

---

१. एतेनैव मथुराद्वारकादीनां तत्स्थितानाञ्च लीलास्थानाञ्च नित्यता प्रदर्शिता, समान-न्यायात्। (विद्व०, सुव०, पृ० ३१२)।

२. न च मिथिला-कुरुक्षेत्रादिष्वपि लीलाकरणात् तेषां सुतल-संयमन्यादीनाञ्च नित्यता-प्रसङ्गः। तावन्मात्रार्थं तत्र गमनमात्रेण नित्यलीलास्थानत्वस्य अशक्यवचनात्। अन्यथा कार्यबोधक-श्रुतिस्मृति-व्याकोप-प्रसङ्गात्। मथुरादिषु नित्य-सन्निधान-वाक्याद् भक्तानां तदनुभवाच्चापि तथाऽवसीयते। (विद्व०, सुव०, पृ० ३१२)।

३. अत्र 'इमाः क्षपाः' इति इदं-शब्देन ताभ्यः सर्वाः क्षपाः पुरः स्थिताः कृत्वा प्रदर्शित-वान् इति ज्ञायते, अन्यथा 'ताः क्षपाः' इत्येव वदेत्। (विद्व०, पृ० ३१५-३१६)। तथा च क्षपाणां तथा प्रदर्शनं तन्नित्यत्वे एव घटते। (विद्व०, पृ० ३१९)।

क्षपाः' इस सन्निकृष्ट[1] एवं वर्तमान सूचक प्रयोग द्वारा लीलासम्बन्धिनी आगामिनी रात्रियोंको भी वर्तमान कहा गया है और यह कथन इन रात्रियोंको नित्य माननेपर ही सङ्गत हो सकता है। अतः इन शारद रात्रियों एवं इसी प्रकार अन्य लीलासम्बन्धी उद्दीपक समयों को भी नित्य मानना ही उचित है। ये लीलासम्बन्धी समय भी अलौकिक हैं और इनका स्वरूप शब्दैकसमधिगम्य है'। अतः इनके उक्त स्वरूपमें विश्वास भी प्रमाणमूलक ही है, लौकिकोदाहरण-सापेक्ष नहीं।

* ७.५.४ * पूर्वपक्षीका यह कहना भी युक्तिसङ्गत न होगा कि "उक्त वर प्रदानके समय वर्तमान रात्रिकी समानताका आगामी रात्रियोंमें आरोप कर जात्यभिप्रायसे वर्तमान-रात्रिसूचक 'इदम्' शब्दका 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पाणिनीयाष्टाध्यायी १.२.५८) इस नियमके अनुरूप बहुवचनान्त प्रयोग करते हुए 'इमाः क्षपाः' कहा गया है, और इससे लीला-सम्बन्धी रात्रिकी नित्यता सिद्ध नहीं होती", क्योंकि उक्त वरदान प्रातःकालके समय चीरहरण-लीलाके प्रसङ्गमें दिया गया है, रात्रिमें नहीं।

* ७.५.५ * पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकते कि "यहाँ 'इदं' शब्द वक्ता श्रीकृष्णकी बुद्धिस्थ आगामी रात्रियोंकी अपेक्षासे प्रयुक्त हुआ है", क्योंकि इस प्रकार कहनेसे कुमारियाँ उनकी बात समझ नहीं सकती थीं और उनका यह कथन ही निष्प्रयोजन हो जाता। और यह किसी जीवकी नहीं सत्यसङ्कल्प ईश्वरकी उक्ति है जिसके चित्तमें वस्तुको प्रत्यक्ष करनेका भाव आते ही वस्तु प्रत्यक्ष-विषय हो जाती है। अतः उनके विषयमें बुद्धि-कल्पित प्रत्यक्षता स्वीकार करनेकी अपेक्षा न होनेसे, 'इमाः क्षपाः' को बुद्धिस्थ-वस्तु-वाचक कहना उनके सत्य-सङ्कल्पत्वका निषेध करना होगा। इसलिए भी भगवान्के उक्त कथनके समय आगामी रात्रियोंको वर्तमान मानना अर्थात् लीलारात्रिकी नित्यता स्वीकार करना ही उचित है।

* ७.५.६ * पूर्वपक्षीका कहना है कि लीला एवं तत्सम्बन्धी काल दोनोंको नित्य मान लेनेपर सभी लीलाओंके सर्वदा होते रहने अर्थात् वर्तमान होने के कारण, उनके सम्बन्धमें कहे गये भूतकाल एवं भविष्यत्काल बोधक वाक्योंकी व्याख्या न की जा सकेगी। 'एष्यामि ते गृहं सुभ्रूः' (भाग० १०.४२.१२), 'आयास्य इति दौत्यकैः' (भाग० १०.३९.३५) एव 'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामः' (भाग० १०.४५.२३) इत्यादि स्थलोंमें जिस भगवदागमनको अग्रेभावी कहा गया है उसे ऐसा कहनेके समय ही वर्तमान कैसे माना जा सकता है? यदि वह वर्तमान हो तो उसे भविष्यमें होनेवाला कहना निरर्थक एवं अनुभवविरुद्ध वदतोव्याघात ही होगा।

---

१. 'इदमस्तु सन्निकृष्टे···तदिति परोक्षे विजानीयात्।'

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि हम पहले ही बता चुके हैं कि लीला एवं उससे सम्बद्ध स्थान, काल आदि परिकर सभी नित्य होनेके कारण पूर्वसिद्ध हैं किन्तु उनका आविर्भाव क्रमशः होता है अतएव जिस लीला और काल का आविर्भाव अग्रेभावी होता है उसके विषयमें पूर्वोल्लिखित 'एष्यामि', 'आयास्ये' एवं 'एष्यामः' इत्यादि भविष्यत्कालवाचक प्रयोग मिलना उपपन्न है।

* ७.५.७ * पूर्वपक्षीका कहना है कि भविष्यमें आविर्भूत होनेवाली लीलाका भक्तोंको वर्तमान कालमें अनुभव होता है यह माननेपर उसके भविष्यमें आविर्भूत होनेका कोई स्वारस्य नहीं रहता, और उसका वर्तकालमें अनुभव नहीं होता यह मान लेनेपर उसे अनित्य स्वीकार करना होगा, क्योंकि भक्तोंके बिना लीला होती नहीं और यह सम्भव नहीं है कि भगवान् भक्तोंके साथ लीला करते रहें पर भक्तोंको इसका बोध ही न हो।

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि भगवान्की लीलाएँ अनेक हैं और उनके भिन्न-भिन्न भक्तोंको उनकी भिन्न-भिन्न लीलाओंका अनुभव होता है। समय-विशेषमें किसी भक्तविशेषको किसी लीलाका अनुभव हो रहा होता है किन्तु अन्य भक्तोंको नहीं, अतः जिन्हें उसका अनुभव नहीं हो रहा होता है उनकी दृष्टिसे उस लीलाका भविष्यमें आविर्भाव होनेकी बात कही जाती है।

* ७.५.८ * पूर्वपक्षीका कथन है कि इस उत्तरसे समस्याका समाधान नहीं हो पाता क्योंकि जिन भक्तोंको वर्तमानमें आविर्भूत लीलाका प्रत्यक्ष हो रहा है उन्हें ही भविष्यमें आविर्भूत होनेवाली लीलाका भी प्रत्यक्ष होगा यह मानना ही भक्तोंके 'भगवान्ने मुझे पहले आनेका वचन दिया था अतः अब मेरे घर आये हैं' इत्यादिरूप अनुभवके अनुरूप और उचित होगा अन्यथा किसी भक्तको उसके घर आनेका वचन देकर किसी अन्यके घर जानेसे भगवान्की सत्यवादिता अक्षुण्ण न रह सकेगी और जिसे भगवान्ने वचन दिया है उसका उनकी प्रतीक्षा करना भी अनुपपन्न हो जायेगा। जिस कुब्जासे भगवान् कह रहे हैं कि 'मैं तुम्हारे घर आऊँगा' उसके घर वर्तमान-कालमें ही जा रहे हैं यह माननेपर 'आऊँगा' इस भविष्यकालसूचक पदका कोई स्वारस्य नहीं रह जाता और यदि उनके कथनका यह अर्थ हो कि वे भविष्यमें कुब्जाके घर जायेंगे तो जब तक वे उसके घर नहीं जाते तब तक कुब्जा-गृह-गमन-लीलाका अभाव मानना होगा क्योंकि जब उस लीलाका अनुभव उसकी आलम्बन-रूप कुब्जाको ही नहीं हो रहा है तो किसी अन्यको हो सकना तो सम्भव ही नहीं है। जिस लीलाका उक्त प्रकारसे किञ्चित्कालपर्यन्त अभाव हो उसे नित्य नहीं माना जा सकता। अतः 'नित्यलीलाका ही क्रमशः आविर्भाव होता है' यह कथन युक्तियुक्त और उचित नहीं है।

* ७.६.० * गो० श्रीविट्ठलनाथका कहना है कि लीलाकी नित्यता केवल

लौकिक उदाहरणों या युक्तियों से गम्य या साध्य नहीं है अपि तु श्रुति, स्मृति एवं पुराणों के स्वतःप्रमाण वाक्योंसे ही जानी और समझी जा सकती है। अबाधित प्रामाण्य वाले उक्त प्रमाण-वाक्योंसे सिद्ध नित्य-लीलाके स्वरूपमें अनुपपत्ति नहीं है क्योंकि जिस प्रकार भगवान् विरुद्धधर्माश्रय हैं उसी प्रकार भगवत्स्वरूपा रसात्मिका नित्यलीला भी विरुद्धधर्माधार है और जिस प्रकार भगवान्के विभिन्न विरुद्ध-धर्म परस्पर-बाधक नहीं हैं उसी प्रकार उनकी उक्त लीलाके वर्तमानत्व, भूतत्व, भविष्यत्त्व एवं नित्यत्व आदि धर्म भी परस्परबाधक नहीं हैं[1]।

* ७.६.१ * भगवान्की इस प्रमाणसिद्ध नित्यलीलामें अल्पज्ञ जीवकी बुद्धि द्वारा परिकल्पित उक्त प्रकारकी अनुपपत्तिका परिहार अधोलिखित प्रकारसे किया जा सकता है[2]। 'रसो वै सः' (तै० २.७.१) एवं 'सर्वरसः' (छा० ३.१४.२, ४) आदि श्रुतियोंसे भगवान्का सर्वरसरूप होना निर्विवादरूपसे सिद्ध है। जिस प्रकार भगवान् रसात्मक हैं उसी प्रकार उनकी लीला भी रसात्मक है। रसशास्त्रके अनुसार रसकी पुष्टि विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी भाव के एकत्र होनेपर होती है। इस दृष्टिसे भगवान् जब जिन भक्तोंको लक्ष्य कर 'आऊँगा' यह कहते हैं उन भक्तोंके औत्सुक्य—सञ्चारिभाव—द्वारा रसका पोषण होता है। वे 'भगवान् मेरे घर आयेंगे और तब मेरे इस चिरप्रतीक्षित मनोरथकी पूर्ति होगी' इत्यादिरूप भावना करते हुए अमन्दानन्दरूप अतिविलक्षण रसभावोंका उदय होनेसे, पूर्वोक्त श्रुतिसे सिद्ध स्वरूपात्मक रसका अनुभव करते हैं। इसी प्रकार भक्त-गृह-गमन करनेपर वे भक्त रसात्मक भावविशेषोंका अनुभव करते हैं। पूर्वोक्त रसात्मक भावों एवं इन भावों में अभेद ही होता है क्योंकि रसोत्पत्ति यह अनुसन्धान करनेपर ही होती है कि 'भगवान्ने पहले मुझे आनेका वचन दिया था[3]।' रस भगवद्रूप है और भगवान् एक ही हैं। उपर्युक्त सभी अनुभव एवं उनकी सारी सामग्री रसरूप हैं अतः उनकी भगवद्रूपता एवं नित्यता उपपन्न है[4]।

---

१. अत्र इदं प्रतिभाति। लीला-नित्यत्वं न केवलं लौकिक-यौक्तिकं किन्तु···श्रुति-स्मृति-प्रमाणगम्यम्। तथा च अबाधित-प्रामाण्यैः उक्तप्रमाणैः सिद्धञ्चेत्, नानुपपत्तिः काचित् तत्र वस्तुनि इत्यभ्युपेयम्, प्रमाणतः तथैव सिद्धत्वात्। (विद्व०, पृ० ३१८)।

२. स्वबुद्धि-परिकल्पिता तत्र अनुपपत्तिः। सा च एवं परिहरणीया। (विद्व०, पृ० ३१८)।

३. द्र०, विद्व०, पृ० ३१८-३१९.

४. तस्य तस्य रसस्य तादृक्-तादृग्रूपत्वाद् रसस्य च भगवद्रूपत्वाद् यत्र यो रसो यादृशो यावद्विधः स्वशास्त्र-सिद्धः यत्र तादृशः तावद्विधः स रसो भगवान् एव इति फलितम्। भगवांश्च एक एव। तथा च तत्रत्या सर्वा सामग्री तद्रसरूपा एव इति सर्वमनवद्यम्। (विद्व०, पृ० ३१९)।

* ७.६.२ * सिद्धान्तीके आधुनिक भक्तोंके नित्यलीलाप्रवेश-विषयक मतके आधारपर लीलाको अनित्य सिद्ध करनेके लिए दिये गये तर्कोंका विद्वन्मण्डनकार द्वारा दिया गया उत्तर हम पहले ही दे चुके हैं (द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ ७५) और इसी सन्दर्भमें नित्यलीला-प्रवेशके अधिकारियोंके स्वरूपकी चर्चा भी कर चुके हैं। लीलाकी नित्यताका निराकरण करनेके लिए पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तावित जन्यत्वहेतुक युक्तिका उत्तर देते हुए क्रिया-स्वरूपा लीलाको नित्य माननेपर क्रियाके त्रिक्षणावस्थायी होनेके नियमके भङ्ग होनेकी आशङ्काका समाधान भी किया जा चुका है (द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ ७५-७६)। मिथिला, कुरुक्षेत्र आदिके नित्यलीला-स्थान न होने तथा प्रभासीय लीलाके नित्यलीला न होने का प्रतिपादन भी हम ऊपर (पृ० ७६-७७ पर) कर चुके हैं।

* ७.६.३ * उपर्युक्त प्रकारसे भगवल्लीलाके नित्यत्वका प्रतिपादन कर, **'इत्यलं विस्तरेण'** कहते हुए विद्वन्मण्डनकारने अपनी आकाङ्क्षा अधोलिखित प्रकारसे प्रकट की है।

इति श्रुति-शतैरतिस्फुटतरैरपास्तभ्रमै-
र्विचार-भर-चातुरी-सचिव-सत्पुराणैरपि।
स्फुरद्विहृतिनित्यता सुनिरणायि गोपीपते-
र्मयाऽति-निज-यत्नतः फलतु तेन सैवेह मे॥

* ७.६.४ * विद्वन्मण्डनकारकी धारणा है कि इतने प्रमाणोंको उपन्यस्त करके समझानेपर भी यदि कोई लीला-नित्यत्व स्वीकार नहीं करता तो निश्चय ही भगवान् उसे श्रुति-विपरीत मतके मोहमें डाले रखनेकी लीला कर रहे हैं, और इस भगवदिच्छाके विरुद्ध उसका अपसिद्धान्तका मोह दूर नहीं किया जा सकता। उनका कहना है कि,

श्रुत्युक्त-वैपरीत्येन यन्मोहाय हरिः स्वयम्।
प्रदर्शयति तन्मोह-गमनाय न मद्वचः॥ (विद्व०, पृ० १४८)।

उपसंहार

* ८.०.० * पूर्वाध्यायोंमें किये गये विवेचनसे विद्वन्मण्डनके प्रतिपाद्य विषय एवं निर्णीतार्थ का सम्यग् अवबोध हो जाता है। निरुपाधिक ब्रह्मका ही विरुद्ध-धर्माश्रय, साकार, जगत्कर्ता एवं श्रीकृष्णपदवाच्य होना, जीवका ब्रह्मांश होना, जगत्का सत्य होना, तथा श्रीकृष्णकी सेवाका ही चरम पुरुषार्थ एवं परमफल होना इस ग्रन्थका निष्कृष्टार्थ है। ग्रन्थकारके अनुसार यह निष्कर्ष स्वोत्प्रेक्षित या अनुमान द्वारा अधिगत नहीं प्रत्युत श्रुति-प्रतिपादित है और इसीलिए वेदानुयायी विद्वानों द्वारा स्वीकरणीय है। जो लोग श्रुतिका प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते उन पर इसे लादने का कोई प्रयत्न ग्रन्थकारको अभीष्ट नहीं है।

* ८.१.० * इस प्रतिपाद्यको सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थकारने जिन विषयोंका विवेचन किया है और जो तर्क दिये हैं उनकी व्याख्या करते समय हमने प्रायः सर्वत्र यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि उनका स्रोत क्या है। विद्वन्मण्डनकार स्वयंको नवीन दर्शनका उद्भावक नहीं प्रत्युत परम्पराप्राप्त श्रौतसिद्धान्तका प्रतिष्ठापक मात्र मानते हैं अतः यह अपेक्षित था कि उनके इस ग्रन्थमें उपन्यस्त विचारोंकी पूर्व-परम्पराकी गवेषणा की जाये। हमने उनके प्रायः प्रत्येक विचार-एवं तर्क की पूर्वपरम्पराका उल्लेख करते हुए उन्हें उसके सातत्यके रूपमें उपस्थापित करनेका प्रयास किया है। इस प्रक्रियामें हमने उनके प्रायः प्रत्येक तर्कका उत्स खोज निकालनेमें सफलता पायी है। उन सिद्धान्तों एवं तर्कों के पूर्वरूपके निरूपक अणुभाष्य, तत्त्वार्थदीप-निबन्ध एवं सुबोधिनी आदिके वाक्योंको हमने तत्तत् स्थलों पर उद्धृत किया है और उनकी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि विद्वन्मण्डनमें उनका नैरन्तर्य एवं सातत्य उपलब्ध होता है।

* ८.२.० * विद्वन्मण्डनकारका भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक चिन्तनको क्या अवदान है इसकी कुछ प्रसङ्गोपात्त चर्चा द्वितीय अध्यायमें की गयी है। प्रायः शब्दैक-प्रमाण-वाद, शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवाद, विरुद्ध-धर्माश्रयता-वाद, आविर्भाव-तिरोभाव-वाद, अविकृत-परिणाम-वाद, प्रपञ्च-संसार-भेद-वाद, नित्य-लीला-वाद एवं पुष्टि-विषयक-सिद्धान्त को विद्वन्मण्डनकार द्वारा प्रतिष्ठापित मतका वैशिष्ट्य और इस प्रकार भारतीय चिन्तनको उनका अवदान माना जाता है।

* ८.३.० * किन्तु हम यह पहले भी कह चुके हैं कि श्रीशङ्कराचार्य एवं श्रीवल्लभाचार्य की ही भाँति गोस्वामी विट्ठलनाथ भी स्वयंको वैदिक सिद्धान्तका व्याख्याकार ही मानते हैं नवीन मतका उद्भावक नहीं। अतः उनके द्वारा उत्प्रेक्षित

नवीन विचारोंका निर्देश करनेकी चेष्टा करनेकी अपेक्षा उनके सिद्धान्तकी परम्परा खोजना अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनके दावेका मूल्याङ्कन इसी प्रकार हो सकता है। इसी दृष्टिसे हमने वाल्लभ-वेदान्तका वैशिष्ट्य माने जाने वाले उपर्युक्त सभी सिद्धान्तोंका गोस्वामी विट्ठलनाथ और श्रीवल्लभाचार्य से पूर्ववर्ती ग्रन्थोंमें मिलने वाला उल्लेख एवं विवरण खोज निकालनेके कार्यको सम्पन्न करनेका प्रयत्न किया है।

* ८.३.१ * इस सम्बन्धमें श्रीवल्लभाचार्यकी अपेक्षाकृत अर्वाचीन आचार्यों-की अधमर्णताकी ओर सङ्केत तो किया ही गया है, उपर्युक्त सभी सिद्धान्तोंके पूर्व-परम्परा-प्राप्त होनेकी सप्रमाण पुष्टि भी की गयी है। इस क्रममें 'शुद्धाद्वैत' का उपनिषदोंके 'शुद्धाद्वैतसिद्धिः भेदाभावात्' (मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ५.१) एवं 'शुद्धाद्वैत-परमानन्द-लक्षण-ब्रह्मणः ..... विरुद्ध-वैकुण्ठ-प्रासाद-प्राकार-विमानाद्यनन्तवस्तु-भेदः' (त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषद् ८.१) इत्यादि वाक्यों एवं विद्वन्मण्डनकारके पहलेकी अन्य कृतियों में उल्लेख होनेका निर्देश किया गया है।

* ८.३.२ * विरुद्धधर्माश्रयतावाद विद्वन्मण्डकारका जीवातुभूत सिद्धान्त है। इसे भी उपनिषदों, पुराणों एवं श्रीशङ्कराचार्यके वाक्यों को उद्धृत कर उनमें शब्दतः एवं अर्थतः भी प्रतिपादित हुआ दिखाया गया है। इसी प्रकार अविकृत-परिणाम-वाद भी प्राचीन उपनिषदों, लक्ष्मीतन्त्र आदि प्राचीन तन्त्र-ग्रन्थों तथा पुराणों में उपलब्ध होता है यह प्रमाणोपन्यास-पूर्वक स्पष्ट किया गया है। प्रपञ्च एवं संसार में भेदकी परिकल्पनाका भी विद्वन्मण्डनकारसे पहलेकी कृतियोंमें निर्देश करते हुए अद्वैत-परम्परामें उपलब्ध तत्सदृश विचारोंसे उसकी तुलना की गयी है। इसी तरह नित्यलीला एवं पुष्टि के भी सिद्धान्तोंके पुराण-परम्परा-प्राप्त होनेका निर्देश किया गया है। इसी प्रकार जगत्को सत्य और ब्रह्मात्मक माननेकी परम्परा भी श्रुतिमूलक है यह दिखाते हुए हमने यह स्पष्ट किया है कि भले ही मायावादी अपने कर्कश तर्कोंकी तलवारसे जगत्की हत्या कर देनेका दम्भ करते हों, इसका शव छिपानेमें सफल हो सकनेका दावा वे भी नहीं कर सकते।

* ८.४.० * उपर्युक्त प्रकारसे विद्वन्मण्डनमें प्रतिपादित पक्षकी परम्परा-प्राप्तताका दिग्दर्शन कराया गया। अब हम इसकी प्रामाणिकताका विवेचन करेंगे।

* ८.४.१ * यदि इस पूर्व-प्रतिपादित पक्षकी प्रामाणिकतासे तात्पर्य इसकी प्रमाण-मूलकतासे हो, अर्थात् यदि-श्रुति-स्मृति-सूत्रादिमें प्रतिपादित होना ही प्रामाणिक होनेका हेतु माना जाता हो, तो—जैसा कि पूर्वोक्त विवरणसे स्पष्ट है—इस अर्थ-में इसे प्रामाणिक माननेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उपरिलिखित विवेचन-से इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि इस मतका मूल भी, अन्य अनेक मतोंकी ही भाँति, श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादिमें उपलब्ध हो जाता है। श्रीमध्वाचार्यका यह

कथन कि 'अनादिकालसे अनेक सिद्धात नदीप्रवाह की तरह निरन्तर चले आ रहे हैं और उनके आगे भी चलते रहने की ही सम्भावना है, उच्छिन्न हो जानेकी नहीं[1]', भारतीय-परिवेशमें नितान्त सत्य प्रतीत होता है। सम्प्रदाय-परम्पराके पक्षधर इस देशमें, आज भी परस्पर-विरोधी मतोंके अनुयायी अपने प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलनेवाली स्वगोष्ठीप्रसिद्ध पर-पक्ष-प्रतिषेधक युक्तियोंको दुहरा कर ही यह मान लेते हैं कि पूर्वपक्षके रूपमें गृहीत सभी मतोंका खण्डन हो गया। यदि सभी मत किसी न किसी रूपमें पहलेसे ही चले आ रहे हों तो सम्प्रदायप्राप्त वाल्लभ-सिद्धान्तको भी श्रुति-स्मृति-परम्परा-प्राप्त माननेमें विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।

* ८.४.२ * 'जिन श्रुति-स्मृति-सूत्रादिके वाक्योंकी व्याख्या करते हुए इस मतको श्रौत सिद्ध किया गया है, उसमें वस्तुतः ग्रन्थकारको भी इसी मतका प्रतिपादन अभीष्ट है या नहीं ?' इस जिज्ञासाके उत्तरमें प्रसिद्ध अद्वैतवेदान्ती श्रीहर्षकी

'श्रुति-स्मृत्यर्थ-बोधेषु क्वैकमत्यं महाधियाम्। व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा ॥'

(नैषधीयचरितम्, १७.५१) इत्यादि उक्ति तथा (ब्र० २.१.११ के) शाङ्करभाष्यमें सङ्केतित एवं भामतीमें उद्धृत, वाक्यपदीयकार भर्तृहरिके,

'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥'

(वाक्यपदीय १.३४) इत्यादि कथनको दृष्टिगत रखते हुए भी, यह तो कहा ही जा सकता है कि विद्वन्मण्डकारने अपने सिद्धान्तोंकी श्रुतिमूलकता सिद्ध करनेके लिए श्रौत युक्तियोंका ही आश्रय लिया है। उनका यह कथन कि उनके द्वारा विरचित यह विद्वन्मण्डन श्रुति-सूत्रादिकी मणियोंसे जटित एवं युक्ति-मौक्तिकोंसे ग्रथित है तथा उनका ब्रह्मवाद-भवन युक्तिरूपी कनक-पङ्क (सीमेंट-स्थानीय जोड़नेके मसाले) से सङ्घटित और विभिन्न श्रुतिवाक्योंकी महामणियों (इष्टिकास्थानीय) से निर्मित हुआ है[2], अतिशयोक्तिमात्र नहीं है।

* ८.४.३ * श्रीवल्लभाचार्यद्वारा अपनी सुबोधिनी (१०.८७.१६) में उद्धृत

'यस्य कस्यापि पद्यस्य शतानर्थान् प्रचक्ष्महे।
हठादुक्तस्य तस्यैव सहस्रं संप्रचक्ष्महे ॥'

---

१. अनादिकालतो वृत्ताः समया हि प्रवाहतः। न चोच्छेदोऽस्ति कस्यापि समयस्य···॥'
(ब्र० मा० अनु० २.२.१, श्लोक ३)।

२. श्रुतिसूत्रादि-मणिभिर्जटितं युक्तिमौक्तिकैः।
ग्रथितं कुरुते विद्वन्मण्डनं विदुलः सुधीः॥ (विद्व०, श्लोक ३)।
न वेत्ति किं युक्तिकनकपङ्क-सङ्घट्टित-विविध-निगम-महामणि-विरचित-ब्रह्मवाद-भवनं सभ ? (विद्व०, पृ० १०५-१०६)।

इत्यादि उक्ति, नैयायिक-मूर्द्धन्य श्रीउदयनाचार्यके,

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा यदि पथि कुपथे वा वर्तयामः स पन्थाः।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा न हि तरणिरुदीते दिक्परावीनवृत्तिः॥

इत्यादिवाक्य एवं प्रसिद्ध नैयायिक श्रीरघुनाथशिरोमणिके,

'विदुषां निवहैरिहैकमत्या यददुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम्।
मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे रघुनाथे मनुतां तदन्यथैव॥' इत्यादि कथनको दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जिन प्रमाणवाक्योंका जो अर्थ विद्वन्मण्डनकारने किया है उसे भी सिद्ध किया ही जा सकता है। यद्यपि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनका निश्चित रूपसे वही निर्णीतार्थ है। सच तो यह है कि इस प्रकारकी व्याख्याओंको युक्तियुक्त वही स्वीकार कर सकते हैं जिनकी उस व्याख्यात अर्थमें आस्था पूर्वसिद्ध है। यहाँ तर्कको भूमिका स्वाभिप्रेत अर्थको व्याख्येय वाक्य पर कुशलतापूर्वक मढ़ देनेकी ही होती है, जिसका निदर्शन 'यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरक-मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः' (ब्र० सू० अध्यासभाष्य) इत्यादि प्रकारके वाक्योंमें मिलता है। इस सम्बन्धमें हम अपना यह मत पहले ही व्यक्त कर चुके हैं कि श्रुति, सूत्र एवं भाष्य आदिमें कालकी दृष्टिसे इतना लम्बा अन्तराल है कि यह कह पाना कठिन है कि वैकल्पिक व्याख्याएँ करनेवाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकार पूर्ववर्ती कृतियोंका निर्विचिकित्स एवं निर्भ्रान्त अर्थ समझ सके हैं।

* ८.४.४ * प्रकृत ग्रन्थके पूर्वलिखित विवेचनसे पाठकोंको यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन ग्रन्थोंमें लिखे वाक्योंका अर्थ करते समय, व्याकरण-सम्मत प्रयोगोंका ग्रन्थकार द्वारा अनपेक्षित अर्थ करके अभीष्ट सिद्धान्तको वहाँसे निष्कृष्ट करनेमें, विद्वन्मण्डनकारने अनेकत्र ज्यादती की है। इसके उदाहरणके रूपमें 'जयति जननिवासः' (भाग. १०.९०.४८) एवं 'बहूनि सन्ति नामानि' (भाग. १०.८.१६) आदि श्लोकोंमें प्रयुक्त 'जयति' एवं 'सन्ति' पदोंके आधारपर लीलाकर्ता श्रीकृष्ण, उनकी उन लीलाओं एवं नामों के भी नित्य होनेकी सिद्धि करनेके प्रयासका उल्लेख किया जा सकता है। विद्वन्मण्डनकार द्वारा यहाँ दिये गये तर्क उनके सिद्धान्तमें पूर्वसिद्ध आस्था रखनेवालोंको ही प्रभावित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ 'गोविन्द' नामके नित्य होनेकी सिद्धिके लिए वे तर्क देते हैं कि श्रीकृष्णको यह नाम गोवर्द्धन-धारण-लीलाके समय इन्द्रसे मिला किन्तु गोपियाँ उसके बहुत पहलेसे ही उन्हें इस नामसे अभिहित करती आयी थीं। यदि यह नाम नित्य न होता तो गोपियाँ इस नामकरणके पहले ही इसका प्रयोग कैसे करतीं[1]? यहाँ ग्रन्थकारने 'गवामिन्द्रः' अर्थात् 'गायोंके इन्द्र' इस व्युत्पत्तिको दृष्टिगत कर 'गोविन्द' इस नामकरणकी उत्प्रेक्षा

1. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ २६०.

करके लिखे गये भागवतके श्लोकोंको तत्त्वनिरूपक शास्त्र मानकर यह युक्ति दी है[1]। किन्तु ऐसा करते समय उन्होंने इस बातको कोई महत्त्व नहीं दिया कि इस नामकी कोई अन्य व्युत्पत्ति भी हो सकती है और उसे दृष्टिगत कर इस नामकरणके अवसर एवं कारण की कोई अन्य उत्प्रेक्षा भी हो सकती है। उदाहरणार्थ महाभारतकारने 'गो' शब्द का अर्थ 'पृथ्वी' मानकर 'गोविन्द' पदकी व्युत्पत्तिको दृष्टिगत करके इस नामका सम्बन्ध वराह अवतारसे होनेकी उत्प्रेक्षा करते हुए भगवान्‌से ही कहलाया है कि,

नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम्।
गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः॥' (महा० १२.३४२.७०)।

स्पष्ट है कि महाभारतके इस वाक्यकी ओर ध्यान देनेपर विद्वन्मण्डनकारके उपर्युक्त तर्ककी धार कुण्ठित हो जायेगी। इस सम्बन्धमें अवधेय है कि शास्त्रीय विचारमें,
'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' (सुबोधिनीमें उद्धृत) की चेतावनी तथा
'श्रीमन्ति राज्ञां चरितानि यानि प्रभुत्वलीलाश्च सुधाशिनां याः।
ये च प्रभावास्तपसामृषीणां ताः सत्कविभ्यः श्रुतयः प्रसूताः॥'
(काव्यमीमांसा, अ० ६),

'लङ्केशापतेः सङ्कुचितं यशो यद्, यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावः...॥' (विक्रमाङ्कदेवचरितम् १.२७), एवं
'शेषः साधुभिरेव तोषयति नून् शब्दैः पुमर्थार्थिनो
वाल्मीकिः कविराज एष वितथैरर्थैर्मुहुः कल्पितैः।' (श्रीशङ्करदिग्विजयः ६.१८)

इत्यादि उक्तियोंके अर्थपर ध्यान न देकर, ईश्वरके मुखसे कहलाये गये प्रत्येक वाक्यको ईश्वरोक्त और इसीलिए परमप्रमाण मानकर उसके आधारपर जो तर्क दिये जायेंगे वे अन्ततः तर्कको अप्रतिष्ठित सिद्ध करनेमें ही सहायक होंगे।

* ८.४.५ * अन्य वेदान्त-सम्प्रदायोंके आचार्योंकी भाँति ही विद्वन्मण्डनकार भी यह कहना चाहते हैं कि वेदवाक्योंका अर्थ केवल श्रीवल्लभाचार्य ही समझ सके हैं[2] और उनका अनुसरण कर विद्वन्मण्डनमें उस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है जो सारे वेदवाक्योंका प्रतिपाद्य है तथा जिसमें सारे श्रुति-स्मृति-वाक्योंका समन्वय हो जाता है। स्वयं श्रीवल्लभाचार्य अपनेको अग्निका अवतार बताते हुए कहते हैं कि

---

१. द्र०, भाग० १०.२७.२०–२३; तु०, विष्णुपुराण ५.१२.११-१५.

२. न ह्यन्यो वागधीशाच्छ्रुतिगणवचसां भावमाज्ञातुमीष्टे
यस्मात्साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधूरग्रतः पत्युरेव।
तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनादन्यथा कल्पयन्ति
भ्रान्ता ये ते निसर्ग-त्रिदश-रिपुतया केवलान्धंतमोगाः॥ (श्रीवल्लभाष्टकम् ३)।

श्रीमद्भागवतका अर्थ 'वाक्पति वैश्वानर' के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं समझ सकता अतः महर्षि व्यासके रूपमें मानव-शरीर धारण कर भगवान् विष्णुने उन्हें दर्शन देकर भागवतकी टीका लिखनेका आदेश दिया था। उन्होंने जैसा व्याससे सुना था वैसा ही अर्थ करते हुए श्रुतिवाक्यों, ब्रह्मसूत्रों एवं भागवत की व्याख्या की है और इसप्रकार शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादका प्रतिपादन कर मायावादियों द्वारा फैलाये गये मोहका निराकरण किया है[1]। किन्तु उनके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि वे भी केवल कुछ उपनिषद्वाक्यों, कुछ स्मृति-पुराण-वचनों एवं ब्रह्मसूत्रों की स्वगोष्ठी-मात्र-स्वीकृत एवं अन्य वेदान्त-सम्प्रदायों द्वारा अमान्य व्याख्याके रूपमें उपपादित मतको ही सारे वैदिक-वाङ्मयका एकमात्र प्रतिपाद्य अर्थ मान लेनेकी परम्पराके ही अनुयायी हैं। उसके अपवाद तो वे नहीं ही हैं। उन्होंने तो संहिताओं, उपनिषदों एवं भगवद्गीता की व्याख्या लिखकर अपनी बातको वहाँ दिखानेका भी कोई प्रयत्न नहीं किया है।

* ८.४.६ * अपने मतकी प्राथमिकताके प्रतिपादनार्थ दूसरोंकी उक्तियों एवं अन्य महान् व्यक्तित्वों के प्रति लोकमानसमें समेधित श्रद्धाका आश्रय लेनेकी प्रवृत्तिकी परिणति अन्ततः शब्दकी प्रामाणिकताकी स्वीकृतिमें ही होती है। और फिर अपने मतकी युक्तियुक्तता स्पष्ट करनेकी अपेक्षा उसकी शब्दमूलकता सिद्ध करना अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। विद्वन्मण्डनकार श्रुतिको स्वतःप्रमाण मानते हैं और अपने सिद्धान्तको स्वोत्प्रेक्षित युक्तियोंसे निष्कृष्ट नहीं प्रत्युत श्रुतिमूलक एवं श्रौत युक्तियोंसे सिद्ध बताते हैं। श्रीवल्लभाचार्य स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार करते हैं कि श्रुतिको न माननेपर, श्रुतिके बिना ब्रह्मवाद सिद्ध नहीं हो सकता, 'न हि ब्रह्मवादः श्रुति-व्यतिरिक्ते सिद्धोऽस्ति' (अ० १.३.३) और विद्वन्मण्डनकार उनके इस मतको अक्षरशः स्वीकार करते हैं। अतएव वे अपना प्रतिपक्षी अन्य वेदःमूलक एवं वेद-व्याख्यारूप वेदान्त-सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंके प्रतिष्ठापकोंको ही मानते हैं, अवैदिकोंको नहीं। इसीलिए वे प्रतिपक्षके खंडनका सर्वोत्कृष्ट प्रकार उसके अवैदिकत्वको सिद्ध कर देना ही मानते हैं। अतएव उनकी दृष्टिमें शाङ्कर-अद्वैतको वेदवादच्छद्म-प्रच्छन्न-बौद्ध मत सिद्ध कर देना ही उसकी अग्राह्यताका प्रमुख आपादक

---

१. अर्थं तस्य विवेचितुं न हि विभुर्वैश्वानराद्वाक्पते-
रन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्रीपतिः।
दत्त्वाऽऽज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोऽहं मुदा
गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्याख्यस्य विष्णोः प्रियम्॥ (सुबो० १.१.१ श्लोक५)।
अतोऽग्निना मया सर्वतः सदुद्धारार्थं यथाश्रुतानि श्रुतिसूत्राणि योजयता सर्वो मोहो निराकृतो वेदितव्यः। (अ० २.२.२६)। द्र०, अ० २.२.२६;

और अपने सिद्धान्तकी श्रुति-मूलकता एवं प्रमाणानुसारिता सिद्ध कर देना ही उसकी स्वीकरणीयताका हेतु है।

* ८.४.७ * इसी निकषको स्वीकारकर श्रीवल्लभाचार्यने शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद-को सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त मानते हुए उसकी अपेक्षा पूर्वमीमांसा-सिद्ध आधिदैविकवाद, श्रीमध्वाचार्यद्वारा प्रतिपादित भेदवाद एवं श्रीशङ्कराचार्यद्वारा प्रतिष्ठापित मायावाद को उत्तरोत्तर अपकृष्ट विचार-प्रकार कहा है[1]। ब्रह्मको अचिन्त्यानन्त-शक्ति-सम्पन्न एवं विरुद्धधर्माश्रय माननेके कारण शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादमें सभी श्रुतिवाक्योंकी उपपत्ति हो जाती है और किसी वेद-वाक्यका विरोध नहीं होता। विशिष्टाद्वैतवादीके मतमें ब्रह्मके सर्वरूप होनेका प्रतिपादन करनेवाले श्रुतिवाक्योंका समन्वय नहीं हो पाता अतः वह शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादसे किञ्चिदपकृष्ट है। भेदवादीके मतमें अद्वैत, समवायित्व और कारणताप्रकारके बोधक श्रुतिवाक्यों तथा प्रपञ्चविशेषके मायिकत्वके बोधक वाक्यों का भी समन्वय नहीं हो पाता है, अतः वह शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादसे विशिष्टा-द्वैतवादकी अपेक्षा कुछ अधिक अपकृष्ट है। मायावादीका मत अनेक-श्रुति-विरोधी होनेके कारण अत्यन्त अपकृष्ट है। इस मतमें 'सर्व' के ब्रह्मात्मकत्वके बोधक, प्रपञ्च-सत्यत्व-बोधक, कारणता-प्रकार-बोधक एवं ब्रह्म-कारणता-प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों और उनके उपबृंहक वेदान्तसूत्रों का तथा अन्य अनेक श्रुतियोंका भी विरोध होता है, अतः यह अत्यन्त अपकृष्ट होनेसे त्याज्य है[2]। विद्वन्मण्डनकारकी दृष्टिमें उनके ब्रह्मवादके अन्य वेदान्त-व्याख्याकारोंके मतोंसे साम्य एवं वैषम्य या सामीप्य और दूरत्व का नियामक श्रुत्यनुसारिता ही है। अतः उन मतोंकी दृष्टिसे उनके मतकी समीक्षा करना अन्ततः केवल उन मतोंसे उनके साम्य एवं वैषम्य के प्रदर्शनमें ही पर्यवसित होनेके कारण अकिञ्चित्कर होगा और तर्कवादी दर्शनोंकी दृष्टिसे उनके दर्शनकी समीक्षाकी अप्रासङ्गिकताका उल्लेख भी हम कर ही चुके हैं।

* ८.५.० * मायावादके निषेध एवं ब्रह्मवादकी प्रतिष्ठा के द्विविध प्रयोजन-को दृष्टिमें रखकर लिखे गये विद्वन्मण्डनका प्रमुख अवदान किसी नवीन सिद्धान्त-की उद्भावनामें नहीं प्रत्युत ब्रह्मवादके कुछ प्रमुख प्रतिपाद्योंपर भार देनेमें है। इस दृष्टिसे ब्रह्मके अचिन्त्यानन्त-शक्ति-सम्पन्न एवं सर्वसमर्थ होनेसे विरुद्ध-धर्माश्रय होनेपर बल देना और इस श्रुतिमूलक विरुद्धधर्माश्रयत्वकी सहायतासे सारे विरोधों-का उपशम कर देना, इस ग्रन्थकी सर्वप्रमुख दार्शनिक उपलब्धि मानी जा सकती है।

---

१. ब्रह्मवादाद् आधिदैविकवादः पूर्वमीमांसा-सिद्धः किञ्चिदपकृष्टः। ततोऽपि भेदवादः आध्यात्मिकरूपः। ततोऽपि मायावाद इति बोधने उत्तरोत्तरमपकृष्ट-प्रकाराः। (सुबो० १०.४६.४३)। द्र०, सुबो० प्र० १०.४६.४३ पृ० ९९,

२. द्र०, वादावलिः, पृ० ६८-६९.

इसी प्रकार चिन्तनके क्षेत्रमें फलात्मिका भगवत्सेवाकी प्रतिष्ठा और नित्यलीलावाद-की स्थापना इसका महत्त्वपूर्ण अवदान है।

* ८.५.१ * यहाँ विद्वन्मण्डनके सर्वप्रमुख सिद्धान्त विरुद्धधर्माश्रयतावाद-के सम्बन्धमें एक स्पष्टीकरण देकर हम इस विवेचनको समाप्त करना चाहेंगे। ब्रह्म-के विरुद्धधर्माश्रय होनेका यह मत श्रुति-स्मृति-परम्परा-प्राप्त है यह तो हम प्रति-पादित कर ही चुके हैं। इसका सामान्य अर्थ यही है कि श्रुतिमें जो गुण ब्रह्ममें बताये गये हैं वे यदि लोकमें परस्पर-विरोधी माने या समझे जाते हैं अथवा प्रतीत होते हैं तो भी शब्दबलसे ब्रह्मको उन सभी गुणोंका आश्रय मानना चाहिए। हमें परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म केवल हमारी दृष्टिसे ही परस्पर-विरोधी हैं, वस्तुत: नहीं, अत: वे ब्रह्ममें एक साथ पाये जाते हैं। शुद्धाद्वैतमें जब ब्रह्मके अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं तो सभी धर्मोंको उसी आश्रयमें होना ही चाहिए। अखण्डैकरस सर्वात्मक ब्रह्मके कुछ अंशोंके ही आविर्भूत होने एवं अन्य अंशोंके तिरोहित रहनेके कारण उसके धर्मोंमें परस्पर-विरोधकी प्रतीति होती है, यह कह कर आविर्भाव-तिरोभाव-वादकी सहायतासे विरुद्धधर्माश्रयतावादकी व्याख्या की जाती है। 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' (ब्र० २.१.३७) इस ब्रह्मसूत्रके अपने भाष्यमें श्रीमध्वा-चार्यने कहा है कि ब्रह्ममें श्रुत एवं अश्रुत सभी गुण हैं[1]।

* ८.५.२ * यहाँ एक आशङ्का यह प्रकट की जाती है कि यदि ब्रह्म सभी धर्मोंका—यहाँ तक कि सभी विरुद्ध धर्मोंका भी—आश्रय है तब तो उसके स्वरूप-के सम्बन्धमें आगे कुछ विचार करनेको रह ही नहीं जाता है, क्योंकि तब तो उसमें किसी भी धर्मका—जीव, जगत् आदि किसीके भी धर्मका—निषेध करनेकी अपेक्षा ही न होगी और ऐसी स्थितिमें, 'इस तिश्रुवाक्यमें निरूपित धर्म ब्रह्मके धर्म हैं जीव-के धर्म नहीं अत: इस श्रुतिका प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है' इत्यादिरूप सारा ब्रह्मविचार एवं तदर्थ-निरूपक वेदान्तसूत्रादिरूप शास्त्र अनवसर-पराहत हो जायेगा। और विद्वन्मण्डनकारने अपने सर्वोत्तमस्तोत्रके प्रारम्भमें,

'प्राकृत-धर्मानाश्रयमप्राकृतनिखिलधर्मरूपमिति।
निगम-प्रतिपाद्यं यत् तच्छुद्धं साकृति स्तौमि ॥'

कह कर तथा गोस्वामी श्रीव्रजरायने अपने 'ब्रह्मवाद' के प्रारम्भमें,

विशेषैः प्राकृतैः शून्यमप्राकृत-विशेषवत्। अशेषोपनिषद्वेद्यं परं ब्रह्म वयं स्तुमः॥

---

१. 'गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे सन्त्यश्रुता अपि नैवात्र शङ्का।
चिन्त्या अचिन्त्याश्च तथैव दोषाः श्रुताश्च नाज्ञैर्हि तथा प्रतीताः॥'
इति सर्वगुणोपपत्तिश्रुतेश्च। (ब्र० मा० २.१.३८ पृ० ७१)।

कह कर शुद्धब्रह्मको नमस्कार किया है। किन्तु ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय मानने वालेको तो उसे प्राकृत धर्मोंका आश्रय एवं अनाश्रय दोनों तथा इसी प्रकार प्राकृत एवं अप्राकृत उभयविध धर्मोंका आश्रय कहना चाहिए क्योंकि ब्रह्म किन-किन विरुद्ध-धर्मोंका आश्रय है इसका नियामक निश्चित न होनेपर तो उसे सभी विरोधी धर्मोंका आश्रय मानना ही उचित है।

इस आशङ्काका समाधान श्रीवल्लभाचार्यकी इस उक्तिसे हो जाता है कि शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद श्रुतिमूलक दर्शन है और इसलिए यह स्वीकार करता है कि जिन धर्मोंके ब्रह्ममें होनेकी बात श्रुतिमें कही गयी है उन धर्मोंका—भले ही वे परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होते हों—ब्रह्ममें होना श्रुतिबलसे स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि अचिन्त्यानन्तशक्तिसम्पन्न सर्व-समर्थ ब्रह्मका उन श्रत्युक्त परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका आश्रय होना उपपन्न है[1]। विद्वन्मण्डनकारका भी इस विषयमें यही उत्तर होगा। अविरोधकी उपपत्तिका विवेचन हम ब्रह्मविचारके सन्दर्भमें कर चुके हैं।

* ८.६.० * उपर्युक्त विवेचनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि विद्वन्मण्डनकार परम्परा-प्राप्त शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके व्याख्याता एवं प्रतिष्ठापक हैं किसी स्वोत्प्रेक्षित-तर्काश्रित नवीन दर्शनके उद्भावक नहीं और उनके भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक चिन्तनको अवदानको भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखना उचित होगा। हमारी समझसे विद्वन्मण्डनकारको यह स्वीकार करनेमें आपत्ति न होगी कि उनके और उनके ग्रन्थ विद्वन्मण्डनके विषयमें नैयायिक-मूर्धन्य जयन्तभट्टकी अधोलिखित उक्ति पूर्णतः चरितार्थ होती है और विद्वन्मण्डन-विषयक अपनी इस कृतिको तो हम जयन्तभट्टके इस श्लोक द्वारा किये गये निवेदनसे ही समाप्त करना समीचीन समझते हैं कि,

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचो-विन्यास-वैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्॥

---

१. वेदोक्ताः धर्माः सर्वे ब्रह्मणि उपपद्यन्ते, सर्वसमर्थत्वाद् इति। (अ० २.१.३७)।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्धमें प्रयुक्त मुद्रित ग्रन्थों की संक्षिप्त सूची

(क) विद्वन्मण्डनकार गो० श्रीविट्ठलनाथसे पहलेके ग्रन्थ ।

ऋग्वेद-संहिता : सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, सूरत ।

यजुर्वेद-संहिता : ,, ,, ,,

तैत्तिरीय-संहिता : ,, ,, ,,

सामवेद-संहिता : ,, ,, ,,

अथर्ववेद-संहिता : ,, ,, ,,

ऋग्वेद-सायण-भाष्यम् (भाग-चतुष्टयात्मकम्) : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफ़िस, वाराणसी, १९६६ ई०.

ऐतरेय-ब्राह्मणम् (षड्गुरुशिष्य-कृत-सुखप्रदा-वृत्ति-सहितम्) : सम्पादक : आर्. अनन्तकृष्ण शास्त्री, पी. के. नारायण पिल्लै एवं एस्. के. पिल्लै, त्रिवेन्द्रम्, १९४२, १९५२, १९५५ ई०.

छान्दोग्य-ब्राह्मणम् : सम्पादक : दुर्गामोहन भट्टाचार्य; कलिकाता संस्कृत महा-विद्यालय, कलकत्ता, १९५८ ई०.

शतपथ-ब्राह्मणम् : सम्पादक : अल्बर्ट वेबर, चौ० सं० सी० आ०, वाराणसी, (पुनर्मुद्रण) १९६४ ई०.

तैत्तिरीय-ब्राह्मणम् (भागद्वयात्मकम्) : संशोधक : नारायण शास्त्री गोडबोले; आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना (द्वितीय-संस्करण), १९३४-१९३८ ई०.

ऐतरेयारण्यकम् : संशोधक : बाबा शास्त्री फड़के; आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १८९८ ई०.

तैत्तिरीयारण्यकम् (भागद्वयात्मकम्) : ,, ,, ,,

उपनिषत्सङ्ग्रहः (भागद्वयात्मकः) : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७० ई०.

ईश आदि दश उपनिषद् (शाङ्कर-भाष्य-सहित) : हिन्दी-अनुवाद-सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

अष्टाविंशत्युपनिषदः : स्वामी द्वारिकादासशास्त्री-सम्पादित; वाराणसी १९६५ ई.

माण्डूक्योपनिषद् (गौडपादीय-कारिका तथा शाङ्करभाष्य सहित) : हिन्दी-अनुवाद-सहित; गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१३ वि० सं०.

श्वेताश्वतरोपनिषद् (शाङ्करभाष्य-सहित) : हिन्दी-अनुवाद-सहित; गीता प्रेस, गोरखपुर, २००९ वि० सं०.

श्रीमन्महाभारतम् : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१३-२०१५ वि० सं०.

श्रीमद्भगवद्गीता (एकादश-टीकोपेता) : गुजराती न्यूज् प्रेस्, बम्बई, १९३५-१९३८ ई०.

श्रीविष्णुसहस्रनाम (शाङ्करभाष्य-सहित) : श्रीभोलेबाबाकृत हिन्दी-अनुवाद-सहित; गीता प्रेस, गोरखपुर, २०२३ वि० सं०.

कूर्मपुराणम् : सम्पादक : रामशङ्कर भट्टाचार्य, इंडोलॉजिकल् बुक् हाउस, वाराणसी, १९६७ ई०.

गरुड-पुराणम् : सम्पादक : पं० रामतेज पाण्डेय; पण्डित-पुस्तकालय, काशी, १९६३ ई०.

पद्म-पुराणम् (भागचतुष्टयात्मकम्) : आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १८९१ ई०.

ब्रह्मवैवर्त-पुराणम् (भागद्वयात्मकम्) : ,, ,, १९३५ ई०.

मत्स्य-पुराणम् : प्रकाशक : नन्दलाल मोर; कलकत्ता, १९५४ ई०.

वराह-पुराणम् : सम्पादक : हृषीकेश शास्त्री; बङ्गाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८९३ ई०.

श्रीमद्भागवतमहापुराणम् : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१८ वि० सं०.

श्रीमद्भागवतम् (विविध-व्याख्या-युतम्) : सम्पादक : नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, वृन्दावन।

श्रीमद्भागवत-महापुराणम् : सम्पादक : श्रीकृष्णशङ्कर शास्त्री; नडियाद, १९६५ ई०.

श्रीविष्णु-पुराण : हिन्दी-अनुवाद-सहित; गीता प्रेस, गोरखपुर, (द्वादश संस्करण) २०१७ वि० सं०.

श्रीदुर्गासप्तशती : सम्पादक एवं अनुवादक पं० रामनारायणदत्त शास्त्री, गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०३९.

नारदपञ्चरात्रम् : सम्पादक : रेवरेन्ड के० एम्० बैनर्जी, बिशप्स् कालेज् प्रेस, कलकत्ता, १८६५ ई०.

लक्ष्मीतन्त्रम् : सम्पादक : पं० वी० कृष्णमाचार्य; अडयार, मद्रास: १९५९ ई०.

शाण्डिल्य भक्ति-सूत्रम् (स्वप्नेश्वरकृत-भाष्य-युतम्) : सम्पादक : डॉ० कृष्णमणि त्रिपाठी; भारत-मनीषा, वाराणसी, २०३० वि० सं०.

मनुस्मृतिः (मन्वर्थमुक्तावलीसहिता) : सम्पादक : पं० गोपालशास्त्री नेने, चौ० सं० सी० आफिस, वाराणसी, १९७० ई०.

ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर-भाष्यम् (परिमलोपबृंहित-कल्पतरुयुत-भामतीसहितम्) : संपादकः पं० अनन्तकृष्ण शास्त्री; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, (द्वितीय संस्करण) १९३८ ई०

विवेक-चूडामणिः (श्रीशङ्कराचार्यकृतः) : श्रीमुनिलालकृत-हिन्दी-अनुवाद-सहित; गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१८ वि० सं०.

श्रीभगवद्रामानुजग्रन्थमाला : सम्पादक : श्रीसम्पत्कुमाराचार्य; काञ्चीपुरम्, १९५६ ई०.

सर्वमूलग्रन्थाः (श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादकृताः; सम्पुटपञ्चात्मकाः) : अखिल-भारत-माध्व-महामण्डलम्, बेङ्गलूर, १९६९–१९७४ ई०.

खण्डन-खण्ड-खाद्यम् (श्रीहर्षप्रणीतम्) : अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी, २०१८ वि० सं०.

अधिकरण-सारावली शतदूषणी च (श्रीमद्वेदान्तदेशिक-कृता) सम्पादक : श्रीअण्णङ्गराचार्यः; मद्रास, १९४० ई०.

न्यासविंशतिः (श्रीवेदान्तदेशिक-कृता) : श्रीनीलमेघाचार्य-कृत-हिन्दी-व्याख्या-सहित अजमेर, १९५७ ई०.

अमरकोशः (रामाश्रमी-सहितः) सम्पादक : पं० हरगोविन्द शास्त्री; चौ० सं० सी० आ०, वाराणसी, १९७० ई०.

मेदिनीकोशः : सम्पादक : पं० जगन्नाथ शास्त्री होशिङ्ग; चौ० सं० सी० आ०, वाराणसी, १९६८ ई०.

सर्वदर्शन-सङ्ग्रहः (सायण-माधवाचार्य-प्रणीतः) : वासुदेव अभ्यङ्करकृतदर्शनाङ्कुर-सहितः; पूना, १९२४ ई०.

श्रीशङ्कर-दिग्विजय (माधवाचार्य-विरचित) : पं० बलदेव उपाध्याय-कृत हिन्दी अनुवाद सहित; हरद्वार, २०२४ वि० सं०.

जैमिनीयन्यायमाला-विस्तरः (सायण-माधवाचार्य-प्रणीतः) : आनन्दाश्रम, १९१६ ई०.

न्यायसुधा (राणाकापरपर्याया तन्त्रवार्तिकस्य भट्टसोमेश्वर-विरचिता टीका) : चौखम्बा, वाराणसी।

वेदान्तसारः (विद्वन्मनोरञ्जनी-समन्वितः) : सम्पादक : पं० बदरीनाथ शुक्ल; मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९७९ ई०.

सिद्धान्तकौमुदी (श्रीभट्टोजि-दीक्षित-कृता) : सम्पादक: पं० शिवदत्त शर्मा दाधिमथ क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, २०१५ वि० सं०

अद्वैत-सिद्धिः (श्रीमधुसूदन-सरस्वती-विरचिता) : पं० अनन्तकृष्ण-शास्त्रि-सम्पादित; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३७ ई०.

सिद्धान्त-बिन्दुः (श्रीमधुसूदन-सरस्वती-विरचितः) : प्राच्य-विद्या-संशोधन-मन्दिर, पूना, १९२८ ई०.

प्रेमामृतम् (श्रीविट्ठलनाथकृतव्याख्यासहितम्) : सम्पादक : श्रीमूलचन्द तेलीवाला तथा श्रीधैर्यलाल सांकलीया; बम्बई, १९७५ वि० सं०.

षट्सन्दर्भः (श्रीजीवगोस्वामिकृतः, भागद्वयात्मकः) : श्रीपुरीदास-सम्पादितः; (बंगलालिपिमयः) वृन्दावन, १९५१ ई०.

श्रीवल्लभाचार्यकृत ग्रन्थ :

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : शास्त्रार्थ-प्रकरण (सप्रकाश) :
आवरणभङ्ग तथा व्रजभाषा-व्याख्या-सहित; बम्बई, १९६१ वि० सं०.
टिप्पणी, आवरणभङ्ग, योजना, सत्स्नेहभाजनसहित; बम्बई, १९९९ वि० सं०.

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : सर्वनिर्णय-प्रकरण (सप्रकाश) :
आवरणभङ्ग तथा व्रजभाषा-व्याख्या-सहित; बम्बई, १९६४ वि० सं०.
टिप्पणी, आवरणभङ्ग आदि सहित; बम्बई, १९४३ ई०.

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : भागवतार्थ-प्रकरण (सप्रकाश) :
आवरणभङ्ग-योजनादिसहित (दो खण्डोंमें); सूरत, १९९१ वि० सं०.

श्रीमद्णुभाष्यम् (गो० श्रीविट्ठलनाथ-सम्पूरितम्) :
एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८९७ ई०.
प्रकाश-सहित (पन्द्रह गुच्छोंमें); वाराणसी, १९०५-११०७ ई०.
त्रिसूत्रीपरिमित भाग (पञ्चटीकासमन्वित); बम्बई, १९७८ वि० सं०.
बालबोधिनीसहित (दो खण्डोंमें); पूना, १९२१ तथा १९२६ ई०.
प्रदीप-सहित (तीन स्तबकोंमें); बम्बई, १९८०-१९८५ वि० सं०.
प्रकाश एवं रश्मि सहित; बम्बई, १९८२-१९९८ वि० सं०.
विवरण-सहित (तीन खण्डोंमें); बम्बई एवं श्रीनाथद्वार, १९४२-१९६२ ई०.

पूर्वमीमांसा-भाष्यम् : पुष्टि-भक्ति सुधा, वर्ष ७ अङ्क २ में मुद्रित ।

पूर्वमीमांसाकारिकाः : पुष्टि-भक्ति सुधा, वर्ष ५ अङ्क २ में मुद्रित ।

पत्रावलम्बनम् : गो० श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरण, गो० श्रीगिरिधरकृत तत्त्वविवेक तथा गो० श्रीहरिरायकृत (अपूर्ण) विवरण सहित; बम्बई, १९६० ई०.

श्रीमधुराष्टकम् : (गो० श्रीविट्ठलनाथकृतविवृतिसहितम्) : गो० श्रीबालकृष्ण, श्रीवल्लभ एवं गो० श्रीरघुनाथकृत मधुराष्टकविवरणों, गो० श्रीहरिरायकृत मधुराष्टकतात्पर्य तथा गो० श्रीघनश्यामकृत मधुराष्टकविवृतिटिप्पणी सहित; बम्बई, १९७५ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) २०३६ वि० सं०.

श्रीपरिवृढाष्टकम् : योगी श्रीगोपेश्वरकृतविवृतिसमेतम्, बम्बई, १९७५ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) २०३६ वि० सं०.

श्रीमद्गायत्री-भाष्यम् : (गो० श्रीविट्ठलनाथकृत श्रीगायत्रीव्याख्यासहितम्) गो० श्रीविट्ठलनाथकृत-गायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिकादिसहित, बम्बई, १९७४ वि० सं०, (चतुर्थ आवृत्ति) २०१७ वि० सं०.

श्रीनन्दकुमाराष्टकम् : बृहत्स्तोत्र-सरित्सागर में मुद्रित, १९८३ वि० सं०.

श्रीगिरिराजधार्यष्टकम् : बृहत्स्तोत्र-सरित्सागरमें मुद्रित, बम्बई, १९८३ वि० सं०.

श्रीकृष्णाष्टकम् : बृहत्स्तोत्र-सरित्सागर में मुद्रित, बम्बई, १९८३ वि० सं०.

षोडशग्रन्थाः :

श्रीयमुनाष्टकम् (गो० श्रीविट्ठलनाथकृत-विवृति-सहितम्) :
गो० श्रीहरिरायकृतटिप्पणीसहितम्, बम्बई, १९७२ वि० सं०.
गो० श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसहितम् बम्बई, १९७३ वि० सं०.
टीकात्रयसमन्वितम्, सूरत १९८५ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) श्रीनाथद्वारा २०३७ वि० सं०.

बालबोधः :
गो० श्रीपुरुषोत्तमकृत-विवृति-सहितः, बम्बई, १९१७ ई०.
टीकात्रययुतः, सूरत १९८३ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) जतीपुरा, २०३६ वि० सं०.

सिद्धान्त-मुक्तावली (गो० श्रीविट्ठलनाथकृत-विवृति-सहिता) :
टीकात्रय-व्रजभाषानुवादयुता, श्रीनाथद्वार, १९४२ वि० सं०
टीकाष्टकसहिता, बम्बई, १९७९ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) कोल्हापुर, २०३६ वि० सं०

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः (अपूर्णः) : गो० श्रीपीताम्बरकृतविवरणसहित, बम्बई, १९७४ वि० सं०.

पुष्टिप्रवाहमर्यादा : टीकाचतुष्टयोपेता, बम्बई, १९८१ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) बड़ोदा, २०३६ वि० सं०.

सिद्धान्तरहस्यम् : एकादशटीकोपेतम्, बम्बई, १९७० वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) गोकुल, २०३६ वि० सं०.

नवरत्नम् : गो० श्रीविट्ठलनाथकृत-प्रकाश-सहितम् : टीकाचतुष्टयोपेतम्, बम्बई, १९८१ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) कामां, २०३६ वि० सं०.

अन्तःकरणप्रबोधः (पञ्चटीकोपेतः) बम्बई, १९८१ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) बड़ोदा २०३६ वि० सं०.

विवेकधैर्याश्रयः :

टीकाचतुष्टयोपेतः, सूरत, १९८३ वि० सं०,(पुनर्मुद्रण) बम्बई, २०३६ वि०सं०.
विवेकधैर्याश्रयनिरूपण (हिन्दी-अनुवाद-सहित), जामनगर, १९८८ वि० सं०.

कृष्णाश्रय-स्तोत्रम् (षड्भिः व्याख्याभिः संवलितम्) : बम्बई, १९८३ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) सूरत, २०३६ वि० सं०.

चतुःश्लोकी (सप्तभिष्टीकाभिः समलङ्कृता) : बम्बई, १९७९ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) बम्बई, २०३६ वि० सं०.

भक्तिवर्द्धिनी (चतुर्दशटीकाभिः समलङ्कृता) : बम्बई, १९७७ वि० सं०,(पुनर्मुद्रण) बम्बई, २०३६ वि० सं०.

जलभेदः (टीकाचतुष्टय-परिशिष्टद्वय-युतः) : बम्बई, १९७६ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) बम्बई, २०३७ वि० सं०.

पञ्चपद्यानि (टीकाद्वयसमेतानि) : बम्बई, १९७६ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) बम्बई, २०३७ वि० सं०.

संन्यास-निर्णयः (अष्टविवरणसमेतः) : बम्बई, १९७४ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) मांडवी, २०३७ वि० सं०.

सेवाफलम् : (स्वोपज्ञ-विवृति-सहितम्) : एकादशटीकोपेतम्, बम्बई, १९७३ वि० सं०, चतुर्दशटीकोपेतं, पोरबन्दर, २०३७ वि० सं०.

शिक्षासार्धत्रयश्लोकी : गो० श्रीद्वारकेशकृतटीकोपेता, १९७८ वि०सं०, (पुनर्मुद्रण) बम्बई, २०३७ वि० सं०.

निरोधलक्षणम् : टीकाषट्क-परिशिष्ट-त्रयोपेतम्, बम्बई, १९७३ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) बम्बई, २०३७ वि० सं०.

पुरुषोत्तमनामसहस्रम् : गो० श्रीरघुनाथकृत-नामचन्द्रिकाटीकोपेतम्, बम्बई, १९७४ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) सूरत, २०३६ वि० सं०.

त्रिविधलीला-नामावली : विवृतिसंवलिता, बम्बई, १९७७ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) बम्बई, २०३७ वि० सं०.

श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकी-विवृतिः (गो० श्रीविट्ठलनाथप्रपूरिता) गो० श्रीहरिरायकृत-टिप्पणी, गो० श्रीपुरुषोत्तमकृत-विवृतिप्रकाश तथा गो० श्रीवल्लभकृतटिप्पणी आदि सहित, बम्बई, १९७८ वि० सं०, (पुनर्मुद्रण) बम्बई, २०३६ वि० सं०.

दशमस्कन्धार्थानुक्रमणिका : बृ० स० में मुद्रित, बम्बई, १९८३ वि० सं०.

श्रीमद्भागवत-सूक्ष्मटीका : पुष्टि-भक्ति-सुधा, वर्ष ८ अङ्क १–३ में मुद्रित (वेदस्तुति-सूक्ष्म-टीका स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र मुद्रित)।

एकादशस्कन्धार्थ-निरूपण-कारिकाः : बृ०स० में मुद्रित, बम्बई, १९८३ वि०सं०.

श्रीमद्भागवत-सुबोधिनी (श्रीवल्लभाचार्यकृता) :

प्रथम-स्कन्धः	बम्बई, १९७१ वि० सं०.
द्वितीय-स्कन्धः	" १९७६ "
तृतीय-स्कन्धः	श्रीनाथद्वार, १९८४ वि० सं०.
दशमस्कन्धसुबोधिनी	बम्बई,
जन्म-प्रकरण (अध्याय १–२)	बम्बई, १९८३ वि० सं०.
जन्म-प्रकरण (अध्याय ३–४)	" १९८५ "
तामस-प्रमाण-प्रकरण तथा प्रक्षिप्ताध्याय-त्रय	" १९८४ "
तामस-प्रमेय-प्रकरणम्	" १९८७ "
तामस-साधन-प्रकरणम्	" १९८८ "
तामस-फल-प्रकरणम्	" १९८० "
राजस-प्रमाण-प्रकरणम्	" १९९५ "
राजस-प्रमेय-प्रकरणम्	" १९८५ "
राजस-साधन-प्रकरणम्	" १९७९ "
राजस-फल-प्रकरणम्	" १९८१ "
सात्त्विक-प्रमेय-प्रकरणम्	" १९८२ "
सात्त्विक-साधन-प्रकरणम्	" १९८६ "
सात्त्विक-फल-प्रकरणम्	" १९८७ "
गुण-प्रकरणम्	" १९८१ "
एकादश-स्कन्ध-सुबोधिनी (यावदुपलब्धा)	" १९९० "

साधनदीपिका (श्रीगोपीनाथ-कृता) : "पुष्टि-भक्तिसुधा" मासिक, वर्ष ६ अङ्क ५–६ में मुद्रित।

(ख) विद्वन्मण्डनकार गो० श्रीविट्ठलनाथके ग्रन्थ

अणुभाष्यम् (अणुभाष्य-पूर्तिः) : पूर्वोल्लिखित विभिन्न संस्करण ।

विद्वन्मण्डनम् (सुवर्णसूत्र-व्याख्या-सहितम्) : (सम्पा०) पं० रत्नगोपाल-भट्ट, बनारस, १९०८ ई०

विद्वन्मण्डनम् (प्रस्तावना-भागः) : सम्पादकः श्रीजगन्नाथ कृष्णलाल शास्त्री, कामवन, १९२६ ई०.

विद्वन्मण्डनम् (चतुर्विवृति-समेतम्) : " " "

विद्वन्मण्डनम् (द्वितीयो भागः) : " " "

भक्तिहंसः : गो० श्रीरघुनाथकृत भक्तितरङ्गिणी तथा गो० श्रीपुरुषोत्तमकृत भक्तितरङ्गिणी-तीर्थं एवं भक्तिहंस-विवेक व्याख्याओं सहित, बम्बई, १९१५ ई०.

भक्तिहेतु-निर्णयः : गो० श्रीरघुनाथकृत-विवृतिसहित, बम्बई, १९६० ई०.

शृङ्गार-रस-मण्डनम् : समश्लोकी गुर्जरभाषानुवादसहित, बम्बई, १९७५ वि०सं०.

जन्माष्टमी-निर्णयः : 'उत्सव-निर्णय-ग्रन्थ-समुच्चय' में मुद्रित ।

श्रीरामनवमी-निर्णयः : बम्बई, १९९४ वि० सं०.

श्रीमती टिप्पणी : बम्बई, (द्वितीय संस्करण) २००७ वि० सं०.

गीता-तात्पर्य : हिन्दी-अनुवाद-सहित, बम्बई, १९३४ ई०.

प्रेमामृत-विवरणम् : बम्बई, १९७५ वि० सं०.

न्यासादेश-विवरणम् : (सम्पा०) पं० रमानाथ शास्त्री, बम्बई, १९१६ ई०.

गीतार्थ-विवरणम् (?) : (सम्पा०) श्रीमन्नलाल शास्त्री, 'गीता-तत्त्वदीपिका' के साथ मुद्रित ।

भक्तिजीवनम् : पुष्टि-भक्ति-सुधा, वर्ष ३ अङ्क १२ में मुद्रित ।

भक्ति-तारतम्य-निर्णयः : पुष्टि-भक्ति-सुधा, वर्ष ३ अङ्क १२ में मुद्रित ।

पुरुषोत्तम-प्रतिष्ठा-प्रकारः : पुष्टि-भक्ति-सुधा, वर्ष ५ अङ्क ८-९ में मुद्रित ।

अष्टाक्षर-निरूपणम् : बृ० स० में मुद्रित, बम्बई १९८३ वि० सं०.

सेवा-श्लोकाः : पुष्टि-भक्ति-सुधा, वर्ष ५ अङ्क १२ में मुद्रित ।

विज्ञप्ति-स्तोत्र : बृ० स० में मुद्रित, बम्बई, १९८३ वि० सं०.

नव-विज्ञप्ति-स्तोत्र : श्रीरघुनाथकृत हिन्दी अनुवाद-सहित, कलकत्ता, १९७९ ई०.

श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् : बृ० स० में मुद्रित, बम्बई, १९८३ वि० सं०.

निकुञ्ज-विलासः : "शुद्धाद्वैत अने भक्तिमार्तण्ड" मासिक पत्र के वर्ष ४ अङ्क २ एवं ४, पृष्ठ ४९-५०, १२१-१२२ पर मुद्रित ।

भुजङ्ग-प्रयाताष्टकम् : बृहत्स्तोत्र-सरित्सागर में मुद्रित, बम्बई, १९८३ वि० सं०.
ललित-त्रिभङ्ग-स्तोत्रम् : " " "
श्रीसर्वोत्तम-स्तोत्रम् (विवृतिद्वयसहितम्) : श्रीनाथद्वार, १९८० वि० सं०.
श्रीवल्लभाष्टकम् (विवरणचतुष्टय-युतम्) : नडियाद-संस्करण ।

(ग) विद्वन्मण्डनकार गो० श्रीविट्ठलनाथके बादके ग्रन्थ

श्रीनामरत्न-स्तोत्रम् (गोस्वामिश्रीरघुनाथकृतम्) : गो० श्रीदेवकीनन्दनकृत-विवरण-सहित, बम्बई, १९७९ वि० सं०.
सेवा-कौमुदी : श्रीबालकृष्णभट्टकृता : हिन्दी-अनुवाद-सहित, बम्बई, १९७५ वि० सं०.
निर्णयार्णवः : श्रीबालकृष्णभट्टकृतः, बम्बई, १९१७ ई०.
भावप्रकाशिका : गो० श्रीकृष्णचन्द्रकृता ब्रह्मसूत्रवृत्तिः, बम्बई, १९७९-१९८२ वि० सं०.
सगौडपादकारिका माण्डूक्योपनिषद्दीपिका : गो० श्रीपुरुषोत्तमकृता, बम्बई, १९८० वि० सं०.
नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्दीपिका : गो० श्रीपुरुषोत्तमकृता, बम्बई, १९८२ वि० सं०.
प्रस्थानरत्नाकरः (गो० श्रीपुरुषोत्तमकृतः) : बनारस, १९०९ ई० तथा बम्बई, १९४० ई०.
वेदान्ताधिकरणमाला : गो० श्रीपुरुषोत्तमकृता, योगी श्रीगोपेश्वरकृत-चतुर्थाध्याया-धिकरणमाला-सहिता, बम्बई, १९७६ वि० सं०.
गीता-तत्त्वदीपिका (गो० श्रीवल्लभकृता) : पं० श्रीमन्नलालशास्त्रि-सम्पादिता, बम्बई ।
भक्तिमार्तण्डः (योगी श्रीगोपेश्वरकृतः) : बनारस, १९६५ वि० सं०.
शास्त्ररीत्या-(सुबोधिनी)-बुभुत्सु-बोधिका (श्रीयोगी-गोपेश्वरकृता) : (सम्पा०) श्रीधैर्यलाल सांकलीया एवं श्रीमङ्गलदास, बम्बई, १९९४ वि० सं०.
शुद्धाद्वैत-मार्तण्डः (गो० श्रीगिरिधरकृतः) :
पं० रामकृष्णभट्टकृत-प्रकाशयुतः, बनारस, १९०६ ई०.
पं० माधवशर्माकृत-हिन्दी-व्याख्या-सहित, काशी, २०१३ वि० सं०.

बालप्रबोधिनी (श्रीगिरिधरकृता श्रीमद्भागवतव्याख्या) : (सम्पा०) श्रीकृष्णशङ्कर शास्त्री; वाराणसी से प्रकाशित विविधटीका-संवलित श्रीमद्भागवत-महापुराण में मुद्रित।

वादावलिः : पं० रमानाथ-शास्त्रि-सम्पादिता, बम्बई, १९२० ई०.

बृहत्स्तोत्र-सरित्सागरः (गद्य-पद्यात्मकः) : मणिलाल इच्छाराम देसाई, बम्बई, १९८३ वि० सं०.

प्राभञ्जनः (श्रीविट्ठलनाथगोस्वामिकृतः), प्रथमो भागः : श्रीगोवर्द्धनशर्मकृत-मारुत-शक्तिसहितः, गो० श्रीदीक्षित-सम्पादितः, बम्बई, १९६५ ई०.

प्राभञ्जनः (श्रीविट्ठलनाथगोस्वामिकृतः), द्वितीयो भागः (सम्पा०) गोस्वामि-श्रीदीक्षित, बम्बई, १९६७ ई०.

श्रीसत्सिद्धान्त-मार्तण्डः (पं० श्रीगोवर्द्धनशर्मकृतः) बम्बई, १९४२ ई०.

उत्सव-निर्णय-ग्रन्थ-समुच्चयः : श्रीचीमनलाल-शास्त्रिसम्पादितः, श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा, सूरत, २००५ वि० सं०.

विद्वन्मण्डनोपोद्घातः (भट्टश्रीबलभद्रशर्मकृतः) : मथुरा, १९८५ वि० सं०.

सकलाचार्य-मत-संग्रहः (सम्पा०) पं० रत्नगोपाल भट्ट, बनारस, १९०७ ई०.

शिक्षापत्री (शतानन्दमुनिकृतार्थदीपिका-सहिता) : (सम्पा०) एम्बार. कृष्णमाचार्य, वडताल, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९२४ ई०.

सत्सङ्ग-जीवनम् (श्रीशतानन्दमुनिकृतम्) : वडताल, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९३० ई०.

सत्यार्थ-प्रकाश : महर्षि दयानन्द सरस्वती, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, १९६७ ई०.

चौरासी वैष्णवन की वार्ता (तीन जन्म की लीला-भावनावाली) : गो० श्रीहरि-रायकृत, अष्टछाप स्मारक समिति, मथुरा, २०१० वि० सं०.

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (तीन जन्म की लीला-भावनावाली, तीन खण्डों में) : गो० श्रीहरिरायकृत, शुद्धाद्वैत एकेडमी, कांकरोली, २००८-२०१० वि० सं०.

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी : श्रीहरिशङ्करशास्त्री, वाराणसी, १९६५ ई०.

श्रीविट्ठलेश-चरितामृत : श्रीद्वारिकादास परीख, मथुरा, २०११ वि० सं०.

शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय (दो खण्डों में) : श्री पो० कण्ठमणि शास्त्री, कांकरोली, २०२० तथा २०२२ वि० सं०.

श्रीवल्लभाचार्य के दर्शन का यथार्थ स्वरूप : गो० श्रीश्याममनोहर, (सम्पा०) केदारनाथ मिश्र, आनन्द प्रकाशन, वाराणसी, १९७४ ई०.

बौद्ध-दर्शन एवं वेदान्त : डॉ० चन्द्रधर शर्मा, स्टूडेन्ट्स' फ्रेन्ड्स्, बनारस, १९४९ ई०.

वल्लभ-वेदान्त पर एक दृष्टि : डॉ० (कु०) स्नेहलता, श्रीगुरुमन्दिर, दिल्ली ११००२६, १९७९ ई०.

वल्लभ-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : डॉ० श्रीमती राधारानी सुखवाल, ब्यावर, राजस्थान, १९८० ई०.

विद्वन्मण्डन (गुजराती अनुवाद) : अनुवादक श्रीनानुलाल नारायणदास गाँधी, बड़ोदरा, द्वितीय संस्करण, १९६२ ई०.

अणुभाष्य (गुजराती अनुवाद) : अनुवादक श्रीजेठालाल शाह,
भाग १ अध्याय १–२, बम्बई, १९८३ वि० सं० एवं
भाग २ अध्याय ३–४, अहमदाबाद, १९८५ वि० सं०.

ब्रह्मसूत्राणुभाष्यानुवाद (गुजराती भाषा में) :
अध्याय १, अनुवादक श्रीगोविन्दलाल भट्ट, बम्बई, २००१ वि० सं०,
अध्याय २-३, अनुवादक श्रीगोविन्दलाल भट्ट, बड़ोदरा, २०२३ वि० सं०,
अध्याय ४, अनुवादक श्रीनागरदास बाँभणिया, बड़ोदरा, २०३० वि० सं०.

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीना वंशनी वंशावली : श्रीरणछोड़दास पेटलादी तथा श्रीकल्याणजी शास्त्री द्वारा सङ्गृहीत, बम्बई, १९४३ ई०.

(घ) प्रकृत कृतिके लेखकके कुछ एतद्विषयक ग्रन्थ

प्रमेय-रत्नार्णव (श्रीबालकृष्ण-भट्ट-कृत) : सम्पादक एवं अनुवादक केदारनाथ मिश्र, आनन्द प्रकाशन, वाराणसी, १९७१ ई०.

तत्त्वार्थ-दीप-निबन्ध (शास्त्रार्थ-प्रकरण) : सम्पादक एवं स्नेहप्रपूरणी-हिन्दी-व्याख्याकार : केदारनाथ मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७१ ई०.

भक्तिहंस (गो०श्रीविट्ठलनाथ-कृत) : अनुवादक एवं विवेक-व्याख्याकार : केदारनाथ मिश्र, आनन्द प्रकाशन, वाराणसी, १९७५ ई०.

नामवाद: (श्रीबालकृष्ण-भट्ट-कृत) : सम्पादक एवं अनुवादक : केदारनाथ मिश्र, १९७२ ई०.

भक्तिहेतुनिर्णय (गो० श्रीविट्ठलनाथकृत) : अनुवादक एवं व्याख्याकार : केदारनाथ मिश्र, आनन्द-प्रकाशन-संस्थान, वाराणसी, १९७८ ई०.

गोविन्दगीतिः : कविकिङ्करकृतिः, आ० प्र० सं०, वाराणसी, १९८० ई०.

Śuddhādvaita Brahmavāda (The Complete Works of M. T. Telivala) : Ed. Kedar Nath Mishra, Anand Prakashan Sansthan, Varanasi, 1980 A. D.

चतुःश्लोकी (श्रीवल्लभाचार्यकृता) : (सात संस्कृत व्याख्याओं एवं हिन्दी व्याख्या सहित) तथा

वृत्रासुर-चतुःश्लोकी (तीन संस्कृत व्याख्याओं सहित) : सम्पादक, केदारनाथ मिश्र, आ० प्र० सं०, वाराणसी, १९८१ ई०.

श्रीराधा-विज्ञप्ति-स्तोत्राणि (श्रीविट्ठलनाथकृतानि) : (सम्पा०) केदारनाथ मिश्र, आ० प्र० सं०, वाराणसी, १९८३ ई०.

श्रीयमुनाष्टकम् (श्रीवल्लभाचार्यकृतं यावदुपलब्ध-सर्वटीकोपेतम्) : विस्तृत हिन्दी-व्याख्या-सहित, केदारनाथ मिश्र, आ० प्र० सं०, वाराणसी, १९८४ ई०.

अणुभाष्य-समीक्षा (प्रथम भाग) : केदारनाथ मिश्र, आ० प्र० सं०, वाराणसी, १९८६ ई०.

(ङ) कुछ प्राचीन मासिक पत्र

पुष्टिभक्तिसुधा : सम्पादक-प्रकाशक वाडीलाल नगीनादास शाह, बम्बई, वर्ष १ श्रीवल्लभाब्द ४३१ से वर्ष ८ श्रीवल्लभाब्द ४४० तक।

वेणुनाद : सम्पादक श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला, वर्ष १ एवं २, वि० सं० १९७८ एवं १९७९.

वैष्णव-धर्म-पताका : सम्पादक पं० वसन्तराम शास्त्री, बम्बई, वर्ष १ से ११ (वि० सं० १९७३-१९८३) तक।

पुष्टिसुधा : वर्ष २ से ५ (वि० सं० १९७८-१९८२) तक।

शुद्धाद्वैत-भक्तिमार्तण्ड : वर्ष ३, ४, ६, ७, ९ एवं १०.

(च) ENGLISH BOOKS :

A History of Indian Philosophy, Vol. IV. : Dr. S. N. Dasgupta; Oxford University Press, London, 1961.

Esoteric Christianity or The Lesser Mysteries : Annie Besant; The Theosophical Publishing Society, London and Benares, 1905.

History of the Dvaita School of Vedānta and its Literature : Dr. B. N. K. Sharma; Motilal Banarsidass, Delhi, 1981.

Indian Philosophy (2 Vols.) S. Radhakrishnan; George Allen and Unwin Ltd., London, Second Edition.

Introduction to the Pāñcarātra and the Ahirbudhnya Samhitā : Dr. F. Otto Schrader; Adyar, Madras 1916.

Materials for the Study of the Early History of Vaishnava Sect : Hemchandra Raychaudhari; University of Calcutta, 1920.

Society and Culture in Medieval India : M. P. Srivastav; Allahabad, 1975.

Studies in Indian Thought : (Collected Papars of Prof. T. R. V. Murti) : (Ed.) H. G Coward, MLBD, Varanasi, 1983.

The Bhagavadgītā : Translated into English by K. T. Telang; The Sacred Books of the East Series Vol. VIII; The Clarendon Press, 1882; Reprinted by MLBD, Delhi, 1965.

The Cultural Heritage of Iudia, Vol. IV : The Religions. Calcutta, 1956.

The Indian Religious Tradition : Paul Younger; Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1970.

The Philosophy of Vallabhācārya : Dr. (Mrs) M. I. Marfatia; Munshiram Manoharlal, Delhi, 1967.

The Vaiṣṇava Sects of India : Swami Tattwanand; Calcutta.

Vaiṣṇavism, Śaivism and Minor Religious Systems : Sir R. G. Bhandarkar; Varanasi, 1965.

★

डॉ० केदारनाथ मिश्र

मालवीय प्रोफेसर्—तुलनात्मक धर्म

भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन एवं धर्म विभाग

कला सङ्काय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

द्वारा लिखित, अनूदित, व्याख्यात एवं सम्पादित

कुछ अन्य कृतियाँ

१. अणुभाष्य-समीक्षा (पृष्ठ ८+२६२).

२. तत्त्वार्थदीप-निबन्धः (शास्त्रार्थ प्रकरणम्, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित, पृष्ठ २६+३६४.

३. प्रमेयरत्नार्णवः, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित, पृष्ठ ४८+२८०.

४. भक्तिहंसः, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित, पृष्ठ १२+७२.

५. भक्तिहेतुनिर्णयः (सटीकः), हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित, पृष्ठ ११२.

६. चतुःश्लोकी (सप्तटीकोपेता), वृत्रासुर-चतुःश्लोकी (त्रिटीकोपेता) च, पृष्ठ १२२.

७. श्रीयमुनाष्टकम् (यावदुपलब्ध-निखिलटीकोपेत, विविध-यमुनास्तोत्र-पदादियुत), हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित, पृष्ठ २०२.

८. नामवाद एवं श्रीकृष्णोच्चारणवाद, हिन्दी अनुवाद सहित।

९. श्रीगोविन्दगीतिः, श्रीगिरिधारिशर्म-भट्ट-प्रणीता।

१०. श्रीराधा-विज्ञप्ति-स्तोत्राणि, गो० श्रीविट्ठलनाथकृतानि।

११. शुद्धाद्वैत-मार्तण्डः ('प्रकाश'-व्याख्योपेतः, 'शुद्धाद्वैत-परिष्कार'-युतश्च)।

१२. सहस्राक्षः (श्रीसदानन्दगिरिविरचितः शुद्धाद्वैतमार्तण्ड-विद्वन्मण्डन-खण्डनात्मकः निबन्धः)।

१३. सूर्यशतकम् महाकविमयूरभट्टविरचितम्।

१४. गुणशुद्धिप्रदर्शनम् (परिवर्द्धित एवं हिन्दीव्याख्यासनाथित संस्करण)।

१५. शिवराज-विजयः (प्रथम एवं द्वितीय विराम), हिन्दी अनुवाद सहित।

16. Suddhavaita Brahmavāda (The Complete English Works of M. T. Telivala). Pp. XXVIII+264.

17. The Philosoahy of Ancient India by Richard Garbe.

18. Zoroastrian Religion by K. C. Chattopadhyaya (With Prof. R. S. Misra).

19. Religious Language and Other Papers, (With Prof. N. S. S. Raman), Pp. 244.

20. M. T. Telivala. Pp. 24.

सम्प्रति मुद्रणाधीन कृतियाँ

१. विद्वन्मण्डनम् (मूल, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या)।

२. लोकायत-चिन्तन।

३. सांख्य-दर्शन।

४. भक्ति-त्रिवेणी (भक्ति-विषयक तीन मूर्द्धन्य ग्रन्थ) हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित।

५. वैष्णवाचार्य श्रीविष्णुस्वामी एवं उनका दर्शन तथा धर्म।

सम्पर्क-सूत्र

आनन्द प्रकाशन संस्थान

स्नेह सदन, बी० ३१/४१ ए-४
संकटमोचन मन्दिर के दक्षिण
वाराणसी-२२१००५ (भारत)
टेलीफोन नं० ०५४२-३१२२२८